उलटवाँसी-साहित्य

समर्पण

वेदों की उस दिव्य दृष्टि को,
उपनिषदों की सूक्ष्म सृष्टि को,
सिद्धो की नव क्षणत्व वृत्ति को,
नाथों की हठयौगिक प्रवृत्ति को,
सन्तों की निष्काम भक्ति को,
मन की उस संकल्प शक्ति को,
वात्सल्यमयी जननी चरणों को,
जनक हृदय सानिध्य क्षणो को,
नित्यानन्द महिम गुरु शिव को,
अर्पित है यह शोध प्रबन्ध।
उलटवास भी चर्चित होवे,
सन्त भाव की बहे सुगन्ध।

—रमेश

हमारी योजना

'उलटवाँसी-साहित्य' हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद् ग्रन्थमाला का चवालीसवाँ ग्रन्थ है।

हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद् हिन्दी-विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर १९५२ ई० में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं : हिन्दी वाङ्मय विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे जिन में प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी रूपान्तर, विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ, प्रस्तुत किया गया है; दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० उपाधि प्रदान की गई है; तीसरे ऐसे हैं जिनका अनुसन्धान के साथ, उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ, प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अब तक प्रथम वर्ग के अन्तर्गत १८ ग्रन्थों का, दूसरे में छब्बीस और तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'उलटवाँसी-साहित्य द्वितीय वर्ग का सत्ताइसवाँ प्रकाशन है।

प्रतीक की विरोधगर्भित शैली 'उलटवाँसी' कबीर आदि निर्गुणी संतों की बानियों में अभिव्यक्ति का सफल आधार रही है। संत कवियों के लिए अपनी रहस्यात्मक अनुभूति को विरोधात्मक प्रतीक-योजना तथा सांकेतिक शैली के माध्यम से अभिव्यक्त करना उतना ही सहज था, जितना कि भक्त कवियों के लिए अपनी सगुण साधना को उपमा-रूपक आदि के द्वारा। हिन्दी में उलटवाँसी-साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इस साहित्य-राशि के विधिवत् अध्ययन की बड़ी आवश्यकता थी। सन्तोष का विषय है कि डॉ० रमेश चन्द्र मिश्र ने गोरखनाथ से लेकर राधास्वामी मत के प्रवर्तक संत शिवदयाल तक विस्तृत संत-परम्परा द्वारा रचित वाङ्मय का पारायण कर वैदिक वाङ्मय के साथ इसकी शृंखला जोड़ते हुए, उलटवाँसी-साहित्य का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है। मुझे विश्वास है कि संत-साहित्य के अध्येताओं को संत-वाणी का अटपटा मर्म समझने में इस ग्रन्थ से अवश्य सहायता मिलेगी।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

डॉ० नगेन्द्र

अध्यक्ष—हिन्दी-अनुसन्धान परिषद्

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-६

दिनांक

१-१-१९६[illegible]

भूमिका-१

शब्द-प्रयोग का प्रयोजन अर्थ बोध कराना ही है। यदि शब्द किसी अर्थ का सम्प्रेषण नही करता तो उसका व्यवहार व्यर्थ ही समझना चाहिए। पतंजलिने शब्द की प्रयोजनीयता पर विचार करते हुए लिखा है—'अर्थ गत्यर्थः शब्द प्रयोग' अर्थं सम्प्रत्ययिष्यतीति शब्दः प्रयुज्यते।' किन्तु हम देखते है कि जितने शब्दो का प्रयोग होता है वे सभी अर्थ बोध केलिए नही होते, कुछ निरर्थक—निस्प्रयोजन भी होते है। कभी-कभी अपने ज्ञान की सीमा या अल्पज्ञता के कारण भी हमे अर्थ बोध नही होता और हम शब्द को अर्थ हीन मान लेते हैं। अध्यात्म और रहस्य के क्षेत्र मे इस प्रकार के कुछ प्रयोग सभी भाषाओ मे उपलब्ध होते है जिनका गूढ या प्रच्छन्न आशय सर्वजन सुलभ नही होता, फलत उनकी अर्थवत्ता पर सन्देह होना स्वाभाविक है। लोक-व्यवहार ही शब्दार्थ-ज्ञान का मूल साधन है। किन्तु ऐसे शब्दो का लोक-व्यवहार-पक्ष भी रहस्यावृत ही होता है। अत. अर्थबोध के अभाव में वृत्तिज्ञान, शक्तिज्ञान या शक्तिग्रह के साधन भी अक्षम सिद्ध हो जाते है। किन्तु, फिर भी अध्यात्म के क्षेत्र मे ऐसी वाणी का प्रयोग होता है। अतएव इनकी रहस्य-भावना को समझे विना इन शब्द-प्रयोगो को निरर्थक वाग्जाल नही कहा जा सकता। मध्यकालीन धर्म-साधना के क्षेत्र मे, निर्गुण धारा का विचार-प्रवाह ऐसे विलक्षण शब्द-प्रयोगो को आत्मसात किये रहा, जो आप्तत कोश, शास्त्र व्यवहार, ज्ञात पद-साहचर्य आदि की पकड से सर्वथा बाहर थे। उनके अर्थ-बोध मे न तो विवरण का सहारा था और न व्यवहार का। हाँ, आप्त वाक्य के माध्यम से परम्परागत शब्दार्थ प्रतीति केलिए यत्र-तत्र दूरारूढ कल्पना सभव हो सकती थी किन्तु उसकी प्रामाणिकता भी सन्दिग्ध ही मानी जाती रही।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे मध्ययुगीन निर्गुण सन्त कवियो की वाणी मे इसी रहस्यात्मकता का गहरा पुट देखने को मिलता है। यह वाणी केवल 'गू गेकेरी शर्करा' ही नही वरन् शब्दार्थ सम्बन्ध रहित होने तथा लोक-व्यवहार विपरीक होने से भ्रामक भी बन गई थी। एक ओर तो सस्कृत के वैयाकरण शब्द के साधु प्रयोग पर इतना बल देते थे कि एक शब्दका सम्यक् सार्थक प्रयोग स्वर्गलोक मे कामधेनु के समान होता है, और दूसरी ओर 'अर्थ परिज्ञानफलाहिवाक्' द्वारा वाणी की सार्थकता अर्थ-परिज्ञान मे स्वीकार करते थे। निर्गुण सन्त कवियो ने जिस परम्परा का निर्वाह शब्द-प्रयोग की दिशा मैं किया वह साधारण व्यवहार सें सर्वथा भिन्न विलक्षण एव सर्वजन सुलभ न थी। कहने को देह-इन्द्रिय समूह (विखर) मे उत्पन्न होने के कारण वह वाणी है तो वैखरी ही, किन्तु अर्थ-बोध के समय ऐसा अभास होता है जैसे इस वाणी मे परा, पश्यन्ती और मध्यमा के भी अश मिले हैं। वस्तुत. वैखरी वाणी को कुछ और समझने की भूल का कारण दुरूहता या अर्थ की कृच्छ्र साध्यता न होकर उसकी रहस्यमयी गोपनीयता है। एक दूसरा कारण यह भी है कि मध्ययुगीन सन्त कवियो ने शब्द को अक्षर ब्रह्मवत् मानकर शब्द की अर्थ सीमाओ का अपनी वैयक्तिक रहस्यानुभूति के आधार पर विस्तार कर लिया। उनके शब्द प्रयोगो मे अन्त सकल्प के सूक्ष्म तत्त्व समाविष्ट हो गये। इन विचित्र तत्त्वो के समावेश से अभिव्यक्ति जटिल बन गयी और उनकी गुह्यता अधिकाधिक सघन होती गयी। ऐसी गुह्य-कृच्छ्र उक्तियों को 'उलटवाँसी' शब्द से व्यवहृत किया जाने लगा। जो शब्द प्रयोक्ता को स्वर्गलोक मे कामधेनु बनता था वही मर्त्यलोक मे श्रोता या पाठक केलिए अर्थशून्य या

विपरीतार्थ बन बैठा। निस्सन्देह इस विपर्यास में प्रयोक्ता का अपराध नहीं देखा जा सकता—'नायं स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति' यदि सामने खड़े खम्भे को अंधा देख नहीं पाता तो खम्भे को दोषी नहीं कहा जायेगा।

कोश, व्याकरण और लोक-व्यवहार से 'उलटवाँसियों' का मर्म समझने का प्रयास बालबुद्धि की नादान चेष्टा मात्र है। उपनिषद् में कहा गया है—'हिरण्मय (स्वर्णपात्र) पात्र में सत्य का मुख पिहित है। यदि सत्य का रहस्य समझना है तो पहले पात्र को अनावृत करो।' ठीक यही स्थिति उलटवाँसी का मर्म समझने की है। जिन गूढ़ार्थ व्यंजक बिम्ब और प्रतीकों से उलटवाँसियों का पात्र आवृत है उसे समझने केलिए उनके आभ्यन्तर में पैठना होगा। दूसरे शब्दों में, निर्गुण साधना की शब्दावली ही नहीं साधना के मर्म को भी समझना अनिवार्य है।

उलटवाँसियों के विशाल भंडार को खोजने और उसमें से मोती-माणिक्य निकालने का अद्यावधि कोई विधिवत् प्रयास नहीं हुआ था। छिट-पुट प्रयत्नों से उलटवाँसी की ऊपरी जानकारी भले ही हो सके, उसके यथार्थ मर्म और हार्द को पा लेना असंभव है। उलटवाँसी की सुदीर्घ परम्परा के उद्घाटन के साथ ही निर्गुणधारा के मध्ययुगीन सन्तों की उलटवाँसियों का रहस्योद्घाटन संभव हो सकता है। हर्ष का विषय है कि श्री रमेशचन्द्र मिश्र ने मरजीवा की भाँति उलटवाँसियों के अथाह सागर में डुबकी लगाकर सार्थक मोती-माणिक्य पा लेने का स्तुत्य कार्य किया है। जिस समय इन्होंने शोध केलिए यह शुष्क, कठोर एवं गूढ़ विषय पसन्द किया था तब मैंने इनसे पूछा कि 'क्या आपने विषय की दुरूहता पर विचार कर लिया है? क्या वाणी के प्रपंच को समझकर उसके अवितथ रूप को आप उद्घाटित कर सकेंगे?' मुझे स्मरण है कि मैंने इनसे कहा था कि उलटवाँसी ऋषियों की परम्परा का ही एक प्रयोग विशेष है। 'परोक्ष प्रिया. हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः।' देवतागण प्रत्यक्ष (गोचर विषय) से द्वेष करते हैं वे सदा परोक्ष का कथन करने में रुचि रखते हैं। अतः उलटवाँसियों पर काम करते समय देवों की इस नैसर्गिक प्रवृत्ति का ध्यान रखना। यदि गोचर विषयों तक अपने ज्ञान, बुद्धि, विवेक को परिमित रखोगे तो परोक्ष (अप्रत्यक्ष, असहज) कथन को समझने का सुयोग तुम्हें प्राप्त न होगा।" मुझे यह लिखते हुए अत्यन्त हर्ष है कि श्री रमेशचन्द्र मिश्र ने मेरे संकेत को भलीभाँति समझा और मध्ययुगीन हिन्दी सन्त कवियों की वाणी में व्याप्त परोक्ष तत्त्व को स्पष्ट किया। डॉ० मिश्र ने शब्दार्थ तक ही अपना अध्ययन सीमित नहीं रखा है वरन् सांकेतिक (परोक्ष) प्रतीकार्थों को, ध्वनित सन्दर्भों को भी उद्घाटित करने में उनका प्रयास सफल रहा है। उलटवाँसी-साहित्य की अपनी एक निजी विशिष्ट शैली है और इस साहित्य की अपनी विशिष्ट उपादेयता है; अतः उसी शैली और उसी उपादेयता के परिप्रेक्ष्य में यदि इस अनुशीलन को देखा गया तो पाठक को डॉ० मिश्र के अध्ययन एवं अध्यवसाय की सराहना करनी होगी। उलटवाँसी-साहित्य का ऐसा सर्वांगपूर्ण शास्त्रीय विवेचन-विश्लेषण हिन्दी में इससे पहले नहीं हुआ था। इस शोधपरक अध्ययन से उलटवाँसी जैसे शुष्क एवं क्लिष्ट-कठिन विषय को भी पाठक साहित्य की भाँति पढ़ने में रुचि लेंगे। डॉ० मिश्र ऐसे सुन्दर, गम्भीर एवं सर्वेक्षणपूर्ण शोध-प्रबन्ध के लिए साधुवाद और बधाई के पात्र हैं।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
रीडर, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

दिनांक
१५-१२-६८

भूमिका—२

कबीर तथा अन्य निर्गुण सन्तो की वाणी के सम्यक् अनुशीलन करते समय यह पद-पद पर प्रतीत होता है कि उसके पीछे भारत की अनेक युगो मे व्याप्त प्राचीन दर्शन और साधना को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। जिन विचारों का कबीर खण्डन करते हैं, उनमे से बहुत-सी मान्यताओ को वे अन्यत्र ग्रहण करते हुए प्रतीत होते है। कबीर के द्वारा स्वय अनुभूत सिद्धान्तो के साथ, वैष्णवो, शैवो, शाक्तो, महायानी एव सहजयानी बौद्धो, नाथ-पन्थियो और सूफियो के विचार-सिद्धात परस्पर मिले हुए-से प्रकट हुए है। यदि हम सन्तो की वाणी के मर्म का अवगाहन करना चाहते है, तो हमे प्राचीन द्रष्टाओ के द्वारा प्रकटीकृत अनेक सत्यो का अनुभव प्राप्त कर लेना होगा। इनकी वाणी में क्लिष्टता या दुरुहता अनुभव होने का प्रधान कारण पूर्व परम्पराओ का सकेत रूप में ग्रहण है। सबसे अधिक कठिनाई इनके प्रतीकात्मक प्रयोगो और 'विपर्ययो' को समझाने मे पडती है।

शब्द और अर्थ का कोई नित्य सम्बन्ध नही है। अर्थ का अर्थात् वस्तु का किसी शब्द के साथ जो सकेत-सा प्रतीत होता है, वह किसी समय मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति केलिए स्वीकार किया गया-सा लगता है। यदि किसी शब्द का किसी अर्थ के साथ वास्तविक सकेत-ग्रह होता तो भाषा सीखने की आवश्यकता ही न पड़ती। किसी भाषा के शब्द को सुन कर तत्तत् वस्तु के साथ शब्द का सम्बन्ध श्रवण मात्र से हो जाया करता। शब्द सदा गतिशील रहते हैं। उनमें परिवर्जन, परिवर्तन या परिवर्द्धन की क्रियाएँ सतत चलती रहती हैं। एक युग मे एक शब्द जिस सकेत केलिए प्रयुक्त होता है, दूसरे युग मे भी वह शब्द उसी वस्तु की ओर सकेत करेगा, ऐसा नही होता। शब्द की क्षमताओ का, शक्तियो का मानव अपनी आवश्यकता के अनुसार विस्तार करता रहता है। शब्द प्रयोक्ता की आवश्यकता के अनुसार अनुवर्ती होकर चलते है। यही शब्दो के विकास का क्रम है।

लाक्षणिक प्रयोग कुछ दिनो के पश्चात् अपने प्रयोग की ताजगी खो देते है और रूढ़ रूप मे प्रयुक्त होने लगते है। फिर, नवीन लक्षणा का आरोप किया जाता है और कुछ काल केलिए प्रयोक्ताओ को एक नवीन स्फूर्ति मिल जाती है। प्रतीक के द्वारा अर्थ-ग्रहण की शैली भी मानव के पास है। लक्षणा मे शब्द केन्द्र से कुछ हट कर या कभी-कभी एकदम हटकर अपने अर्थ का विस्तार या पुराने अर्थ का त्याग और नवीन अर्थ का ग्रहण करता है। प्रतीक की कल्पना करते समय प्रयोक्ता नवीन क्षेत्र का आविष्कार करना चाहता है। वह ऐसे सकेत सामने लाना चाहता है जो अभीष्ट अर्थ को स्पष्ट, गम्य और मूर्त्त कर सकें। वस्तु और प्रतीक का आशिक योग रहता है। प्रतीक वस्तु के एक अश को सामने लाता है, अन्यो को छोड देता है। प्रयोक्ता प्रतीक के द्वारा जिन्हे उभारता है वे अश प्रयोजनीय होते हैं। प्रतीको मे एक नोक, एक तीखापन, एक चुटीलापन होता है, जो श्रोता की ग्राहिका शक्ति को सीधा स्पर्श करता है और प्रयोक्ता को पूरा सन्तोष भी देता है। ये प्रतीक भी कभी-कभी घिस-पिट कर वाचक मात्र हो जाते हैं, क्योकि इनकी व्यजना की नोक घिस जाती है। कुछ प्रतीक इतने समर्थ होते हैं कि युगो तक वाच्यता की दृष्टि से अपूर्ण होते हुए भी, व्यजना-सिद्ध बने रहते है। ऐसे प्रयोग निर्गुण-सन्त-कवियो की वाणी मे भरे पडे है। ज्यो-ज्यो पाठक प्राचीन साधना से परिचित होता जाता है, त्यो-ज्यो ये प्रतीक पाठक को ज्ञान-गगा की गम्भीर धारा की ओर ले जाने मे सहायक सिद्ध होते है।

'उलटवाँसी' एक प्रतीकात्मक शैली है। प्रत्येक उलटवाँसी केलिए दो प्रतीकों की आवश्यकता होती है और उन दोनों प्रतीकों का परस्पर विरुद्ध होना आवश्यक है। मोटे रूप में कहा जा सकता है कि उलटवाँसी दो तीखे सींगों की गऊ है, जिनकी नोकें विपरीत दिशा में है। यह गऊ देखने में तो भयानक लगती है पर, मरखनी नहीं होती। इनका विरोधी तत्त्व क्रिया के द्वारा स्थापित किया जाता है। वाक्य की शक्ति संज्ञा और सर्वनामों में नहीं होती। शब्द-शक्ति प्रयोग से हमें समझना चाहिए कि हम क्रिया पर विचार कर रहे हैं। यदि वाक्य उपयुक्त क्रियाओं से प्रभावित न हुआ तो उद्देश्य-विधेय खोये हुए बालक के समान भटके-से रहेंगे। और वाक्य शक्ति-हीन शब्दों का समूह मात्र रहेगा। उलटवाँसियों की शक्ति प्रयुक्त क्रियाओं में ही है। उलटवाँसी के एक टुकड़े पर विचार करें—'मंछी रूखां चढ़ि गई।' मछली यदि पानी में तैरे तो कौन चकित होगा और पक्षी यदि उड़कर वृक्ष पर बैठ जाय तो उस पर आश्चर्य करने वाला उपहास का पात्र समझा जायेगा। पर, मछली के पेड़ पर चढ़ने की बात सुन कर कौन चकित न होगा। कहने की जान है 'चढ़ जाना।' मछली केलिए पेड़ पर चढ़ना असम्भव है। प्रतीक रूप में मछली गोरख-बानियों में प्रयुक्त हुई है। शरीर केलिए वृक्ष का रूपक हम साधना-साहित्य में अनेक बार पा चुके है। वृत्तियों का शब्दार्थ मछली नहीं है और न वृक्ष का शब्दार्थ मानव-शरीर-यष्टि। ये दोनों शब्द प्रतीक हैं। 'वृत्ति' केलिए मछली का प्रतीक-ग्रहण 'संसार' केलिए सागर प्रतीक के बाद हुआ होगा। इन दोनों प्रतीकों में चढ़ने के द्वारा विरोध स्थापित किया गया है। साधना-साहित्य में इस विरोध के रहस्य का उद्घाटन कर हम उस भूमि पर पहुँच जाते हैं, जहाँ विरोध का परिहार हो जाता है। वहाँ मछली के चढ़ने से तात्पर्य वृत्ति के ऊर्ध्वमुख' होने से है अथवा सुषुम्ना-मार्ग से चलकर कुण्डलिनी के सहस्रारस्थ होने से है।

'उलटवाँसी' शब्द इस प्रकार की रचनाओं केलिए वर्तमान शताब्दी से पहले नहीं मिलता। 'उलटी चर्चा', 'उलटा वेद', 'उलटी बात' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार की रचनाएँ वेदों, उपनिषदों, महाभारत, पुराण-साहित्य तथा प्रान्तीय-साधना-साहित्य और साधक-सन्तों की बानियों में मिलती रही हैं। यह कहना भ्रान्ति फैलाना होगा कि सन्तों ने जिन सत्यों का साक्षात्कार किया था उन्हें उलटी वाणी के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से अभिव्यक्त ही नहीं किया जा सकता। स्वयं कबीर की ऊँची-से-ऊँची अनुभूतियों सरल-सुबोध और ग्राह्य भाषा में अभिव्यक्ति हुई है। उलटवाँसियों में प्रायः सर्वविदित बातों को कहा गया है, जो इस शैली के प्रभाव के कारण दुरूह-सी जान पड़ती है। परम्परा से प्राप्त इस शैली को सन्त कवियों ने अपनाया है। कबीर आदि सन्तों की अधिकांश उलटी बातें दार्शनिक और हठयौगिक विचार-धारा के प्रकाश में सीधी और साफ हो जाती है।

इस प्रकार की रचनाओं का विवेचन-विश्लेषण अभी तक नहीं हुआ था। आवश्यकता इस बात की थी कि परम्परा को स्पष्ट करते हुए इन रचनाओं की प्रकृति और पद्धति को सामने रखा जाए। बड़े सन्तोष का विषय है कि श्री [illegible] मिश्र ने [illegible] और विविध [illegible] का [illegible] और मनन करके हमारे [illegible] किया है, जिससे [illegible] के ये रचनाएँ सुगम हो सकती हैं। [illegible] [illegible] स्पष्ट किया है। इसका विवेचन [illegible] है। [illegible] और [illegible]। [illegible]

[illegible]

दिल्ली
[illegible]

हिन्दू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

उन्मुखीकरण

'कबीरदास की उलटी बानी। बरसै कम्बल भीजै पानी।।' कबीर की इस उलटी वाणी को सुनकर मैं अपनी किशोरावस्था मे विस्मय चकित हो गया था और इस पक्ति का गम्भीर अभिप्राय न समझ कर अन्य युवको के समान मैंने इसको ऊटपटाँग ही समझा था। मुझे जब 'कबीर ग्रथावली' पढने का सुयोग मिला तो इस प्रकार के अन्य असम्बद्ध पदाश भी मेरे सामने आये और मेरी उत्सुकता हास्य से जिज्ञासा की ओर बढने लगी। सन् १९६० मे एम० ए० (हिन्दी) परीक्षा मे उत्तीर्ण होकर जब मैं शोध-कार्य पर परामर्श करने केलिए स्व० प० भोलानाथ जी शर्मा (अध्यक्ष सस्कृत-विभाग, बरेली कॉलिज, बरेली) के समीप पहुँचा तो पूज्य पण्डित जी ने सन्तो की 'बानियो' के विषय मे मेरी जिज्ञासा को प्रोत्साहित किया। मुझे दु ख है कि पूज्य गुरुवर मेरे अध्ययन को शोध-प्रबन्ध के रूप मे देखने केलिए आज इस लोक मे नही है। सन्तोष इस बात का है कि मेरी जिज्ञासा और उनकी प्रेरणा आज एक निश्चित उपलब्धि के रूप मे सम्पन्न हो सकी है। एतदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञता पूर्वक मानस-प्रणाम समर्पित करता हूँ।

सन् १९६२ मे एम० ए० (सस्कृत) की परीक्षा मे उत्तीर्ण होने के अनन्तर हिन्दी और सस्कृत की समानान्तर पृष्ठभूमि को लेकर, मै दिल्ली विश्वविद्यालय मे हिन्दी-शोध की पूर्व पीठिका केलिए प्रविष्ट हुआ। उस समय विभागाध्यक्ष आदरणीय डॉ० नगेन्द्र जी ने मेरे उलटवाँसी विषयक अध्ययन को स्वीकार किया और शोध केलिए मुझे 'हिन्दी-साहित्य मे उलटवाँसियो का अध्ययन' शीर्षक विषय प्रदान कर दिया। इस गुरु गम्भीर विषय को लेकर मे पूज्य प० कृष्णशङ्कर जी शुक्ल के सत् परामर्शो से अध्ययन की ओर अग्रसर हुआ। उन्होने मुझे विषय की गरिमा बताई। उन्ही की प्रेरणा से मैंने वेद, उपनिषद् श्रीमद्भागवत तथा सस्कृत-साहित्य के ग्रन्थो का पारायण किया। उनकी सूक्ष्म दृष्टि एव नि:स्वार्थ सौहार्द्य मेरे लिए सदा मार्ग-दर्शक रहे है। अत. उनके प्रति हार्दिक आभारी हूँ।

सन् १९६३ मे उक्त विषय को लेकर विश्वविद्यालय की शोध-समिति ने मुझे शोध-कार्य करने की अनुमति प्रदान करदी और डॉ० ओम्प्रकाश जी मेरे निर्देशक नियुक्त हुए। आपने मुझे शोध-सम्बन्धी अध्ययन और उसके तत्सम्बन्धी लेखन मे जिस मनोवैज्ञानिक ढग से प्रेरणा दी है इस केलिए वे गुरुत्व के अधिकारी हैं। उनकी सश्लेषक वृत्ति से मेरी दृष्टि 'प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के विवेचन से साहित्यिक उपलब्धि' इस पूर्व पक्ष पर केन्द्रित बनी रही है और उन्ही की विश्लेषक बुद्धि ने अपनी नकारात्मक स्वीकारोक्ति से मुझे उलटवाँसी-शैली के अनिवार्य तत्त्वो की उपलब्धि कराई है। फलस्वरूप विवेच्य शैली एक स्वतन्त्र-शैली के रूप मे प्रतिष्ठा पासकी है। इस केलिए मैं उनका अनुगृहीत हूँ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के लेखन-काल में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से उलटवाँसी-शैली की अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से मुक्ति कराने का निर्देशन मिला है तथा आचार्य नगेन्द्र जी से मुझे समय-समय पर प्रोत्साहन एवं सहायता प्राप्त हुई है, जो मेरे प्रयत्न का भूषण बन गई है। इस केलिए मैं दोनों ही आचार्यों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। विद्वान् समीक्षक डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने 'परोक्षप्रियाहि देवः प्रत्यक्ष द्विपः' बताकर शैली की प्राचीनता एवं मौलिकता की ओर मेरा ध्यान केन्द्रित किया था। वरिष्ठ प्राध्यापक पूज्य पं० कैलाशचन्द्र जी मिश्र के प्रति आभार प्रदर्शित करना मेरा पुनीत कर्त्तव्य है, जिनके गम्भीर ज्ञान, चिन्तन एवं सत्परामर्शों ने मुझे सहायता प्रदान की है। मराठी-विभाग के रीडर डॉ० एम० ए० करन्डीकर तथा दर्शन-विभाग के डॉ० सुरेन्द्र वार्रलिंगे ने भारुड गीत-शैली से मेरा परिचय कराया था और तत्सम्बन्धी लेख एवं प्रसंग मेरे लिए सुलभ किये थे, श्री ज़िया अहमद साहब (डायरेक्टर बाईलिंग्वल डिक्शनरी) से 'इशारियत' अथवा रम्ज़ीयत शैली को समझने एवं तत्सम्बन्धी अरबी फारसी के उद्धरणों को प्राप्त करने में मुझे सहायता मिली है। एतदर्थ मैं उक्त सभी विद्वानों का भूरिश: कृतज्ञ हूँ।

इनके अतिरिक्त श्री सिद्धगुफा सवाई, आगरा; स्वामी बाग, दयालबाग, आगरा तथा आर्य गुरुकुल, एटा आदि स्थानों के जिन साधु सन्यासियों एवं साधकों से उलटवाँसी-पदों को समझने में मुझे जो सहायता मिली है, इसकेलिए वे सभी श्रद्धा के पात्र हैं। अन्त में सन्त-साहित्य के विशेषज्ञ एवं उलटवाँसी शैली के उन सभी मर्मी विद्वानों के प्रति भी नतमस्तक हूँ, जिन्होंने मुझे अपना अमूल्य समय देकर अपने विचारों और सुझावों से कृतार्थ किया है।

शोध-प्रबन्ध का शीर्षक 'हिन्दी साहित्य मे उलटवाँसियो का अध्ययन' अधिक लम्बा होने से उच्चारण सुलभ नहीं था। अत. मैंने विचार कर 'उलटवाँसी-साहित्य' शीर्षक नामकरण किया, क्योंकि उलटवाँसीशैली तो हिन्दी-साहित्य की ही शैली है। इस प्रबन्ध के अन्त में उलटवाँसी-पदों का संग्रह देने की उत्कट इच्छा रहते हुए भी कलेवर की सीमा-वृद्धि के कारण वैसा नहीं कर सका। पद-संग्रह का प्रकाशन इस पुस्तक के दूसरे भाग 'कबीर के सौ उलटवाँसी-पद' के साथ सम्भव हो सकेगा। इस विवशता केलिए क्षम्य समझा जाऊँ।

निर्गुण सन्त-साहित्य की भाव-धारा में बहुविधि बिम्ब-प्रतीकों की योजना है जो अग्रिम अध्ययन, चिन्तन-मनन केलिए 'निर्गुण सन्त-साहित्य में—बिम्ब, प्रतीक और रूपक-योजना' के रूप में मेरी चित्त-वृत्ति का आकर्षण बना हुआ है। यह गुरुतर कार्य मुझ जैसे अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति से सम्पन्न हो जाय, इसकेलिए मैं गुरुवर्ग के आशीर्वाद का आकांक्षी हूँ।

—रमेश चन्द्र मिश्र

मकर संक्रान्ति
विक्रम संवत् २०२५
(१४ जनवरी, १९६९)

प्रस्तावना

ऋग्वेद से ही जन्म लेकर लौकिक सस्कृत, पालि-प्राकृत, अपभ्र श आदि भाषाओ के प्रमुख तीर्थों का स्पर्श करती हुई, नाम-रूप से परिवर्तित होती हुई, साधनाश्रयी, प्रतीक जीवी, विरोध गर्भिता वाणी उलटवाँसी या 'उलटी चर्चा' के रूप मे गोरखनाथ के साहित्य मे पल्लवित एव प्रतिष्ठित हो चुकी थी। आगे चल कर कबीर ने उसे मध्य युगीन हिन्दी-साहित्य मे प्रचारित किया। फलत. निर्गुण सन्त इस शैली को अपनी अभिव्यक्ति का एक विशेष अधिकार-सा मान कर चलने लगे। उलटवाँसी-साहित्य नाम-रूप से भिन्न होते हुए भी एक सुदृढ परम्परा का स्थिर विकास है। इस रूप मे यह एक निश्चित एवं प्रतिष्ठित अभिव्यक्ति-शैली है। इस शैली के चमत्कार को प्रयोक्ता एव आलोचक दोनों वर्गो ने ही स्वीकार किया है। पर, आलोचको के वीच इसको सदा प्रतिष्ठा अथवा स्वीकृति मिलती रही हो, ऐसा नही पाया जाता। प्रयोक्ता सन्तो ने उलटवाँसी-पदो की व्याख्या की ओर ध्यान नही दिया। हाँ, सन्त-सम्प्रदायो ने यह कार्य वर्णन के द्वारा सम्पन्न किया है, वैज्ञानिक व्याख्या के रूप मे नही। आलोचको मे से कुछ तो उलटवाँसी को 'वेसिर पैर की वात' समझते रहे थे और कुछ इसको साधना से अत्यन्त सम्वद्ध कर देना चाहते थे। इसीके फलस्वरूप इतनी प्राचीन, इतनी प्रतिष्ठित और इतनी प्रचलित होते हुए भी उलटवाँसी शैली का क्रमवद्ध रूप मे विवेचन-विश्लेषण नही हो सका और न किसी शोधार्थी की दृष्टि इस शोध-विषय की ओर उन्मुख हो सकी। सयोग की ही वात है कि मेरी रुचि के अनुसार यह विषय मुझे मिला।

उलटवाँसी शैली के विचारक विद्वान् प्राय: वे सभी है, जिन्होने सिद्ध-नाथो के साहित्य का अध्ययन किया है। सिद्ध-नाथों के साहित्य के प्रतिष्ठित विद्वान् महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री, डॉ० प्रबोध चन्द्र बागची, महापण्डित राहुल साकृत्यायन, प० गोपीनाथ कविराज; डॉ० मोहनसिह, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० शशिभूषण दास गुप्त, डॉ० धर्मवीर भारती और डॉ० रागेयराघव आदि ने अपने मुख्य विषय के साथ-साथ इस असम्बद्ध अभिव्यक्ति शैली पर भी प्रासागिक रूप से विचार किया है।

हिन्दी-सन्त-साहित्य के आलोचको ने अपने शोध-प्रवन्धो अथवा स्वतन्त्र ग्रन्थो मे मुख्य विषय के साथ इस शैली का सक्षिप्त विवरण दिया है। इनमे प्रमुख है डॉ० पीताम्बरदत्त वड़थ्वाल—'हिन्दी-काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय' (शोध प्रबन्ध); आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—'कबीर' तथा 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका'; श्री परशुराम चतुर्वेदी—'कबीर साहित्य की परख', डॉ० रामकुमार वर्मा—'कबीर का रहस्यवाद', डॉ० भगीरथ मिश्र—

'निरजनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरजनी'; डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित—'हिन्दी-सन्त-साहित्य' (शोध प्रबन्ध); डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल—'सन्त-साहित्य' (शोध-प्रबन्ध), डॉ० सरनामसिंह शर्मा कबीर-एक विवेचन', डॉ० ओम्प्रकाश—'हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य' (शोध-प्रबन्ध); डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत—'कबीर की विचार-धारा' (शोध-प्रबन्ध), डॉ० रामधन शर्मा—'कूट-काव्य-एक अध्ययन' (शोध-प्रबन्ध), प्रो० आर० डी० रानाडे—'पाथ वे-टु गौड इन हिन्दी लिटरेचर' आदि विद्वान् और उनके विवेचनात्मक कार्य। उक्त आलोचना ग्रन्थो मे 'उलटवाँसी' का विवेचन प्रासागिक रूप मे होने के कारण अल्प ही है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; डॉ० श्यामसुन्दर दास, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा; डॉ० रामकुमार वर्मा; आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी; श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि प्रतिष्ठित विद्वानो ने ऐतिहासिक प्रसग मे नाम रूपान्तर से 'उलटवाँसी' की चर्चा की है। इसी प्रकार से हिन्दी के कोश ग्रन्थ उलटवाँसी का सस्पर्श करते है। वक्रोक्ति शैली का विवेचन करते हुए आचार्य नगेन्द्र ने सन्तो की 'उलटी' और 'सीधी' दोनो वाणियो मे काव्य-शास्त्रीय व्यंग्य एव वक्रता के अध्ययन का सकेत दिया है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि उलटवाँसी शैली का अभी तक न तो विस्तृत अध्ययन हुआ था और न इसके काव्य-सौन्दर्य को परखने की पर्याप्त चेष्टा ही किसी विद्वान् ने की है। इसमे सन्देह नही कि इस शैली का चमत्कार-सौन्दर्य आलोचको का ध्यान आकृष्ट किये बिना नही रह सका है। पर, 'उलटवाँसी' की समग्रता की दृष्टि से आलोचको का प्रयत्न, कबीर अथवा किसी अन्य सन्त की विवेचना के प्रसग मे ही, एक विशेष सीमा मे रहा है। उलटवाँसी शैली की व्यवस्था, स्वतन्त्र रूप से विवेचन के अभाव मे न हो सकी थी। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उसी दिशा मे एक विशेष प्रयत्न है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध सात अध्यायो मे व्यवस्थित है। यदि इस प्रबन्ध के प्रथम अध्याय को शरीर कहा जाय तो चतुर्थ अध्याय को इसका प्राण कह सकते है। शेष अध्याय वस्त्र के रूप मे शरीर रूप प्रथम अध्याय की ही साज सज्जा करते हैं। इस अध्याय के विषय-प्रवेश मे यह स्पष्ट कर दिया है कि विचार अथवा भाव की अभिव्यक्ति केलिए उलटवाँसी शैली की आवश्यकता क्यो हुई? साधनात्मक अनुभूति की सूक्ष्मता के कारण वाणी को, ऋजु-मार्ग का परित्याग करके, वक्र-मार्ग का सहारा लेना पडता है। इसी अध्याय मे यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इस शैली के प्रयोक्ता सन्तो ने 'उलटवाँसी' शब्द का प्रयोग न करते हुए भी इस शब्द के समानार्थी 'उलटावेद', 'उलटीवात', 'उलटा ख्याल', 'उलटावती', 'उलटामती' आदि शब्दो का प्रयोग किया है। 'उलटवाँसी' शब्द का प्रयोग बीसवी शताब्दी की देन प्रतीत होता है जो अपने विषय एव कथन की विशेष पद्धति केलिए सन्त-परम्परा मे अथवा आलोचकों के द्वारा प्रचलित हो गया होगा। इसी अध्याय मे उलटवाँसी शैली का स्वरूप निर्धारित करते हुए जो अनिवार्य तत्त्व निश्चित किये है वे अनेक प्रकार के अवरोधक प्रश्नों, शकाओ के समाधान के परिणाम हैं। ये तत्त्व और इस शैली की सामान्य विशेषताएँ

मिल कर इस शैली को अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषो से मुक्त करते है। 'गूढ तत्व नहि साधु दुरावहि। आरत अधिकारी जहँ पावहि।' ('रामचरित मानस' बाल काण्ड) परन्तु, यह गूढतत्त्व विशेष सांकेतिक भाषा मे ही अभिव्यक्त हो पाता है। यह प्रवृत्ति ही उलटवाँसी शैली के प्रयोजन का मूलाधार है। उलटवाँसी-पदो का वर्गीकरण विवेच्य सामग्री को दृष्टि मे रखते हुए किया गया है।

द्वितीय अध्याय मे उलटवाँसी शैली की पूर्व परम्परा देते हुए वैदिक-युग, धार्मिक तथा मध्यकालीन संस्कृति युग, परवर्ती संस्कृत-साहित्य तथा पालि-प्राकृत काल की रचनाओं को दृष्टि-पथ मे रखा गया है। फलत तत्सम्बन्धी प्रवृत्तियो, उदाहरणो को देते हुए, दृष्टि प्रमुखतः विषय पर ही केन्द्रित रही है। साथ ही शैली-प्रयोग के अवरोधक तत्त्वो की ओर भी संकेत दिए गए हैं। प्रतीक-संकेतो के प्रयोग केलिए तन्त्र-युग समृद्ध रहा है, जिसका प्रभाव परवर्ती सिद्ध-नाथो के साहित्य मे सम्यक् रूप से देखने को मिलता है; यह बात इस अध्याय के अन्त मे बता दी गई है।

तृतीय अध्याय को सन्तो के उलटवाँसी प्रयोगो केलिए पूर्व पीठिका कहा जा सकता है। इसमे सहजयानी-सिद्धो की कुछ साधनाओ की ओर संकेत मात्र है। इन साधनाओ की विशेष प्रकृति-प्रवृत्ति के कारण वे सांकेतिक सध्या-भाषा-शैली का प्रयोग किया करते थे। चौरासी सिद्धो की परम्परा के दस प्रमुख सिद्धो के उलटवाँसी मूलक प्रयोग (सांकेतिक व्याख्या सहित) दिये है निश्चय ही सिद्धो के ये प्रयोग उटलवाँसीशैली के परवर्ती प्रयोक्ताओ केलिए आदि रूप है। चौरासी सिद्धो के समान ही नव नाथो की परम्परा प्रसिद्ध है, परन्तु, गोरखनाथ के अतिरिक्त अन्य नाथो की प्रामाणिक रचनाओ की उपलब्धि सम्भव न हो सकने के कारण उनके सम्यक् उदाहरण दे सकना सम्भव नही हो सका है। गोरखनाथ के उलटवाँसी-पदो के सग्रह का आधार 'गोरख-बानी' (सम्पादक डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल) है। शेष नाथो की रचनाओ के कुछ उदाहरण 'नाथ-सिद्धो की बानियाँ' (सम्पादक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) नामक सग्रह से दिए गए है। इस अध्याय के अन्त मे यह भी सकेत कर दिया गया है कि सन्तो के उलटवाँसी शैली के प्रयोगो के पूर्व ही सूफी-विचार-धारा का योग भी हुआ था, जिसका प्रभाव उलटवाँसी मूलक रूपक-बन्धो मे यत्र-तत्र देखने को मिल जाता है।

चतुर्थ अध्याय प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का प्राण है। इसमे साँकेतिक प्रतीको का विवेचन-विश्लेषण किया गया है। मूलरूप मे उलटवाँसी-पदो का अध्ययन प्रतीको का ही अध्ययन है। वैसे तो, ह्वाइट हैड के शब्दो मे ('दी वर्ड इज ए सिम्बल एण्ड इट्स मीनिंग इज कन्स्टीट्यूटड बाइ दि आइडियाज एण्ड इमोशन्स, ह्विच इट रेजेज इन दि माइण्ड आफ दि हीअरर') 'शब्द' स्वय एक प्रतीक है, परन्तु 'प्रतीयते प्रत्येति वा इति' तथा 'विलोम प्रतिकूले' के अर्थ मे, प्रतीक' शब्द 'हलायुध कोश' का साक्ष्य लिए हुए है। साहित्य मे, प्रतीको का प्रयोग प्रयोक्ता की विशेष मानसिक प्रक्रिया को ध्वनित करता है।

उलटवाँसियो में प्रयुक्त अधिकाश प्रतीक सामान्य जीवन अथवा विस्तृत प्रकृति-क्षेत्र से आये है। इनके प्रयोग के पीछे प्रयोक्ता की मानसिक दशा तथा प्रयुक्त प्रतीको मे

किसी (क्रिया, प्रकृति, धर्म आदि) साम्य विशेष की ध्वनि अन्तर्निहित है। अथवा विधि-विरोध की योजना के आधार पर प्रयुक्त प्रतीक किसी दुर्लभ या कठिन अवस्था की व्यजना करते है, लोक प्रसिद्ध रूपकों, उपमानो तथा प्रतीकों मे उलटापन अथवा अटपटापन स्वतःसिद्ध रहता है। प्रतीक मे वाह्य एकरूपता कम रहती है उपमान में अधिक। प्रतीक मे सान्निध्य से अधिक सारूप्य की भावना प्रखर रहती हैं। इस प्रकार के अध्ययन केलिए यह अध्याय महत्त्व का है। उलटवाँसी-पदो मे 'मन' केलिए सर्वाधिक प्रतीको का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत रूप शरीरागो, अवयवो अथवा साधना की विशेष अवस्थाओ केलिए प्रतीको का विस्तृत सग्रह दिया गया है। एक ही अंग अथवा अवयव केलिए कितने प्रतीको का प्रयोग उलट-वाँसी-पदो मे मिलता है, इसका सक्षिप्त विवरण इस अध्याय मे प्रस्तुत किया है। इन प्रतीको का प्रयोग क्यो हुआ है ? इनके पीछे प्रयोक्ता की क्या मानसिक धारणा रही है ? इन प्रश्नो केलिए अभी भी यह अध्याय मुझे चिन्तन-मनन केलिए प्रेरित कर रहा है। उदाहरण केलिए 'बैल वियाइ गाइ भइ बाँझ' मे 'मन' को 'बैल' कहा है। इसका अर्थ करते समय, कर्मो का बोझ ढोने वाले भार-वाही बैल के रूप मे 'बहिर्मुखी मन' ऐसा अर्थ सुलभ होसका है। परन्तु 'बैल चढ्यौ शंकर के ऊपर' इस कथन मे सत्व पुष्ट मन की ओर सकेत मिलता है। बैल को वृष या वृषभ भी कहते है जो सत्व को अधिष्ठित करके विशेष शक्ति से पुष्ट होता है। जल रूप से मेघ इसी सत्व की वर्षा करता है, इसलिए मेघ को भी 'वृषभ' कहते है। भगवान् शिव का वाहन वृषभ शक्ति का ही द्योतक है। शिवत्व की भावना सत्व पर आधारित रहती है। इसीप्रकार अन्तर्मुखी होकर मन जब सत्व या शक्ति से पुष्ट हो जाता है तो अनेक सुखो की वर्षा करता है। सन्तो की प्रतीक-योजना में इसप्रकार की प्रवृत्ति मिलना स्वाभाविक है। पर शोध-प्रवन्ध की सीमाओ को देखते हुए इस प्रकार का विवेचन करने का अवसर मुझे नही मिल सका है।

पंचम अध्याय उलटवाँसी-पदों मे प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली से सम्बन्धित है। इन पारिभाषिक शब्दो के परिचय मे योगशास्त्रीय अथवा साम्प्रदायिक परम्परा को आधार बनाया गया है। इसकेलिए हठयोग प्रदीपिका, शिव सहिता, घेरण्ड सहिता, गोरक्ष पद्धति, गोरक्ष-सिद्धान्त सग्रह आदि ग्रन्थ तथा सम्प्रदाय विशेष से प्रभावित होकर लिखी गई अनेक टीकाओ का उपयोग किया गया है। इन पारिभाषिक शब्दो के निर्माण मे सन्त-बानियो की प्रायोगिक रूढ़ि विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई है। अनेक सांकेतिक प्रतीक, अपनी प्रयोग-रूढ़ि के कारण, पारिभाषिक शब्दो की सीमा मे पहुँच गए है। ऐसे कुछ शब्दो का विवेचन चतुर्थ तथा पचम दोनो ही अध्यायो में हुआ है।

षष्ठ अध्याय हिन्दी-सन्त-काव्य के प्रयोक्ता सन्तों के उलटवाँसी-प्रयोगो से सबन्धित है। इसमे सन्तो के ऐतिहासिक क्रम को प्रमुखता दी गई है। सन्तो के प्रयोग ही 'उलट-वाँसी' के शास्त्रीय पक्ष का मूलाधार हैं। इस अध्याय में कबीर के उलटवाँसी-पदो की प्रकृति-प्रवृत्ति और मूल्याकन तथा कुछ उलटवाँसी-पदो की सांकेतिक व्याख्या मुख्य रूप से दी गई है। शेष सन्तो में सुन्दरदास, पलटूसाहब, तुलसी साहब (हाथरस वाले) के प्रयोगो को, मात्राधिक्य के कारण, प्रमुखता मिली है। अन्य सन्तो के एक-एक, दो-दो उदाहरण

देकर उनकी प्रयोग सम्बन्धी विशेषताओ की ओर सकेत किया गया है। इन सन्तो का क्रम उनके आविर्भाव-काल के आधार पर ही रखा गया है। शैली-प्रयोग की दृष्टि से सन्त कबीर जो विकास-रेखा खीच सके है, उससे सभी परवर्ती सन्त प्रभावित हुए हैं। पर, व्यक्तित्व एव भाषा सम्बन्धी विशेषताएँ अन्य सन्तो के उलटवाँसी-पदो मे भी देखने को मिलती हैं। जिन सन्तो के उलटवाँसी-पदो का उपयोग प्रस्तुत प्रबन्ध मे नही हो सका है, इसका मुख्य कारण या तो मेरी जानकारी की सीमा है, अथवा उन सन्तो के उलटवाँसी-प्रयोगो की अत्यल्पता है।

सप्तम अध्याय मे उलटवाँसी-पदो को लेकर काव्यशास्त्रीय सीमा मे प्रवेश किया है। इसका मुख्य आधार मेरी यह धारणा कही जा सकती है, जिसके बल पर मैं यह सोचता हूँ कि, 'भाव की भूमिका मे पहुँचते ही वाणी मे कवित्व आ जाता है और अनुभूति की प्रखरता (सच्चाई) मे कला स्वय ही प्रवेश कर जाती है।' विरोध मूलक एव सादृश्य गर्भ अलंकारो की अपनी विशेष प्रकृति के कारण, उलटवाँसी-पदो मे इनका (काव्यशास्त्रीय सूक्ष्मता के बिना ही) सहज प्रयोग मिल जाता है। 'रस-भूमि' पृथक् से कोई दशा विशेष नही है; प्रत्युत अनुभूति की ही एक विशेष अवस्था है। इस दृष्टि से सन्तो की वाणी की मूल प्रेरणा 'शम' स्थायी भाव पूर्वक शान्त रसोन्मुखी रही है। इस शैली के रूप या कलेवर के विशेष आग्रह के कारण अद्भुत, शृ गार, हास्यादि रसो एव 'भावो' की सीमा का स्पर्श हुआ है। उलटवाँसियो का शब्द-व्यापार अपनी अभिधा से ही व्यजना-क्षेत्र मे प्रवेश करता हुआ दिखाई देता है।

सप्तम अध्याय के अन्त मे कूट-वर्ग की अन्य शैलियो का सक्षिप्त परिचय और उनसे उलटवाँसी-शैली की तुलना करके साम्य और वैषम्य बताते हुए विवेच्य-शैली का स्वतन्त्र अस्तित्व निर्धारित हुआ है। यही प्रस्तुत प्रबन्ध के रूप मे अपना सीमित प्रयास है।

मैंने अपने कथन की पुष्टि केलिए सन्तो की उलटवाँसियो के विवेचन के सम्बन्ध मे (कबीर और गोरखनाथ की वाणियो को छोड कर) बेलविडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित सन्तो की बानियो का ही उपयोग किया है। सन्तो की इन प्रकाशित बानियो का उल्लेख विशिष्ट विद्वानो और आलोचको ने किया है, यही इन बानियो के प्रमाणिक होने का मुख्य आधार है। कबीर की उलटवाँसियो केलिए मेरे अध्ययन का आधार 'कबीर ग्रन्थावली' (सम्पादक श्यामसुन्दर दास), 'कबीर बीजक' (सम्पादक विचारदास शास्त्री) ये दो ग्रन्थ रहे हैं। सुन्दरदास के उलटवाँसी-पदो केलिए 'सुन्दर ग्रन्थावली' (दो खण्ड) (राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित) मेरे अध्ययन का आधार रही है। गोरखनाथ की उलटवाँसियो के लिए 'गोरख-बानी' (सम्पादक डॉ० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल); निरजनी सम्प्रदाय के सन्तो की उलटवाँसियो केलिए 'निरजनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरजनी' (सम्पादक डॉ० भगीरथ मिश्र), सन्त शिवदयाल के उलटवाँसी-पदो केलिए 'सार वचन छन्द-बन्द' (दूसरा भाग) (राधा स्वामी ट्रस्ट, स्वामी बाग, आगरा) और स्वामी शकरदास जी के उलटवाँसी-पदो केलिए 'ब्रह्म ज्ञान प्रकाश' (देहाती पुस्तक भण्डार, दिल्ली) आदि सग्रह-ग्रन्थ मेरे अध्ययन के मुख्य आधार रहे है।

अन्त मे परिशिष्ट एक मे 'उलटवाँसी शैली और नवलेखन' सम्बन्धी लेख से आज की लेखन सम्बन्धी अभिव्यक्ति की समस्या पर अप्रसग वश विचार किया है। प्रखर अनुभूति की अभिव्यक्ति सम्बन्धी समस्या जितनी आज के लेखक के सम्मुख रहती है। लगभग वैसी ही परिस्थिति मे साधना सम्बन्धी अथवा वैचारिक दशा की अभिव्यक्ति केलिए ही प्रयोक्ता सन्तो ने विरोध गर्भीता और प्रतीकजीवी शैली उटलवाँसी का सहारा लिया है। परिशिष्ट दो के रूप मे सहायक पुस्तको की, प्रकाशन तिथियो सहित, विस्तृत सूची दी गई है। ये प्रकाशित तिथियाँ उद्वृत पुस्तकों की प्रकाशन तिथियो की सूचक है जिन पुस्तको के सम्मुख प्रकाशन तिथियाँ नही है वे या तो प्रकाशित पुस्तक मे ही अंकित नही हैं, या फिर मेरे प्रमाद को सूचित करती है।

—रमेश चन्द्र मिश्र

अनुक्रम



प्रतीक-योजना—आधार तथा विश्लेषण

उलटवाँसियों में पारिभाषिक शब्दावली

प्रयुक्त लाघव रूपों की सूची

आब्स० रि० क०	='आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स'
क० ग्र०; क० ग्रंथा०	='कबीर ग्रंथावली'
क० बी०; बीजक	='कबीर बीजक'
गुलाल० बानी०; गु० बा०	='गुलाल साहेब की बानी'
गो० बा०	='गोरख बानी'
च० बा०, चरन० बा०	='चरनदास जी की बानी'
चर्यागी० को० उपो०	='चर्यागीतिकोष उपोद्घात'
तु० शब्दा०	='तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली
दा० बा०, दा० द० की बानी	='दादू दयाल की बानी'
ध० ध० शब्दा०, धनी धरम० शब्दा०	='धनी धरमदास जी की शब्दावली'
नि० स०	='निरंजनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरजनी'
प० बा०; प० बानी०; पलटू बानी	='पलटू साहेब की बानी'
पृ० ; पृ० स०	='पृष्ठ, पृष्ठ सख्या'
बु० शब्द०; बुल्ला० शब्द०	='बुल्ला साहेब का शब्दसार'
भी० बा०	='भीखा साहेब की बानी'
मो० वि०	='मोनियर विलियम्स सस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी'
या० रत्ना०	='यारी साहब की रत्नावली'
रैदास बानी	='रैदास जी की बानी'
सा० व० छ० व०	='सार वचन छद बंद' (दूसरा भाग)
सु० ग्र०	='सुन्दर ग्रथावली'
ह० प्र०	='हठयोग प्रदीपिका'
हि० का० नि० स०	='हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय'

प्रथम अध्याय

उलटवाँसी का स्वरूप

विषय प्रवेश . साधनात्मक अभिव्यक्ति की समस्या

'शब्द' अक्षर ब्रह्म है। यह अनादि और अनन्त है तथा इसकी, 'अर्थ' अर्थात् पच तत्त्वात्मक रूप मे, अभिव्यक्ति ही यह निखिल जगत् है।[1] अत सम्पूर्ण जगत् वाड्मय है अर्थात् 'शब्द' का ही विकास है। महाकवि भवभूति ने वाग्देवता को 'आत्मा की कला'[2] कहा है। इसी के प्रकाश से समूचा ब्रह्माण्ड आलोकित है। कवि दण्डी का यह कथन सर्वथा सार्थक है कि यदि शब्द नाम्नी ज्योति ससार मे न होती, तो विश्व अन्धकारमय ही होता।[3] शब्द-शास्त्र के आचार्य भर्तृहरि का यहाँ तक विश्वास है कि कोई भी ज्ञान शब्द निरपेक्ष नही होता।[4] अव्यक्त को व्यक्त करना, अरूप को रूप देना ही कला का उद्देश्य है। वाड्मय मात्र कला ही है, जिसमे मन के अव्यक्त भाव-विचारो को अभिव्यक्ति मिलती है। परन्तु, जो कुछ अनुभवगम्य है वह यथावत् अभिव्यक्त नही किया जा सकता, क्योकि, मन का क्षेत्र अपरिमित है और (वैखरी) वाणी का सीमित।[5] उपनिषदे भी ब्रह्मानुभूति को अनिर्वचनीय कहती है।[6] मनीषी कवियो ने भी वाणी के असामर्थ्य की

---

१. 'अनादि निधन ब्रह्म शब्द तत्त्व यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यत ॥' 'वाक्यपदीय' (ब्रह्मकाण्ड), श्लोक १

२. 'विन्देम देवतां वाचममृतामात्मन. कलाम्।' 'उत्तररामचरितम्', १।१

३ 'इदमन्धतम. कृत्स्न जायते भुवन त्रयम्।
यदि शब्दाह्वय ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ॥' 'काव्यादर्श', १।४

४. 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य. शब्दानुमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासते ॥' 'वाक्यपदीय' (ब्रह्मकाण्ड), श्लोक १२३

५. वाग्वैमनसोह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मन।
परिमिततरेव हि वाक्।' 'शतपथब्राह्मण', १।४।४।६ (प० मगलदेव शास्त्री द्वारा 'तुलनात्मक भाषा-शास्त्र' पृ० १६७ से उद्धृत)

६. 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्द ब्राह्मणो विद्वान् नविभेति कदाचनेति ॥' तैत्तिरीयोपनिषद्', २।४।१
'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान-प्रसादेन विशुद्धसत्वस्तस्तु त पश्यते निष्कल ध्यायमान ॥'
'मुण्डकोपनिषद्, ३।८।१

चर्चा की है।[१]

जब सूक्ष्म भावो और विचारों को 'वाणी' अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से भी अभिव्यक्त करने मे समर्थ नही हो पाती, तब प्रतीक-सकेतों का आश्रय लेती है। अतः ब्रह्म, आत्मा, माया, प्रेम, कृतज्ञता आदि की अभिव्यक्ति के लिए रूपक तत्त्व, वक्रोक्ति, विरोधात्मक उक्ति आदि का सहारा लिया जाता है। यह प्रवृत्ति ही 'उलटवाँसी' शैली का मूलस्रोत है। आचार्य शङ्कर ने परमतत्त्व (ब्रह्म) की विवेचना 'मौन व्याख्यान'[२] द्वारा ही संभव बताई है और 'युवा गुरु' द्वारा इस मौन-व्याख्यान से 'वृद्धशिष्य' के सम्पूर्ण संशय भी उच्छिन्न होते हुए बताए हैं।[३]

कवि जिस जागतिक सत्य के प्रति उल्लसित रहा करता है, उसकी अभिव्यक्ति के लिए वह 'वैखरी'[४] वाणी तथा बिम्ब, अप्रस्तुत विधान, प्रतीक-आदि को साधन रूप मे अपनाता है। कवि को 'अनुभूति' की 'अभिव्यक्ति मे उतनी कठिनाई नही होती जितनी कि साधक को, क्योंकि उसकी कठिनाई भावातिरेक की मात्रा से सम्बन्धित है पर साधककी परिस्थिति इससे भिन्न है। जैसे-जैसे वह चिन्तन के द्वारा सूक्ष्मतत्त्व के निकट पहुँचता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान-प्रसाद से 'विशुद्ध-सत्त्वमय' स्थिति को प्राप्त करता है और आनन्दावेग मे उसे अभिव्यक्त भी करता है। पर उस 'अभिव्यक्ति' से उस 'अनुभूति' का सम्यक् निरूपण नही हो पाता क्योंकि, वह जिस सूक्ष्म अथवा 'पर' जगत् मे विचरण करता है, उसको, उसकी अनुभूति को, स्थूल अथवा 'अपर' सामग्री द्वारा कैसे व्यक्त करे ? इसलिए कुछ साधक तो 'मौन व्याख्यान' द्वारा ही शिष्यो के सशयों का उच्छेद करते हैं, तो कुछ लड़खड़ाती हुई अभिव्यक्ति के सहारे अपनी 'अनुभूति' को सर्वगम्य बनाने का प्रयत्न करते

---

१. 'अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यो गूँगे मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै ॥
परमस्वाद सब ही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी कौ अगम अगोचर सौ जाने जो पावै ॥ 'सूरसागर' (प्रथम स्कन्ध), पद २
'मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कविकुल अगम करम मन बानी ॥
अगम सनेह भरत रघुबर कों। जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को ॥
'रामचरित मानस', २।२४१।१

२. 'मौन-व्याख्या-प्रकटित-परब्रह्मतत्त्वम् युवानाम्।' 'दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र :'

३. 'चित्र वट-तरोर्मूले वृद्धा : शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौन व्याख्यानं शिष्यास्तु च्छिन्न-सशयाः ॥' 'दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र.'

४. 'शब्दानां प्रवृत्तिर्वैखरी प्रमुखा वाग्वृत्तिः। उक्तं च
'वैखरी शब्द निष्पत्तिर्मध्यमाश्रुतिगोचरा.।
द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥' 'कुमार सम्भवम्' २।१७
(मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत)

हैं। आध्यात्मिक विषय की अभिव्यक्ति आधिभौतिक के माध्यम से उसी प्रकार की है, जैसे नीलोत्पल की कोमल पत्र-धारा से कठोर शमीलता का कर्तन।[1] हम देखते है कि जो विषय प्रत्यक्ष इन्द्रियगम्य नही होते, उनके वर्णन मे भाषा की अभिधा-शक्ति स्वभावत. कुण्ठित दिखाई देती है।[2]

अभिव्यक्ति की उक्त चिरन्तन समस्या का समाधान प्रस्तुत करने के लिए मनीषियो, कवियो, साधक-संतो ने समय-समय पर वाणी को जो शैलियाँ प्रदान की है, उनमे 'प्रवल्हिका'[3], या 'प्रवल्हिता'[4], 'कूट'[5] या 'दृष्टकूट', 'सध्धा या सन्ध्या भाषा'[6], 'उलटा बाउल', 'भारूड', 'रिडिल' 'पैरेबिल' - आदि उल्लेखनीय है। इनमे अभिव्यक्ति का ऋजु-मार्ग न अपनाकर बुद्धि-साध्य अतिक्रान्त उक्ति अथवा विरोधमूलक-वक्रता का सहारा लिया जाता है। इसी उद्देश्य से निरुक्तकार ने संहिता-मत्रो को तीन वर्गों मे रक्खा है।[7] नाथ-संतो की 'बानियो' मे प्रयुक्त यह शैली 'उलटवाँसी' नाम से प्रसिद्ध है।[8]

'उलटवाँसी' के समानार्थक शब्द :

'उलटवाँसी' शब्द का प्रयोग आधुनिक युग की उपलब्धि है। सतो की, विशेषरूप से कबीर की, अटपटी अभिव्यक्ति को किस आधार पर 'उलटवाँसी' कहा गया इसका कोई प्रामाणिक निर्णय सभव नही। सत परम्परा की गद्दियो पर 'अटपटी बानी' को 'उलटवाँसी' या इसके निकटवर्ती नाम से पुकारने की परम्परा का अवलोकन साहित्यिको ने किया है और सम्प्रदाय से चलकर, शैली विशेष के लिए, साहित्य मे 'उलटवाँसी' नाम प्रचलित हुआ है।

---

१ 'ध्रुव स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलता छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।' 'अभिज्ञानशाकुतलम्', १।१६

२. 'सुगम अगम मृदु मजु कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे।।
ज्यो मुख मुकुर मुकुरु निज पानी। गहि न जाइ अस अदभुत बानी।।'
'रामचरितमानस', २।२६४।२

३ 'अथ प्रवल्हिका षट्।' 'अथर्ववेद', २०।१३३

४ 'यच्च किंचित् प्रवल्हितमादित्य कर्मैव तत्।' 'निरुक्तम्', ७।११

५ 'वाच कूटेनैकपदया वल विरुज्य।' 'ऐतरेय ब्राह्मण', ६।२४ , 'शतपथब्राह्मण,३।८।१

६ 'सन्ध्या हि भाषा जयतीह यस्यावदन्ति सिद्धा परमार्थतत्त्व।'
'सन्ध्याभाष महाभाष समयसकेत-विस्तर।'
'वज्रगर्भ महासत्त्व यन्मया कथित त्वयि।
तत् सर्वं सादर ग्राह्य सन्ध्याभाष महाद्भुत।।' 'हैवज्रतन्त्र', डॉ० बागची द्वारा प्रस्तुत 'चर्यागीतिकोष' 'उपोद्घात' मे से उद्धृत।

७. 'ता त्रिविधा. ऋच। परोक्षकृता प्रत्यक्षकृता. आध्यात्मिक्यश्च।' 'निरुक्तम्' ७।३

८. 'उलटबास सतन ने भाखी। जाकी समझ सूर कोई राखी।'
'घटरामायण' भाग २, पृ० १४२

'उलटबाँसी' शब्द, शैली के रूप में, अपने विभिन्न नामों द्वारा हिन्दी-साहित्य के आदिकाल से ही प्रयोग मे आता रहा है। गोरखनाथ का कहना है कि 'जो पवन को उलटकर वाणी को पलट देते हैं, वे ब्रह्म-ज्ञानी होकर अमृत का पान करते हैं।'[1] ऐसी वाणी को गोरख ने 'उलटी चरचा'[2] नाम दिया है। उन्होंने गुरु-विहीन लोक के द्वारा साधना-जन्य गुरुता प्राप्त कराने के लिए 'उल्टीथापना'[3] स्थापित की है। गोरखनाथ के पश्चात्, उपलब्ध 'वानियों' मे, कबीर का ऐसा व्यक्तित्व है, जो विवेच्य-शैली के प्रयोग के लिए सर्वप्रमुख कहा जा सकता है। कबीर ने अपनी वानियों में 'उलटबाँसी' का प्रयोग न करके 'उलटिवेद' या 'उलटा वेद'[4] शब्द का प्रयोग किया है। सन्त सुन्दरदास ने 'विपर्जय को अंग' (विपर्यय) नाम से, इस शैली मे पृथक् से ही दोहे और सवैया छंद लिखे है, जिनमे 'उलटबाँसी', के समकक्ष 'उल्टीबात', 'उलटीरीति', 'उलटीगंग', 'उल्टा ख्याल',[5] आदि नाम प्रयुक्त हुए है। पलटू साहब की 'बानी' मे 'उलटावती' नाम से एक वर्ग मिलता है, जिसमें कुछ उलटबाँसियों का संग्रह है।[6]

उन्नीसवी शती मे आकर 'उलटबाँसी' जैसा 'उलटमार्सी' शब्द का प्रयोग संत तुलसी साहब (हाथरस वाले) ने किया है। उक्त वर्ग शीर्षक मे कुछ उल्टबाँसियों का संग्रह है।[7] आपने 'उलटीरीति', 'उलटा सब्द', 'उलटीचाल', 'उलटवास', आदि शब्दों का प्रयोग भी किया है। एक स्थान पर आपने इस शैली के प्रयोग का रहस्य भी बताया है।[8] इनके अनुसार ऐसी वाणी स्वयं मे 'सुलटी' होने पर भी लोक को 'उलटी' प्रतीत होती है, परन्तु समझने पर 'उलटी' लगने वाली वाणी स्वय ही 'सुलटी' हो जाती है।[9]

---

१. 'उलटत पवन पलटत बाणी। अपीव पीवत जे ब्रह्मज्ञानी॥' 'गोरखबानी', पृ० ३२

२. 'नगरी कौ पांणी कूई आवै, उलटी चरचा गोरष गावै।' 'गोरखबानी', पृ० १४२

३. 'निगुरी पिरथी परलै जाती, तार्थे हम उल्टी थापना थापी।' 'गोरखबानी', पृ० ५०

४ 'है कोई जगत गुर ग्यानी, उलटिवेद बूझै।' 'कबीर ग्रथावली', पृ० १४१
'है कोई गुरुज्ञानी जगत (मह) उलटि वेद बूझै।' 'कबीर बीजक', पृ० २३८

५ 'सुन्दर उलटी बात है समुझै चतुर सुजांन।'
'जाको अनुभव होइ सु जानै सुन्दर ऐसा उलटा ख्याल।'
'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खड), पृ० ५०४

६. 'पलटू साहेब की बानी' (पहला भाग), पृ० १७७

७. 'तुलसी साहिब-शब्दावली और जीवनचरित' (पहला भाग), पृ० १३६

८. 'उलटीचाल संत की बोली। बिन परचे को परदा खोली॥
अस उलटी उन कही अगूढा। पडित भेष न जाने मूढा॥'
'घटरामायण' (भाग २), पृ० १४२

९. 'उलटवास सन्तन ने भाखी। जाकी समझ सूर कोई राखी॥
सुलटी को उलटी कर बूझा। उलटी सुलटी समझ न सूझा॥
अब याको इक सब्द सुनाऊँ। उलटि सुलटि वोहिसों दिखाऊँ॥'
'घटरामायण' (भाग २), पृ० १७७

'उलटवाँसी' के समकक्ष शब्द :

उक्त शब्दो के अतिरिक्त 'उलटवाँसी' के समकक्ष अन्य शब्दो का व्यवहार भी सतो की बानियो मे देखने को मिलता है, जिनमे 'उलट' पद का प्रयोग नही है। ये प्रयोग 'उलटवाँसी' शैली के लक्षण, प्रयोजन आदि के निर्धारण मे सहायक हुए है। कबीरदास ने 'अकथ कथा', 'अकथ कहानी'[1], धनी धरमदास ने 'अचरज ख्याल'[2] मलूकदास ने 'अजब कथा'[3], जगजीवन साहब ने 'न्यारी कथा'[4], यारी साहब ने 'भेद की बात,'[5], दरिया साहब (बिहार वाले) ने 'छपलोक की बात'[6], दरियासाहब (मारवाड़ वाले) ने 'अनहद वानी'[7], दूलनदास ने 'गुप्तमर्म या गुप्तमत की वात'[8], बुल्ला साहब ने 'अचरज'[9], चरन दास ने 'गुप्तमते की वात'[10], दयाबाई ने 'अटपटी वात'[11], भीखा साहब ने 'अकथ कथन'[12] आदि शब्दो के प्रयोग किये है। राधास्वामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक सत शिवदयाल की बानियों मे 'मर्म अतोली', 'अतरमुख शब्द', 'उल्टीबात' आदि का प्रयोग है।'[13]

आलोचकों की दृष्टि में 'उलटवाँसी' शब्द :

टीकाकारो तथा आलोचको की दृष्टि इस शैली विशेष की ओर कम ही गई है। आचार्य शुक्ल ने 'उलटवाँसी' शब्द पर कोई समीक्षा नही दी। केवल कबीर की

---

१ 'कह कबीर यहु अकथ कथा है, कहता कही न जाई।'
'अकथ कहाणी प्रेम की, कछु कही न जाई।' 'कबीर ग्रंथावली' पृ० ६३ तथा १३६
२ 'अचरज ख्याल हमारे देसवा।' 'धनी धरमदासजी की शब्दावली', पृ० ३२
३ 'या नैया के अजब कथा, कोइ बिरला केवट जाने।' 'मलूकदास जी की बानी, पृ० ३
४ 'अकह की यह कथा न्यारी, सीखा नाही आन है।' 'जगजीवन साहेब की शब्दावली' (दूसरा भाग), पृ० ४७
५ 'वह भेद की बात अवर हैरे, यह बात मेरे नहिं मन भावै।' 'यारी साहब की रत्नावली', पृ० १७
६ 'छपलोक की बाते कहेऊँ। केवल हस हिरवर रहेऊँ॥' 'दरिया सागर,' पृ० ४६
७ 'अनहद वानी अगम खेल।' 'दरिया साहब की बानी', पृ० ३७
८ 'साईं तेरो गुप्त मर्म हम जानी, कस करि कही बखानी।' 'दूलनदासजी की बानी', पृ० ५
९. 'जो यह अचरज देह बुझाई। सोई सतगुरु अगम कहाई॥' 'बुल्ला साहेब का शब्द-सागर', पृ० १४
१० 'गुप्तमते की वात हैली जानै सोई जानै।' 'चरनदास की बानी' (भाग दूसरा), पृ० १८
११. 'रोय रोय गावत हँसत, दया अटपटी वात।' 'सतबानी सग्रह' (भाग १), पृ० १७२
१२. 'अविगति गतिन को अकथ कथन।' 'भीखा साहब की बानी', पृ० २०
१३ 'सत विना को बूझि है, यह मर्म अतोली।'
'अतरमुख शब्द मे लेगे बूझ बुझाय।'
'उलटी बात सभी कह् गाऊँ।' 'सारबचन-छद बंद' (दूसरा भाग), पृ० ४५६-६४

वाग्वैचित्र्य-सम्बन्धी उक्तियों के बारे में लिखा है—'इनकी उक्तियो में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगो को बहुत आकर्षित करता है। . अनेक प्रकार के रूपको और अन्योक्तियों के द्वारा ही इन्होने ज्ञान की बातें कही, जो नई न होने पर भी वाग्वैचित्र्य के कारण अपढ लोगो को चकित किया करती थी।'[१] डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इस शब्द के सम्बन्ध में कुछ न कहकर इस शैली के वर्ण्य-विषय का कुछ सकेत दिया है—'कबीर की चमत्कारपूर्ण उलटवाँसियाँ भी रहस्यपूर्ण है। .....भव-जाल मे पडे हुए मनुष्यों की इस उलटी अवस्था को विशेषकर कबीर ने अपनी उलटवाँसियों द्वारा व्यजित कर लोगो को आश्चर्य मे डाला है।'[२] इस कथन से इतना साक्ष्य मिलता है कि उन्होने 'उलटवाँसी' मे 'वाँ' ध्वनि को ठीक माना है। निर्गुण साहित्य के मर्मी विद्वान् डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने सतो द्वारा प्रयुक्त उलटवाँसी के लिए 'उल्टवाँसी' और बहुवचन मे 'उल्टवासियाँ'[३] शब्दो के प्रयोग किये हैं। इससे लगता है कि उन्होने चन्द्र-विन्दु अथवा अनुस्वार रहित 'वा' ध्वनि तथा 'ल्' व्यंजन से बना हुआ 'उल्टवासी' शब्द ठीक माना है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'ब' ध्वनि का प्रयोग किया है।[४] डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'उल्टवाँसी' रूप में इस शब्द का प्रयोग किया है।[५] डॉ० रागेय राघव ने, आचार्य द्विवेदी के समान ही, विवेच्य शब्द का 'उलटवासी' रूप अपनाया है।[६] इनके अतिरिक्त बगला साहित्य के विद्वान् डॉ० शशिभूषण दास गुप्त ने 'उल्टावाँसी'[७] तथा प्रसिद्ध दार्शनिक प्रो० आर० डी० रानाडे ने 'उलटवाँसि'[८] रूप मे इस शब्द का प्रयोग किया है।

पण्डित परशुराम चतुर्वेदी ने 'उलटवाँसी' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे विचार किया है। उनका कहना है कि 'उलटवाँसी शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे ठीक पता नही चलता और न यही जान पडता है कि इसका व्यवहार किस समय से होता आरहा

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ७३-७४.
२. 'कबीर ग्रन्थावली', प्रस्तावना, पृ० ६६
३. 'हिन्दी काव्य मे निर्गुण संप्रदाय', पृ० ४०६
४. 'जितनी उलटवाँसियाँ हैं उनमे साधारणतः विपरीत भाव देखने पर योगशास्त्रीय परिभाषाओ का ही व्यवहार है।' 'कबीर', पृ० ८५
५. 'कबीर का रहस्यवाद', पृ० ३, ७, २६
६ 'गोरखनाथ और उनका युग', पृ० २०७-८
७. 'एनिगमेटिक पोइम्स ऑफ दिस नेचर आर फाउण्ड एवण्डेण्टली इन द वर्क्स ऑफ कबीर एण्ड दीज आर जैनरली नोन एज़ 'उल्टावाँसी'।'
'ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स', पृ० ४१७
८. 'दिस इज़ सिम्पिली एन 'उलटवाँसि' और एन एलेगरी टु रिप्रजेन्ट ए. फण्डामेण्टल थौट इन ए सीमिंगली पैराडौक्सीकल फैशन।'
'पाथ वे टु गोड इन हिन्दी लिटरेचर,' पृ० १०५

है। .. उलटवाँसी शब्द के इस अर्थ का समर्थन उसे 'उलटा' एवं 'वाँस' शब्द द्वारा निर्मित मानकर भी किया जासकता है, जिस दशा में उसका ठीक-ठीक शब्दार्थ वैसी रचना के अनुसार होगा जिसका वाँस (पार्श्वभाग या अग) उलटा या विपरीत ढग का पाया जाय।"[1] इस उद्धरण से इतना निश्चित है कि श्री चतुर्वेदी जी ने 'उलटवाँसी' रूप मे इस शब्द को ठीक माना है। डॉ० सरनाम सिंह शर्मा ने 'व' ध्वनि का प्रयोग करते हुए इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—

'मेरी समझ मे इस शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हो सकती है—एक तो 'उलटवासी' सयुक्त शब्द से और दूसरी 'उलटवास' से सम्बन्धित। पहले शब्द 'उलटवाँ' का अर्थ 'उलटी हुई' और 'सी' का अर्थ समान है, अतएव 'उलटवाँसी', का अभिप्राय हुआ 'उलटी हुई प्रतीत होने वाली उक्ति।' दूसरी 'उलटवास' शब्द से। 'परमपद' या आध्यात्म लोक मे रहने वाले का निवास वास्तव मे 'उलटवास' है। इससे सम्बन्धित वाणी 'उलटवासी' वाणी कहला सकती है। .... इस शब्द मे 'आ' के ऊपर जो सानुनासिकता दिखाई पडती है वह अकारण है।'[2]

उक्त विवेचन से इतना स्पष्ट है कि अधिकाश आलोचक 'व' ध्वनि के प्रयोग के पक्ष मे है।* साथ ही यह भी निश्चित है कि इस शब्द का प्रचलन वहुत प्राचीन नही है। उन्नीसवी शती के प्रारम्भ मे सतो, सम्प्रदाय विशेष के अनुयायियो अथवा टीकाकारो ने, जिन्होने इस प्रकार की रचना का अभिप्राय समझा होगा, वाणी की इस शैली का नाम 'उलटवाँसी','उलटमासी', या 'उलटवाँसी' दे दिया होगा, जो चलते-चलते लोकप्रिय हो गया है।

'उलटवाँसी' शब्द की व्युत्पत्ति .

शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे, अन्तर्बाह्य साक्ष्यो के आधार पर, कुछ तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते है, जिनमे इसका सम्बन्ध 'वाँस', 'वास', 'वंशी', 'वाणी' या 'वाची', 'सी' आदि पदो से हो सकता है। ये तथ्य इस प्रकार है—

(१) 'व' और 'व' मे ध्वनियों तथा अनुस्वार (ं) और अनुनासिक (ँ)[3] के प्रयोग

---

१. 'कबीर साहित्य की परख', पृ० १५१-५२
२ 'कबीर-एक विवेचन', पृ० ३२२
* इस सम्बन्ध मे द्रष्टव्य है डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा डॉ० ओम्प्रकाश आदि के तत्सम्बन्धी विशेष कथन।
३ 'अनुनासिक स्वर का चिह्न (ँ) चन्द्रबिन्दु कहलाता है। .....अनुनासिक व्यजनो के बदले मे विकल्प से अनुस्वार आता है।......दीर्घ स्वर के पश्चात् आनेवाला अनुस्वार अनुनासिक के समान वोला जाता है। लिखने मे वहुधा अनुनासिक अ, आ, उ और ऊ मे ही चन्द्रबिन्दु का प्रयोग किया जाता है।"
कामताप्रसाद गुरु, 'हिन्दी व्याकरण', पृ० ३६, ३९-४०

में अन्तर नहीं समझा जाता, अतः उलटवाँस के आधार पर विकसित हुआ 'उलटवाँस' तथा स्त्रीलिंग में उलटवाँसी शब्द सिद्ध होने की संभावना है। ऐसी रचना में कुंडलिनी-मार्ग का 'उलटवाँस'[1] के रूप में वर्णन मिलता है। संत गुलाल साहब (१८वीं शती के अन्त तथा १९वीं शती के प्रारम्भ में) का कहना है कि 'यह सब अर्ध उर्ध का खेल है, जिस पर 'उलटि के धावना' है।'[2]

(२) उलटवाँसी शब्द का प्रचलन, उलट+वास=उलटवास करने वाले साधक के लिए प्रयुक्त उलटवासी संज्ञापद के रूप में हुआ होगा और उसकी वाणी को, गुण-गुणी सम्बन्ध के आधार पर, उलटवासी या 'उलटवाँसी' कहा गया होगा।[3] इस रूप में अनुस्वार का प्रचलन प्रयोग में अकारण माना जा सकता है। ऐसा साधक जो लोक-क्रम के अनुसार संसार में 'सीधा वास' न करता हो, प्रत्युत अपनी वृत्ति को उलटकर 'घट-मठ' या अध्यात्म लोक में निवास करता हो, उसकी वाणी 'उलटवाँसी' है। इसमें, वास या निवास के आधार पर शब्द में प्रयुक्त 'व' ध्वनि ठीक प्रतीत होती है।

(३) उलटवाँसी शब्द का सम्बन्ध उलट+वंशी से विकसित होकर उलट+बाँस-(या बाँसुरी) से भी हो सकता है। अतः शब्द का विकास उलटवंशी>उलटवसी>उलटवाँसी या उलटवाँसी रूप में हुआ होगा। इस वंशी की ध्वनिका सम्बन्ध साधनात्मक 'अनहदनाद' से रहा होगा।[4] ऐसी ध्वनि सामान्य जीवन में कर्णगोचर न होकर साधकों को ही सुसंवेद्य

---

१. 'चढ़िकै बाँस पर धाइ सहर कै बिचै गड़ाई।'
'पलटू साहिब की बानी' (भाग १), पृ० २६
'गाड़ि ज्ञान को बाँस सुरति को डोर है। चढा खिलाडी धाय जगत में सोर है।'
वही, (भाग २) पृ० ७८
'सातहि पाँरि को बाँस कह्यो, सोइ बाँस को भेद बतावौ आई।
जंगल के बीच बाँस बसै, की कह्यौ बाँस जो और है भाई॥'
घटरामायण (भाग १), पृ० १३१
'साल्हकुवर करहइ चढ़यउ, बाँसइ चाढी नार।' 'ढोलामारूरा दूहा' (संख्या ६२५)
२. 'अर्ध-उर्ध को खेल उलटि के धावई।' 'गुलाल साहेब की बानी,' पृ० ६६
३. 'उलट वास संतन ने भाखी। जाकी समझ सूर कोइ राखी॥
सुरति जब उलट कर बूझा। उलट की सुलट कर सूझा॥
तुलसी तन बीच में हेरा। सुरति मन बुद्धि को फेरा॥
कहन कछु और विधि राखै। उलट की सुलट कर भाखै॥'
'घटरामायण' (भाग २), पृ० १७७-७८
४. 'बाजत अनहद बांसुरी तिरबेनी के तीर।' 'संत बानी संग्रह' (भाग १), पृ० १२०
'बंसी बाजी गगन में मगन भया मन मोर।' 'पलटूसाहिब की बानी' (भाग १), पृ०२६
'नाद की बांसुरी सोर लाया।' वही, (भाग २), पृ० ३४

होती है। इस अर्थ मे इस ध्वनि के अनुभवो को अभिव्यक्त करने वाली वाणी भी उल्टवाँसी कही जा सकती है।

(४) उलटवाँ+सी इस सयुक्त शब्द के रूप मे इसका अर्थ ऐसी वाणी से है, जो 'उल्टी हुई के समान' (उलटवाँ उक्ति) या 'उलटी हुई सी' प्रतीत हो। इस अर्थ मे सतो की विरोधमूलक वाणी उलटी हुई सी लगती है, परन्तु कथ्य को समझने पर इसके उलटे अग का परिहार स्वय ही हो जाता है। इसी अर्थ मे सत तुलसी साहब ने इसे नासमझ केलिए 'उलटी' तथा समझदार के लिए 'सुलटी' कहा है।[1]

(५) उलटवाँसी शब्द की व्युत्पत्ति उलट+वाची[2] अथवा उलट+वाशी[3] रूप मे सभव है। 'वाशी' या 'वासी' शब्द सामान्य ध्वनि या वाणी के लिए प्रयुक्त मिलता है। इस प्रकार 'उल्टवाशी' या 'उलटवासी' उलटीवाणी के रूप मे प्रचलित हुआ होगा, जिसका 'उलट' पद हिन्दी का तथा 'वाशी' या 'वासी' शब्द परम्परागत वैदिक मूल का है। ऐसी वाणी प्रचलन मे विवेच्य शैली के लिए स्वीकृत हुई। 'उलटवाशी' या 'उलटवाँसी' मे कथन उलटा-सा रहता है। सन्तो का विश्वास है कि इस भव-सागर की धारा से पार उतरने और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए ऐसी वाणी सहायक होती है। इस अर्थ मे यह 'पारमार्थिकीवार्ता'[4] है।

(६) व्याकरण की दृष्टि से 'उलटवाँसी' विशेषण अथवा सज्ञाशब्द है जो स्त्रीलिग के एक वचन मे प्रयुक्त होता है।

---

१ 'अली इक बात सुन सुलटी। बिना समझे लगे उलटी ॥
कही सब संत ने बोली। गूढ मत गुप्त नहिं खोली ॥'
'घटरामायण' (भाग २), पृ० १७७

२ 'उलटवाँसी=उलट+वाची, साहित्य मे ऐसी उक्ति या कथन (विशेषत. पद्यात्मक) जिसमे असगति, विचित्र, विभावना, विषम, विशेषोक्ति आदि अलकारो से युक्त कोई ऐसी विलक्षण बात कही जाती है जो प्राकृतिक नियम या लोक-व्यवहार के विपरीत होने पर भी किसी गूढ़ आशय या तत्त्व से युक्त होती है।'
'मानक हिन्दी कोश' (पहला खण्ड), पृ० ३८०

३ 'प्राची वाशीव सुन्वते मिमीत इत्' ऋग्वेद ८।११।१२, 'वाशीव वाङ्नामेतत्। स्तुति रूपा वाक् सुन्वते।' सायण। 'वाशी—वेद, रोरिंग क्राइ। आल्सो रिटिन एज 'वासी', 'सकीलकवचा. सर्वे वासीवृक्षादनान्विता।' (महाभारत, ५।१५५।८), वासम्, सीच, मो० विलियम्स- 'सस्कृत इगलिश डिक्शनरी' (पार्ट III), पृ० १८१६, 'सस्कृत इगलिश डिक्शनरी, वी० एस० आप्टे, पृ० ८८९

४ 'इयरीति सासारिकी न तु पारमार्थिकी वार्ता।' 'गोरक्षसिद्धान्त सग्रह', पृ० ५८

उलटवाँसी शैली का स्वरूप

उलटवाँसी शैली का स्वरूप निर्धारित करने के लिए अन्तर-बाह्य साक्ष्य मिलते हैं। ये साक्ष्य प्रयोक्ता संतो और उलटवाँसी शैली के आलोचकों द्वारा दिए गए हैं।

(अ) प्रयोक्ताओं के कथन-साक्ष्य .

उलटवाँसी शैली का प्रयोग सहजयानी सिद्धों, नाथयोगियो तथा सत कवियो द्वारा वैविध्य के साथ हुआ है। इस शैली के प्रयोक्ता साधक वे है, जिन्होने आध्यात्मिक अनुभूतियो को, वाणी के सकेतो के माध्यम से, अभिव्यक्त किया है। इस रचना-पद्धति की कतिपय अपनी विशेषताएँ है।

उलटवाँसियाँ बहुधा 'अटपटी बानियो' के रूप मे रची गई है, जिसके कारण इनके गूढ आशय को समझ पाने वाला, सुनकर, आश्चर्य से अवाक् रह जाता है। गुरु की कृपा से, विचारपूर्वक सकेतो को समझ लेने पर, कथन के पीछे निहित रहस्य स्वत: ही उद्भासित हो जाता है। उस समय श्रोता या पाठक को एक विशेष प्रकार की मानसिक तृप्ति का अनुभव होता है।[1] यह इस शैली की रूप-रचना अथवा प्रयोक्ता की विशेष मानसिक स्थिति की विशेपता है। वर्ण्य-विषय के कारण यह तृप्ति या सुखद अनुभूति पहेली, समस्यापूर्ति, दृष्टकूट आदि से प्राप्त सुखानुभूति से भिन्न होती है; क्योकि, 'उलटवाँसी' पद के अर्थ को समझने से प्राप्त तृप्ति का स्थायित्व इनसे कही अधिक होता है। उलटवाँसियो मे किसी न किसी प्रकार से जीवन और जगत् की समस्या पर विचार प्रकट किया जाता है। अत. इस जानकरी में जो तन्मयावस्था होती है, वह रसावस्था तथा ज्ञानावस्था के समकक्ष है।

उलटवाँसियो मे रहस्य, चमत्कार या अद्भुत की मात्रा विशेष रूप में रहती है और इस रहस्य या अद्भुत तत्त्व का वहन प्रतीको के माध्यम से होता है। सामान्यत: सभी अनुभव अनिर्वचनीय होते हैं; 'आध्यात्मिक अनुभव की अनिर्वचनीयता के कारण साधक को कभी-कभी परस्पर विरोधी उक्तियों द्वारा व्यक्त करने का ढंग अपनाना पड़ता है।'[2] लोकोत्तर अभिव्यंजना के आधिक्य एवं उसकी अनिर्वचनीयता मे उस परम अनुभूति की

---

१. देखिए—'कबीर साहित्य की परख', पृ० १५०
२. 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृ० ४०६

दशा को संतो ने 'गूँगे के गुड़' के समान बताया है।[1] अतः कहा जा सकता है कि संतों द्वारा प्रयुक्त इस शैली का वर्ण्य-विषय अनिवर्चनीय है, जिसको अभिव्यक्ति के लिए सामान्यतः उसके अभिधात्मक रूप मे असम्बद्धकथन की योजना रहती है। उलटवाँसी रचना की कतिपय सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार है—

(१) उलटवाँसियाँ 'पद',[2] शब्द (सबद-सब्द), रमैनी, कुँडलिया, सवैया, अरिल्ल, दोहा (साखी, सबदी)* आदि छन्दो मे लिखी मिलती है। अर्थगाम्भीर्य की दृष्टि से विशेष छन्द का प्रयोग महत्त्वपूर्ण नही दिखाई देता। सामान्यत. पदो मे रची गई उलटवाँसियाँ प्रभावोत्पादक और अधिक लोकप्रिय हुई है।

(२) उलटवाँसी रचना ('पद' आदि छद) की दूसरी विशेषता है कि इसकी प्रथम एक या दो 'टेक'[3] वाली पक्तियो मे तथा अन्तिम पक्ति मे वर्ण्य-विषय की ओर कुछ

---

१. 'कहहिं कबिर गूँगे गुर खाया, पूछे से का कहिया।' 'कबीर बीजक', पृ० १४४
दादू सब हैरान है, गूँगे का गुड खाय।' 'दादूदयाल की बानी' (भाग१), पृ० ८५
'जाकौ अनुभव होय सो जानै।' 'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड), पृ० ५१०
सो तस देखि मस्त मन ह्वैगा, कहि नहिं जात पुकारी।'
'जगजीवन साहेब की शब्दावली', पृ० ११६
'बानी थकि बुधि हू थकै हेली अनभै थकि जाय।'
'चरनदास की बाणी' (भाग २), पृ० ५२
'गरीबदास यह अकथ कहानी, ज्यूँ गूँगा गुड खावै।'
'गरीबदास की बानी', पृ० १३७
'बरनौ कवनी जुक्ति से, कछु उक्ति न आवै।' 'गुलालसाहिब की बानी', पृ० ४३
यह अचरज का से अब कहिये, जिन देखा सोई जानै।
होइ अचरज अचरज को खोजै, तब अचरज पहिचानै।।'
'पलटूसाहिब की बानी' (भाग २), पृ० ४१

२ 'कबीर साहिब की रचनाओ मे एक अन्य प्रकार का काव्य प्रकार, जो बहुत प्रसिद्ध है, 'पद' अथवा 'सब्द' है। इसे कही कही 'बानी' भी कहा गया है। 'आदिग्रथ' एव 'कबीर ग्रथावली' मे इसे 'पद' कहा गया है। 'कबीर बीजक' मे इसे 'सब्द' कहा है।' 'कबीर साहब के पद वा सब्द (शब्द) भी गेय कहे जा सकते है और ये प्राय भजनो मे भी सम्मिलित किये जाते है।'
'कबीर साहित्य की परख', पृ० १८९ तथा १९१

* टिप्पणी—सबदियो मे प्राय दो ही पक्तियाँ होती है, परन्तु एकाध उदाहरण ('गोरखबानी' सबदी सख्या १४२) एक पक्ति का भी मिल जाता है।

३. 'कबीर ग्रन्थावली' मे 'ध्रुव' के लिए 'टेक' शब्द का प्रयोग हुआ है जो 'रहाउ' की ही भाँति, रुकावट पडने का भाव व्यक्त करता है।'
'कबीर साहित्य की परख', पृ० १९१

विशेष संकेत रहता है। प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त सम्बोधन से पाठक या श्रोता का ध्यान स्वयं ही विषय की ओर उन्मुख होने लगता है। सम्बोधन के आधार पर वक्ता-श्रोता के बीच कथोपकथन का सा आभास होने लगता है।[1]

(३) उलटवाँसी पद की प्राय. अन्तिम पंक्ति मे बूझै, बूझौ, बुझ-बुझ, बतावै, अरथावै, विचारै, आदि क्रियापदों के प्रयोग में, अर्थोद्बोधन के लिए, वक्ता का स्वर चुनौती पूर्ण सा प्रतीत होना है।

(४) सतो, लोगो, अवधू, पडत, पाडे, विरला, गुरुज्ञानी, जोगी, भाई, कबीर आदि सम्बोधन शब्दो से श्रोताओ (अनुगामी साधक, प्रतिद्वन्द्वी अथवा भव-चक्र मे पडे हुए जीव) की सामाजिक तथा साधनात्मक स्थिति की ओर सकेत मिलते है, साथ ही वक्ता का आत्म-विश्वास भी प्रकट होता है।

(५) उलटवाँसी रचना-शैली के माध्यम से विरोधाश्रय के रूप मे, परम्परावादी पद्धति का उल्लंघन तथा विचारपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए प्रभावात्मक भाषा मे उपदेश रहते है, क्योंकि, 'जो भेरे पर आरूढ होकर सागर को संतरण करना चाहते है, वे मझधार मे डूबते हैं और जो निराधार होते है वे पार हो जाते है। पथ का अतिक्रमण करने वाले गन्तव्य पर पहुँच जाते है और लीक पर चलने वाले बीच ही मे लूट लिए जाते हैं।'[2]

(६) उलटवाँसी पदो की बीच वाली पक्तियो का भी प्रायः विशेषक्रम रहता है। उनमे या तो प्रथम पक्ति की निगूढता की व्याप्ति रहती है या आशय को ही विस्तार दिया जाता है, अथवा लोक-जीवन, प्रकृति-जीवन की कुछ असम्बद्ध क्रियाओं के वर्णन से अनुरक्ति, विरक्ति, माया, सिद्धि सम्बन्धी अनुभवो अथवा वैचारिक अवस्था का कथन रहता है। सिद्धि-जन्य आनन्द को विषय बनाकर लिखी गई उलटवाँसियो मे प्राय विरोधाश्रय नहीं रहता। उनमे रूपक-तत्त्व के माध्यम मे दिव्य-जीवन की अतिशयता प्रधान झाँकी रहती है।

(७) कुछ विशेष उलटवाँसी पदों को पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है जैसे पच या व्यासगद्दी पर बैठा हुआ प्रयोक्ता निर्भय होकर अपनी श्रेष्ठता तथा ससार से तटस्थ बने रहने की स्थिति को द्योतित कर रहा है और अपनी विशिष्ट शैली द्वारा श्रोताओं को आश्चर्य में डाल रहा है।

---

१. 'वक्ता कहे ओ सोता जानी। कहे कबीर वे दोनो ग्यानी ॥' कबीर

२ 'भेरे चढ़े सु अधवर डूबे, निराधार भये पारं ॥ टेक ॥
ऊघट चले सु नगरि पहूँते, बाट चले ते लूटे।' 'कबीर ग्रन्थावली', पृ० १४७

(८) उलटवाँसी पदो का शब्द-वैचित्र्य 'विस्मय'[1] (किसी विचित्र घटना के घटित होने या वर्णन से मानसिक निश्चय मे परिवर्तन या विक्रान्ति विस्मय अवस्था की सूचक है तथा, प्रत्यक्ष विचित्र दृश्य कौतूहल का कारण होता है।) का कारण होता है। विभिन्न प्रकार की विरोध मूलक असंगतियाँ अथवा अनिक्रान्त उक्तियाँ इस शब्द-वैचित्र्य के प्रश्रय में पुष्ट होती है।

उक्त विशेषताओं के सम्बन्ध मे प्रयोक्ता भेद मे साक्ष्य मिलते है। गोरखनाथ मे 'कथत विचार', 'अवधू बोल्या तत विचारी', 'मछिंद्र प्रसादै श्री गोरप बोल्या' जैसे प्रयोग ही अधिक मिलते है।[2] जिन पदो मे ऐसे वाक्याश मिलते है उनमे कथन की वक्रता और सत्यता के होते हुए भी सरलता का परित्याग नही रहता। परन्तु कही-कही 'बूझौ-पडित ब्रह्म गियान,' 'काया गढ जीतैगा विरला कोई'[3] जैसे प्रयोग भी मिल जाते है जिनमे चुनौती का विनम्र स्वर सुनाई देता है। कबीर की उलटवाँसियो मे, प्रथम और अन्तिम पक्ति की विशेषता तथा सम्बोधन आदि के प्रयोग मे चुनौती के स्वर की प्रवृत्ति भली प्रकार देखने को मिलती है—

'कहे कबीर या पद कौ बूझै, ताकू तीन्यू त्रिभुवन सूझै।' (ग्रथावली, पृ० ९२)
'कहे कबीर सो पडित ग्याता, जो या पदहि विचारै।' (ग्रथावली, पृ० ९२)
'कहे कबीर कोई विरला बूझै' (ग्रथा०, पृ० ११३)
'पडित होइ सो पदहि विचारै मूरिख नाहिन बूझै।' (ग्रथा०, पृ० १४०)
'कहे कबीर ताहि गुर करौ, जो या पदहि विचारै।' (ग्रथा०, पृ० १४१)
'ऐसा अद्‌भुत मेरे गुरि कथ्या मे रहया उभेषै।' (ग्रथा०, पृ० १४१)
'अवधू सो जोगी गुरु मेरा, जो या पद का करै निवेरा।' (ग्रथा०, पृ० १४३)
'कहे कबीर तास मैं चेला* जिनि यहु तरवर पेप्या।' ग्रथा०, पृ० १४३)
'कहहिं कबीर सुनहु हो सतो, बूझहु पडित ज्ञानी।' (बीजक, पृ० १२७)
पाँडे बूझि पियहु तुम पानी।' (बीजक, पृ० १५३)
'बुझ बुझ पडित पद निरवाना।' (बीजक, पृ० १५६)
'कहँहि कबीर हम जात पुकारा, पडित होय सो लेहु विचारा।' (बीजक, पृ० १६५)
'है कोई गुरज्ञानी जगत (महँ) उलटि वेद बूझै।' (बीजक, पृ० २३८)

---

१ 'विविधेपु पदार्थेपु लोकसीमातिवर्तिसु। 'विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृत.।' 'साहित्यदर्पण', ३।१७९-८०

२. 'गोरखबानी', पृ० १०८।

३ 'गोरखबानी', पृ० ११६।

* टिप्पणी—उलटवाँसियो मे, गुरू या प्रयोक्ता साधक श्रोता को आध्यात्मिक रहस्य समझाता है। अत कथ्य कथनशैली की निगूढता मे निहित रहता है। इस सम्बन्ध मे सतो की यह कसौटी रही है कि जो इस क्षेत्र के रहस्य को समझादे वही पण्डित है और वही शास्त्र ज्ञान का पारखी। उनकी दृष्टि मे ऐसे 'ग्यानी' का होना दुर्लभ है और जो ऐसा होता है, वे उसके चेला बनने को भी तत्पर रहते है।

यह प्रवृत्ति मात्राभेद से परवर्ती सभी संतों में देखने को मिलती है। 'अचरज' या अद्भुत तत्त्व को सम्यक् महत्ता देते हुए भी, पीछे के संतों में, चुनौती गर्भित स्वर की तीव्रता कम होती गई है। कुछ उदाहरण—

दादूदयाल— वारपार कोइ ना लहै, दादू है हैरान।[1]
मलूकदास— या नैया के अजब कथा हैं, कोइ विरला केवट जानै।'
'या पद का कोइ करै निवेरा, कह मलूक मैं ता का चेरा।'[2]
सुन्दरदास—'जो कोउ याकौ अर्थ विचारै सुन्दर सोई पावै स्वाद।'
'जाको अनुभव होइ सु जानै सुन्दर ऐसा उलटा ख्याल।'
'सुन्दर कहै सो पण्डित ज्ञाता जो कोउ या को जानै भेव।'
'सुन्दरदास कहै सो ज्ञानी जो कोउ या की करै विचार।'
'सुन्दर अर्थ अनूपम याको पंडित होइ सु करै विचार।'[3]
दरिया साहब—'काजी पंडित मरम न जानै, कोइ कोई विरला जानी।'[4]
भीखा साहब—'कुँजी सतगुरु पास कृपा करि खोलहिं जबही।
बूझहिं जेहि अविकार वस्तु देखलावहिं तबही॥[5]
तुलसी साहब—'बूझै बूझनहार घट निहारि अंदर लखै।'[6]
'बिरले मर्म कोइ पाई है, गुरु के सबद प्रमान।'[7]
'यह कोइ बूझै परमदास, भाव भगति जगसे उदास।'[8]

सुन्दरदास के उलटबाँसी या विपर्यय वर्ग के सभी सवैया-छंदों में सम्बोधन का प्रयोग नहीं के बराबर है। 'बूझै' आदि क्रियापदों का प्रयोग प्रायः अन्तिम पंक्ति में है। इतर संतों में ये क्रियापद अन्य पंक्तियों में भी मिलते हैं। इतना निश्चित है कि इस रचना में बूझै, बूझहु आदि क्रियापदों का प्रयोग रहने पर भी पहेली बुझौवल समस्यापूर्ति आदि के समान केवल मानसिक व्यायाम ही नहीं रहता, प्रत्युत अनुभूति की सम्यक् अभिव्यक्ति भी देखने को मिलती है। पर, इसके मर्म को समझने के लिए 'आचारी' से बढ़कर

---

१. 'संत बानी संग्रह' (पहला भाग), पृ० ८५
२. 'मलूकदास की बानी', क्रमशः पृ० ३, २४
३. 'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड), क्रमशः पृ० ५०८, ५१०, ५१८, ५२३, ५३१
४. 'दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी, पृ० ५१
५. 'भीखा साहब की बानी', पृ० ८१
६ 'घटरामायण' (भाग १), पृ० १८
७. 'वही' (भाग २), पृ० १७५
८. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग १), पृ० ८३

'विचारी' की अवस्था,[1] बानी के रहस्य को जानने के लिए जीवित ही मृतक होने की स्थिति का होना,[2] आवश्यक है। बिना 'मरजीवा' हुए ज्ञान रूपी 'लाल' की प्राप्ति सम्भव नही।[3]

(आ) आलोचकों के कथन-साक्ष्य .

विवेच्य वस्तु के आधार पर आलोचको ने, उलटवाँसी शैली के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ की है, जिनसे शैली के तत्त्व, प्रयोजन, प्रकृति-प्रवृत्ति आदि के सम्बन्ध मे निष्कर्ष निकालने मे सुविधा हुई है। सयोगवश, उलटवाँसी शैली का क्रमबद्ध विवेचन अपेक्षाकृत कम हुआ है। कुछ आलोचको ने, प्रसगवश, इस शैली की विषय-परक सीमा निर्धारित की है, विशेषकर कबीर की 'वानी' को माध्यम बनाकर। आलोचकों के कुछ कथन इस प्रकार है :—

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—'यद्यपि वे (कबीर) पढ़े-लिखे न थे, पर उनकी प्रतिभा बडी प्रखर थी, जिससे उनके मुँह से बडी चुटीली और व्यग्य चमत्कारपूर्ण बाते निकलती थी। इनकी उक्तियो मे विरोध और असम्भव का चमत्कार लोगो को बहुत आकर्षित करता था।'[4]

डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—'आध्यात्मिक अनुभव की अनिर्वचनीयता के कारण साधक को कभी-कभी विरोधी उक्तियो द्वारा व्यक्त करने का ढग अपनाना पडता है, जिन्हे उलटवासी, 'विपर्यय' कहते है।... कभी-कभी इन उलटवासियो का प्रयोग अर्थ को जानबूझ कर छिपाने के लिए हुआ करता है जिससे आध्यात्मिक मार्ग के रहस्यो का पता अयोग्य व्यक्तियो को न लगने पावे।'[5]

डॉ० श्यामसुन्दर दास— 'कबीर की उलटवॉसियाँ भी रहस्यपूर्ण है। ....भवजाल मे पड़े हुए मनुष्य की उलटी अवस्था को विशेषकर कबीर ने अपनी उलटवाँसियो द्वारा व्यजित कर लोगो को आश्चर्य मे डाला है।'[6]

---

१ 'कोटि अचारी एक विचारी, तऊ न सरभरि होइ।
आचारी सब जग भर्‌या, विचारी बिरला कोइ॥'
'दादूदयाल की बानी' (भाग १), पृ० १८१

२. 'गहु गुर ज्ञान विज्ञान बानी जीवत ही जग मे मरो।'
'गरीबदास की बानी', पृ० ८८

३ 'सो पावेगा लाल जाइ के गोता मारै।
मरजीवा ह्वै जाय लाल को तुरत निकारै॥'
'पलटू साहिब की बानी' (भाग १), पृ० ५३

४ 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृ० ७३

५. 'हिन्दी-काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय', पृ० ४०६

६. 'कबीर ग्रथावली',—भूमिका, पृ० ६६

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य के आदि प्रवर्तक तीन महाकवियो—चन्द, कबीर और सूरदास मे सबके सब एक विचित्र प्रकार की पद-रचना करते रहे। इन्हें दृष्टकूट, उलटवाँसी या विपर्यय कहते हैं।'[1]

'योगियो के पारिभाषिक शब्दो मे उल्टी बानी को प्रभावशाली और अद्भुत बना देने की शक्ति है।... जितनी उलटवाँसियाँ हैं, उनमे साधारण तौर से विपरीत भाव दीखने पर भी योगशास्त्रीय परिभाषाओं का ही व्यवहार है।'[2]

श्री परशुराम चतुर्वेदी—'ये उलटवाँसियाँ बहुधा अटपटी बानियो के रूप में रची गई होती हैं, जिस कारण इनके गूढ आशय को शीघ्र न समझने वाला इन्हे सुनकर आश्चर्य मे अवाक् रह जाता है और जब कभी इन पर ध्यानपूर्वक विचार कर लेने पर वह इनके शब्दो के पीछे निहित रहस्य को जान पाता है तो उसे अपार आनन्द होता है।'[3]

डॉ० भगीरथ मिश्र—'ज्ञान-विरह मे, ज्ञानी को मायालिप्त ससार मे सब व्यापार उलटे ढग पर ही होते दीख पडते हैं और सत्य के आधार पर आत्मा की रक्षा होती है। इसी ज्ञान-विरह की अवस्था मे ही 'उलटवासी' की तरह के कथन प्रसूत होते हैं।'[4]

डॉ० रामकुमार वर्मा—'कबीर की कविता मे कला का अभाव है। उनकी रचना मे पद-विन्यास का चातुर्य नही है। 'उल्टवाँसियो' मे क्लिष्ट कल्पना है, भाषा बहुत भद्दी है,..... वे धर्म की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए 'उल्टवाँसियाँ' लिखते थे और सकीर्णता दूर करने के लिए रेखते।'[5]

डॉ० धर्मवीर भारती—'उपमानो की विरोधात्मक योजना पर आधारित उलटवाँसियो की चमत्कारपूर्ण शैली सिद्धो के काव्य मे व्यहृत होती थी। .. इन उलटवाँसियो मे या तो पारस्परिक विरोधी धर्मवाले उपमानो का एकत्रीकरण होता था या उपमानो मे उनके स्वाभाविक धर्म के स्थान पर विरोधी धर्म का आरोप कर दिया जाता था।'[6]

डॉ० सरनामसिंह शर्मा—'इस (उलटवाँसी) का अर्थ-भार अभिधा-शक्ति न सभाल कर सकेत सभालते है जो प्रतीक मात्र होते हैं। इनका अभिप्राय वक्ता के मस्तिष्क

---

१. 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', पृ० ३३ } प्रथम पुस्तक में 'व' वर्ण तथा
२. 'कबीर' पृ० ८३, ८५ } द्वितीय मे 'ब' वर्ण छपा है
३. 'कबीर साहित्य की परख', पृ० १५०
४. 'निरंजनी संप्रदाय और संत तुरसीदास निरजनी', पृ० ३६
५ 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (सन्त काव्य), पृ० २६८
६. 'सिद्ध-साहित्य', पृ० ४६७

मे होता है और श्रोता उसको खोजता हुआ अनेक बार कही से कही पहुँच सकता है। सयोग या वक्ता की सहायता ही श्रोता को उसके पास पहुँचा सकती है।'[१]

'जहाँ साधनात्मक अथवा अध्यात्म विषयक अनुभूति नही है, अथवा जहाँ विरोधाभास नही है, वहाँ हमे उलटवाँसी की खोज नही करनी चाहिए।'[२]

डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित—'सतो ने उलटवाँसियो मे अत्यन्त दुरूह तथा गूढ योजनाओं को व्यक्त किया है। ऐसी उक्तियो मे प्रतीको के साथ ही रूपात्मकता का भी समावेश हो गया है।'[३]

डॉ० नगेन्द्र—'वास्तव मे उन्होने (कबीर ने) चमत्कार शैली का सप्रभाव प्रयोग किया है। व्यग्य और वक्रता की चमक उनकी 'सीधी' और 'उलटी' दोनो वाणियो मे मिलती है। मूलत तो रहस्यवादी होने के कारण काव्यशास्त्र के ध्वनिवाद से ही उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु रहस्यवाद की साकेतिक शैली तथा प्रतीक विधान मे वक्रता की भी स्पष्ट स्वीकारोक्ति है।'[४]

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—'कबीर साहब ने परमार्थतत्त्व, माया, जीव, जगत् आदि को लेकर प्रकतीकात्मक ढग मे वचन कहे है। जहाँ चमत्कार उत्पन्न करने की ओर इनकी दृष्टि गई है वहाँ इस साकेतिक शैली ने 'उलटवाँसी' का रूप धारण कर लिया है। साकेतिक पद्धति जहाँ स्पष्ट है वहाँ तो कोई बाधा नही पडती, पर जब वे 'कम्मर बरसै भीजै पानी', 'नाना के विवाह मे नाती बराती' के ढग की उलटवाँसियाँ कहने लगते है तो प्रतीक अस्पष्ट और पथगत हो जाता है।'[५]

डॉ० ओम्प्रकाश—'इन उलटवाँसियो मे दो प्रकार का अटपटापन है—प्रकृति-विरोध तथा विधि-विरोध। प्रकृति-विरोध से हमारा अभिप्राय पशु, पक्षी तथा वनस्पति मे उन व्यापारो के दर्शन से है जो उनके स्वभाव के प्रतिकूल है,...विधि-विरोध से यहाँ अवैध योनि-सम्बन्ध मात्र समझना चाहिए। इसका एकमात्र आधार नारी है।'[६]

डॉ० रांगेय राघव—'उलटवाँसियाँ वास्तव मे आध्यात्मिक रूपको की एक खान है।'[७]

---

१. 'कबीर—एक विवेचन', पृ० ३१८
२. 'वही, पृ० ३२९
३ 'हिन्दी सन्त साहित्य', पृ० २००
४ 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवित', पृ० २५३
५. 'हिन्दी साहित्य का अतीत' (पहला भाग), पृ० १६१
६ 'हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य', पृ० ११२-१३
७ 'गोरखनाथ और उनका युग', पृ० २११

डॉ० रामधन शर्मा—'नाथपंथी योगियो और कवीर आदि निर्गुण सम्प्रदाय के सन्त कवियो की कुछ काव्योक्तियो को 'विपर्यय अथवा 'उलटवाँसी' के नाम से अभिहित किया गया है। इन रचनाओं मे जो वात कही गई है वह सामान्यतः लोकदृष्टि मे सर्वथा विपरीत प्रतीत होती है तथापि उसका अर्थ स्पष्ट होने पर वह सीधी और सरल हो जाती है।"[1]

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—'रहस्यवाद की ऐसी सुन्दर रचनाओ के रचयिता होकर भी कही-कही कवीर साहव ने ऐसी वातें कही है जो विल्कुल ऊटपटाग और निरर्थक मालूम होती है।...मेरा विचार है, उन्होंने ऐसी रचनाएँ जनता को विचित्रता-समुद्र मे निमग्न कर अपनी ओर आकर्षित करने के लिए की है। उनकी उल्टवाँसियाँ विचित्रताओं से भरी है।'[2]

मानक हिन्दी-कोश—(श्री रामचन्द्र वर्मा) 'उलटवाँसी-उलट+वाची, साहित्य मे ऐसी उक्ति या कथन (विशेषत. पद्यात्मक), जिसमे असंगति, विचित्र, विभावना, विषम, विशेषोक्ति-आदि युक्त कोई ऐसी विलक्षण वात कही जाती है, जो प्राकृतिक नियम या लोक-व्यवहार के विपरीत होने पर भी किसी निगूढ आशय या तत्त्व से युक्त होती है।'[3]

उक्त कथनो के आधार पर उलटवाँसी शैली की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार है :—

(१) उलटवाँसी पद-रचना मे विरोध और असम्भव की योजना लोगो को आकर्षित करने मे समर्थ होती है। (आचार्य शुक्ल)

(२) इस शैली का प्रयोग, आध्यात्मिक अनुभव की अनिर्वचनीयता तथा वैचारिक-दशा की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। (डॉ० वडथ्वाल)

(३) उलटवाँसी पद-रचना के द्वारा भव-जाल मे पड़े हुए लोगों की विपरीत दशा का द्योतन होता है। (डॉ० श्यामसुन्दर दास)

(४) हठयोगी परम्परा के पारिभाषिक शब्दो की योजना से उलटवाँसी शैली प्रभावशाली वनी है। (आचार्य द्विवेदी)

(५) उलटवाँसी-पद मे निहित अर्थ को समझ लेने पर विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। (श्री परशुराम चतुर्वेदी)

(६) साधक, ज्ञान-विरह की अवस्था मे उलटवाँसी शैली को अभिव्यक्ति का माध्यम वनाता है। (डॉ० भगीरथ मिश्र)

(७) सन्त लोग, धर्म की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए, उलटवाँसी पद-रचना किया करते थे। (डॉ० रामकुमार वर्मा)

---

१. 'कूटकाव्य-एक अध्ययन', पृ० १५
२. 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' (मध्यकाल), पृ० १३७-३८
३. 'मानक हिन्दी कोश' (पहला खण्ड), पृ० ३८०

(८) उलटवाँसी शैली के प्रतीक रूप में व्यवहृत उपमान विरोधी धर्म वाले है। इस शैली का उपयोग सिद्धो की वाणी मे भी हुआ है। (डॉ० धर्मवीर भारती)

(९) उलटवाँसी शैली की अभिधा में अर्थकी सगति नही बैठती तथा इसमे साधनात्मक अनुभूति और विरोध का होना आवश्यक है। (डॉ० सरनामसिंह शर्मा); शैली का वैचित्र्य प्रकृति-विरोध और विधि-विरोध पर आश्रित रहता है। (डॉ० ओम्प्रकाश)

(१०) उलटवाँसी शैली मे रूपक तत्त्व का समावेश हो जाया करता है। (डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित), परन्तु ये रूपक आध्यात्म भावना से सम्बन्धित होते है। (डॉ० रागेय राघव)

(११) उलटवाँसियो मे जीव एव जगत् की समस्या को प्रधानता देते हुए प्रतीकात्मक ढग से कथन रहता है। (श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र)

(१२) उलटवाँसी पद-रचना पद्यात्मक होती है, जिसमे विरोध गर्भित अलकारो की विशेष रूप से योजना रहती है। (श्री रामचन्द्र वर्मा), इस शैली मे व्यग्य और वक्रता की विशेष चमक रहती है। (डॉ० नगेन्द्र)

उक्त विशेषताओ मे से कुछ का उल्लेख 'प्रयोक्ताओ के कथन-साक्ष्य शीर्षक मे हो चुका है। इन विशेषताओ से अध्ययन-क्षेत्र की सीमा का अनुमान तो हो जाता है, पर इन परिभाषामूलक कथनो का मुख्य आधार कबीर कृत उलटवाँसी-पद ही रहे है। यदि नाथ-सन्तो की सम्पूर्ण वानियो को विवेचन-दृष्टि मे रखा जाय, तो, कुछ कथन ऐसे मिलते है जिनमे तथाकथित 'विरोध' के न रहने पर भी रूढ पारिभाषिक शब्दावली के माध्यम से अतिक्रान्त उक्तियाँ है, जिनकी सम्भवता लोक-दृष्टि मे दुष्कर है। रूपक के रूप मे ऐसे विचित्र कथन असम्बद्धता को प्रश्रय देते है। इनको समझने के लिए भी विशेष परम्परा, शास्त्रीय प्रतीक-पारिभाषिक शब्दो का ज्ञान होना आवश्यक है। ऐसे कथन उलटवाँसी शैली की व्यापक सीमा मे आ जाते हैं। ऐसे कथनो मे अभिधेयात्मक रूढ प्रयोगो से ही अर्थ का प्रतीति हो जाती है, जबकि दृष्ट विरोध वाले उपमानो की योजना मे प्रतीक तथा प्रतीकार्थ के माध्यम से प्रयोक्ता के मन्तव्य को समझा जाता है। साकेतिक प्रतीको मे अर्थ-ग्रहण की थोडी छूट रहती है, जबकि शास्त्रीय-रूढ प्रतीको मे सम्प्रदाय मे प्रचलित अर्थ को ही प्रधानता दी जाती है। जिन कथनो मे विरोधी धर्म वाले प्रतीको की योजना न रहने पर भी, पारिभाषिक शब्दो के माध्यम से असम्बद्ध कथन के रूप मे कोई विशेषता रहती है अथवा भाव-विरह की अवस्था का कथन रहता है, वे भी उलटवाँसी शैली के अन्तर्गत आते है।

उलटवाँसी शैली मे लिखित उदाहरण पद्यरूप मे ही मिले है। इनमे गेय-तत्त्व की प्रधानता देखी जाती है। उलटवाँसी पद-रचना मे छन्द का कोई विशेष बन्धन या आग्रह देखने को नही मिलता। इस शैली मे पद, सबद (शब्द) कुडलिया, सवैया, अरिल्ल, साखी, सबदी आदि विभिन्न छन्दो का प्रयोग देखा जाता है। पर, विशेष रूप मे 'शब्द' अथवा 'पद' छन्द मे रचित उलटवाँसी-पद मार्मिक और प्रभावपूर्ण है। इसका मुख्य कारण है कि

इन छन्दों का कलेवर, उलटवाँसी के वर्ण्य-विषय को अभिव्यक्त करने में सफल सिद्ध हुआ है।

इस प्रकार प्रयोक्ता-कथन-साक्ष्य तथा आलोचक-कथन-साक्ष्य रूप विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि उलटवाँसी पद-रचना में कुछ अनिवार्य तत्त्व होते हैं और कुछ सामान्य विशेषताएँ। ये तत्त्व इस शैली के विवच्छेदक तत्त्व हैं, जो इसे अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से मुक्त करने में सहायक हुए हैं। सारांश में वे ये हैं —

(अ) अनिवार्य तत्त्व :

(१) विरोध अथवा असम्बद्धता।
(२) प्रतीक-प्रधान शब्द-वैचित्र्य।
(३) साधनात्मक अथवा वैचारिक अनुभूति।

(आ) सामान्य विशेषताएँ :

(१) विचित्र प्रकार की अभिधा।
(२) सम्बोधन का होना।
(३) गर्वोक्ति जैसा स्वर।
(४) बूझै, बूझहु, विचारै आदि क्रियापदों का प्रयोग।
(५) रूढ़ शब्दावली की योजना।
(६) आत्मविश्वास की ध्वनि।
(७) विस्मय-सृष्टि।
(८) प्रतिपक्ष की कल्पना।
(९) लोक-मार्ग का व्यतिक्रम।
(१०) गेय तत्त्व।
(११) रूपक-तत्त्व।
(१२) व्यंग्य और वक्रता की विशेष चमक।

उलटवाँसी-रचना के प्रयोजन

प्रत्येक रचना-पद्धति के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अथवा ज्ञात-अज्ञात प्रयोजन रूप में कुछ उद्देश्य हुआ करते हैं। अनुभूति-सघनता को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करने केलिए प्रयोक्ता ऐसी शैली को अपनाता है, जिसके द्वारा उसे अपनी अनुभूति के प्रति न्यायपूर्वक संतोष का अनुभव हो। साधनात्मक अथवा वैचारिक अनुभूति व्यावहारिक अनुभूतियों से कहीं अधिक सूक्ष्म और अगम्य होती है। अतः ऐसी अनुभूति की अभिव्यक्ति केलिए शैली में वक्रत्व, विरोधत्व आदि का आ जाना स्वाभाविक ही है। नाथ-संतों, की विशेष शैली उलट-वाँसी का मुख्य प्रयोजन अपनी विशिष्ट अनुभूति को संतुष्टि प्रदान करना है। ज्ञान-विरह की अवस्था में साधक की जो अभिव्यक्ति होती है वह रहस्यात्मक आनन्द की अनुभूति से युक्त

रहती है।[1] परन्तु उस अप्रत्यक्ष प्रयोजन के अतिरिक्त प्रयोक्ता भेद तथा कालक्रम के विकास से, उलटवाँसी के कुछ व्यावहारिक प्रत्यक्ष प्रयोजन भी अनुभूय हैं, जो इस रचना-शैली के विकास मे सहायक सिद्ध हुए है। ये प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रयोजन इस प्रकार है —

(१) विचार अथवा भाव-गाम्भीर्य।
(२) गोपन।
(३) ध्यानाकर्षण अथवा मनोरञ्जन।
(४) पाण्डित्य अथवा ज्ञान-गुरुता का प्रदर्शन।
(५) लोक-मार्ग का व्यतिक्रम।
(६) बुद्धि वृत्ति को प्रोत्साहन।
(७) परम्परा का निर्वाह।

१ विचार-भाव-गाम्भीर्य

सामान्यत किसी भी प्रकार की अनुभूति को भाषाबद्ध करने मे कठिनाई पडती है।[2] इस पर भी आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति का प्रश्न और भी कठिन है। 'ब्रह्मानन्द' की दशा का विश्लेषण, मन और वाणी के द्वारा, कठिन बताया गया है।[3] आचार्य शङ्कर का कहना है कि उस ब्रह्मतत्त्व की अभिव्यक्ति 'मौन व्याख्यान'[4] द्वारा ही सभव है। अभिव्यक्ति सम्बन्धी इस कठिनाई को प्रयोक्ता, विरोधगर्भित कथन के रूप मे रखकर अपनी अनुभूति को सन्तुष्ट करना चाहता है, क्योकि वैखरीभाषा, उस परमात्म तत्त्व तथा साधक-की ज्ञान-विरह एव भाव-विरह मूलक दशा को, यथातथ्य रूप मे प्रकटित करने मे असमर्थ

---

१ 'रहस्याभिव्यक्ति अलौकिक आनन्द की तीव्रतम अनुभूति कही जा सकती है। इसलिए रहस्यवादी को विविध सहायक अभिव्यक्ति प्रणालियो की शरण लेनी पडती है। इन अभिव्यक्ति प्रणालियो मे प्रतीक-पद्धति, समासोक्ति, अन्योक्ति, उलटवाँसी आदि प्रमुख रूप से आती है।'

'कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक विवेचन, पृ० ३७१

२ 'मिलन प्रीति किमि जाइ बखानी। कबिकुल अगम करम मन बानी॥'

'रामचरित मानस', (अयोध्याकाण्ड)

मेरे मन मे भेद बहुत विधि रसना न जानै नयन की दसहि।
जिन देखे ते आँहि बचन बिनु, जिन्है बचन दरसन न तिसहि॥'

'भ्रमरगीत सार', पद ५१

३ 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' 'तैत्तिरीयोपनिषद्', २.४।१

४ 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यान शिष्यास्तु च्छिन्न संशयाः।' 'दक्षिणामूर्त्ति स्तोत्र'

रहती है। वह अनुभूति गूंगे के गुड के स्वाद के समान अवर्णनीय रहती है।[1] फिर भी प्रयोक्ता साधक उलटवाँसी शैली के माध्यम से येन केन प्रकारेण उसको अभिव्यक्त करता है। पर, अभिव्यक्ति के समय वाणी, अनुभूति के प्रति न्याय के प्रयत्न से, रूपकतत्त्व एव प्रतीको का सहारा लेती है। विपयानुभूति की अतिशयता केलिए द्रष्ट विरोध के द्वारा कुछ अधिक कहा जासकता है, श्रोता के मन तक कुछ अधिक प्रभावपूर्ण ढग मे पहुँचा जा सकता है। अत. कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति सम्बन्धी समस्या का समाधान उलटवाँसी शैली का प्रमुख प्रयोजन रहा है।

२. गोपन की प्रवृत्ति :

गोपन की प्रवृत्ति रहस्य की प्राचीन प्रवृत्ति कही जा मकती है। उपनिषद् मे कहा है कि 'देवगण परोक्षप्रिय के समान तथा प्रत्यक्ष से द्वेप करने वाले है।'[2] 'विद्या स्वयं ब्राह्मण के पास आकर बोली कि 'मेरी रक्षा कर। मै तेरी निधि हूँ। तू निन्दक, कपटी, असंयमी के प्रति मुझे मत कह। वैसा करने पर मैं तेरे लिए वीर्यवती होऊँगी।'[3] आध्यात्मिक विपय के सम्बन्ध मे भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से कहते है—'हे उद्धव! वेदो के तीन काण्डो का प्रतिपादित विपय ब्रह्म और आत्मा की एकता है। सभी मत्र और मत्रद्रष्टा ऋषि इस विषय को गुप्त भाव से बतलाते है और मुझे भी इस वात को गुप्त रूप से कहना अभीप्ट है।'[4] यह गोपन की प्रवृत्ति उलटवाँसी शैली-प्रयोग के मुख्य प्रयोजनो मे है। उलटवाँसियो मे गुरुगभीर विचारानुभूति को निगूढ रखने के कई कारण है—

(अ) ज्ञान रूप दुर्लभ तत्त्व की पवित्रता .

जव प्रयोक्ता साधक विचार अथवा भावना की उच्चदशा को प्राप्त होता है, तो उस स्थिति का वर्णन सीधे-सरल ढग से करने मे अपने को असमर्थ पाता है। फलत वैन-सैन अर्थात् कुछ वाणी से और कुछ सकेतो से कहने का प्रयत्न करता है। सकेतो मे कही हुई वात, प्रतीकात्मक पद्धति मे होने के कारण, गुह्य स्वभाव वाली हो जाती है। विपय

---

१ 'कहँ कवीर गूँगे गुड़ खाया पूछे ते क्या कहिये।' 'कवीर ग्रथावली', पृ० १७१
'दादू सव हैरान है गूँगे का गुड खाइ।' 'दादूदयाल की वानी (भाग १), पृ० ८५
'भीखा गुँग और गुड को लेखा, पर कछु कहे वने ना परे।'
'भीखामाहव की वानी' ,पृ० ५२

२ 'परोक्ष प्रिया इव देवा प्रत्यक्षद्विप 'वृहदारण्यकोपनिपद्', ४।२।२

३ 'विद्या ह वै ब्राह्मणामाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायनृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथास्याम॥'
'निरुक्तम्' २।१

४. वेदा ब्रह्मात्म विपयास्त्रिकाण्ड विपया इमे।
परोक्षवादा ऋपयः परोक्षं मम च प्रियम्॥' 'श्रीमद्भागवत', ११।२१।३५

अवाङमनस्गोचर होने के कारण, उसमे गुह्य की प्रवृत्ति का आग्रह सहज ही हो जाता हैं। इस दुर्लभ तत्त्व की पवित्रता वनाए रखने के लिए साधको ने प्रतीक प्रधान उलटवाँसी शैली का आश्रय लिया है।

(आ) पात्रत्व की कसौटी .

अध्यात्म विद्या के दुर्लभ तत्त्व सर्व सामान्य के लिए नही होते। ये तो भक्ति मे रत शिष्य के लिए ही देय है।[1] अयोग्य अथवा अनधिकारी के प्रति 'तत्त्व' के कथन करने से विद्या निर्वीर्या हो जाती है।[2] योग्य शिष्य को विद्या-दान करके सत-जन सतोष का अनुभव करते है, क्योकि अधिकारी से गूढतत्त्व का छिपाना भी उचित नही है।[3] जिज्ञासु अधिकारी के प्रति साधु पुरुष रहस्य का उद्‌घाटन कर देते है।[4] इस पात्रत्व की कसौटी के लिए उलटवाँसी पद-रचना का शिल्प-विधान सहायक हुआ है।[5]

(इ) साधना-प्रक्रिया को सर्वगम्य न होने देना

उलटवाँसी शैली का सम्वन्ध सम्प्रदाय विशेष से भी है। और सम्प्रदाय विशेष के साधक अपनी साधना-प्रक्रिया को सर्वगम्य नही होने देते। तन्त्रों और सहजयानी सिद्धो की वाणी मे यह प्रवृत्ति विशेष रूप से देखने को मिलती है। विश्वसार तत्र का कहना है कि प्रकाश मे लाने से मत्र-शक्ति क्षय को प्राप्त होकर सिद्धि की हानि होती है। अत

---

१ 'देय शिष्याय शान्ताय विष्णुभक्तिरताय च।' 'सम्मोहन तन्त्र', १६
'शृणुतादिमतं तत्र पूर्णमन्यानपेक्षपा।
गोप्य सर्वं प्रयत्नेन गोपन तत्र चोदितम्॥'
'प्राणमजरीपटल' ('कूटकाव्य-एक अध्ययन', पृ० ४२ से उद्धृत)

२ 'हठविद्या पर गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता॥' 'हठयोग प्रदीपिका', १।११
'न चाशुश्रवे वाच्य नाशिष्याय न दम्भिने। नाभक्ताय कदाचन।
शठाय कृपणास्याय दम्भिकाय सुरेश्वरी। ब्रह्महत्यामवाप्नोति तस्माद्यत्नेन गोपयेत्।'
पाचरात्र ४।७-३

३ 'सुशिष्य परिदत्ता इव विद्या अशोचनीया सवृत्ता।' 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' ४।२
'गूढउ तत्व न साधु दुरावहि। आरत अधिकारी जहँ पावहि॥'
'रामचरित मानस', (बालकाड)

४ 'कुँजी सतगुरु पास कृपाकरि खोलहि जबही।
बूझहिं जेहि अधिकार वस्तु दिखावहिं तवही॥' 'भीखा साहेब की वानी', पृ० ८१

५ 'कबीर मे उलटवाँसियो के अधिक प्रयोग का कारण उनकी गूढ आध्यात्मिकता भी है। आध्यात्मिक क्षेत्र में शिष्य का पात्रत्व और ब्रह्म-जिज्ञासा अत्यन्त आवश्यक है।'
'कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक विवेचन', पृ० ३७२

'मातृ जारवत्' इसका गोपन करना चाहिए।[1] सहजयानी-सिद्धों और नाथ-योगियो के प्रभाव से संतो की वाणी में साधना-प्रक्रिया को छुपाने की प्रवृत्ति विशेष रूप से देखने को मिलती है। उनका विश्वास था कि इस गोपन-प्रवृत्ति से ही फल की प्राप्ति होती है।[2] उलटवाँसी शैली के प्रश्रय में यह गोपन प्रवृत्ति पुष्ट हुई है।

३. ध्यानाकर्षण अथवा मनोरंजन :

नाथ-संतो की उलटवाँसी पद-रचना का उद्देश्य मनोरंजन मात्र नही माना जा सकता, क्योकि उनके लिए यह जीवन-काल सत्कर्मों के लिए भी अल्प ही है। मन का रंजन करना उनका स्वभाव नही था। वे आचारवान् होने से अधिक विचारवान् होने की स्थिति को श्रेष्ठ मानते थे।[3] उलटवाँसियो मे वर्णित जो विचारानुभूति है, वह साहित्य के प्रमुख तत्त्व सत्यानुभूति के निकट है। वैसे भी 'मनोमारण' की साधना करने वाले साधको की वाणी का उद्देश्य मनोरंजन मात्र नही हो सकता। जीवन मे विचारवानता के प्रवेश करते ही मनोरंजन की भावना तिरोहित हो जाती है। ज्ञानावस्था मे सासारिक व्यापार प्रतिकूल लगने लगते हैं।[4] अत. उस विचारवानता की स्थिति की ओर आकर्षित करने के लिए प्रयोक्ता साधक उलटवाँसी शैली का प्रयोग करते है।

यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि सीधी-सादी बात के प्रति चित्त वृत्ति सहसा केन्द्रित नही होपाती। यदि उसी बात को किसी वक्र शैली मे प्रस्तुत किया जाय, तो श्रोता का

---

१ प्रकाशात् सिद्धि हानी . स्यात् वामाचार गतौ प्रिये।
अतो वाम पथे देवी गोपयति मातृजार वत्॥' कबीर की विचारधारा', पृ० ३५५ से

२. 'भेद छिपावै तौ फल पावै काहू से नहिं कहिये।
वह अद्भुत है ठौर अनूठो बड़भागन सें लहिये॥'
चरनदास की बानी' (भाग २), पृष्ठ ५

'भेद न कहिये गुप्तहि रहिये, कठिन अहै ससारी।'
'गहि मत मंत्र रहे अदर महं नाही कहि गोहरावै।' } 'जगजीवन साहेब की शब्दावली' (भाग २), पृ० १५ तथा १७

'दूलन यह मत गुप्त है, प्रगट न करो बखान।
ऐसे राखु छिपाय मन, जस विधवा औधान॥' 'दूलनदास की बानी', पृ० ६

३. 'कोटि अचारी एक बिचारी, तऊ न सरभरि होइ।
आचारी सब जग मर्‌या, विचारी विरला कोइ॥'
'दादूदयाल की बानी' (भाग १), पृ० १८१

४. 'ज्ञान-विरह मे संसारकी सब बातो को देखकर आश्चर्य होता है और सासारिक व्यापार प्रतिकूल लगते है। आत्मा इस अवस्था मे संसार को अपने अनुकूल नही पाती। इस दशा का वर्णन कठिन है और यह आत्मदर्शन के साथ की दशा है। कबीर और तुरसी आदि संतो ने इसका वर्णन उलटवाँसी के रूप किया मे है।'
'निरंजनी संप्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी', पृ० ६६

ध्यान सहज ही आकर्षित हो जाता है। उदाहरण केलिए यदि किसी समाचार पत्र मे शब्दो के उलटे या विपरीत क्रम को अपनाकर कोई विज्ञापन दिया गया हो, अथवा किसी कक्ष मे कोई उलटा-सीधा चित्र लटका दिया गया हो, तो दर्शक का ध्यान सहज ही उसकी ओर आकर्षित होजाता है। उलटवांसी शैली के प्रयोक्ता संतो ने, लोक-धारा मे बहे जाते हुए जीवो का ध्यान केन्द्रित करने केलिए, विरोधगर्भित असम्बद्ध कथनो, प्रतीको या विरोधी धर्म वाले उपमानो के द्वारा, अपनी अनुभव प्रक्रिया को प्रस्तुत किया है जिससे श्रोता की मानसिक एकाग्रता कथन के प्रति सहज ही केन्द्रित होने लगती है। उलटवांसी शैली के प्रयोग द्वारा वे इस प्रयोजन मे सफल हुए हैं।

४. पाण्डित्य अथवा ज्ञान-गुरुता प्रदर्शन .

लोक-भाषा के माध्यम से उलटवांसियो मे जो उक्ति-वैशिष्ट्य मिलता है, वह प्रयोक्ता संतो की बहुश्रुतता को द्योतित करता है। 'उक्ति-वैशिष्ट्य'[१] के रूप मे उलटवांसी रचना अपने प्रयोजन मे सफल रही है। कूट-काव्य परम्परा की इस उलटवांसी शैली की रचनाओ मे जो क्लिष्ट-कल्पना दिखाई देती है, उसका एक प्रयोजन, पण्डित मान्य प्रतिपक्षी को, पराभूत करने जैसा है। संतलोग पुस्तक-ज्ञान पर बने पण्डित को 'पण्डित' नही मानते।[२] प्रत्युत जो अनुभव के आधार पर पण्डित बनता है, जो गूढोक्ति का अर्थोद्बोधन करने में समर्थ होता है, वही यथार्थ में पण्डित है। उलटवांसी पद-रचना के द्वारा ऐसे पण्डित[३], ग्याता, पाडे, अवधू आदि को पराभूत करने का प्रयोजन दृष्ट रहता है।[४] इससे प्रयोक्ता की वैचारिक श्रेष्ठता तथा बहुज्ञता एव प्रतिपक्षी की अल्पज्ञता द्योतित होती है। प्राय. ऐसे कथनो में गर्वोक्ति जैसा लगने वाला आत्मविश्वास मुखर रहता है। उलटवांसी शैली के परवर्ती प्रयोक्ताओं मे पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना साम्प्रदायिक मंच की प्रतिष्ठा केलिए भी प्रयुक्त हुई है, क्योकि यह धारणा रही है कि 'जहाँ चमत्कार नही, वहाँ नमस्कार नही।'[४]

५. लोक-मार्ग का व्यतिक्रम :

'उलटवांसी शैली के प्रयोक्ता नाथ-संत 'लीक छोडि तीन्यो चले सायर सिंघ सपूत' के हामी' थे।'[५] इसीलिए उन्होने अपनी सत्यानुभूति को ऐसी शैली के माध्यम से अभिव्यक्त

---

१. 'उत्ति विसेसो कव्वं भासा जा होउ सा होउ ॥' 'कर्पूरमंजरी', १।७ अर्थात् उक्तिविशेष ही काव्य है, भाषा चाहे जो भी हो।

२. गुण्या सूवा बिलाई षाया पण्डित के हाथि रह गई पोथी,।' 'गोरख-बानी,' पृ० ४२

३. 'कहँहि कबिर हम जात पुकारा, पण्डित होइ सो लेहु बिचारा।' 'कबीर बीजक', पृ० १६५

४. देखिये 'हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त-काव्य', पृ० ३०२

५. 'नाथ सम्प्रदाय की आचार-निष्ठा, विवेक-सम्पन्नता, अधविश्वासो को तोडने की उग्रता एवं परम्परागत कर्मकाण्डो की निरर्थकता सन्त-सम्प्रदाय मे सीधी चली आई है। यहाँ तक कि उल्टवांसियो की कुतूहल जनक शैली भी सन्तो को नाथ सम्प्रदाय से ही प्राप्त हुई।' 'हिन्दी साहित्य' (द्वितीय खण्ड), पृ० २०४

किया है, जो लोकानुमोदित नहीं है। परम्परा-प्रवाह-अथवा रूढ़िग्रस्त मार्ग पर चलकर जीवन के मूल अथवा स्रोत तक पहुँचने में उन्हे विश्वास नहीं है।[1] परम्परा-व्यतिक्रम कराने में उलटवाँसी शैली का उपयोग सफल कहा जा सकता है।

६. बुद्धि-वृत्ति को प्रोत्साहन :

संतों के अनुसार 'वूझ विचार के विना लोक मिथ्या दधि खाने के लिए लालायित रहता है।'[2] त्रिभुवन के रहस्य को समझने केलिए 'वूझवृत्ति' का होना आवश्यक है।[3] अतः अज्ञानवश भव-धारा में वहे जाते हुए सामान्य जीवों की बुद्धिवृत्ति को प्रोत्साहित करने, विचार पूर्वक जीवन-निर्वाह करने केलिए संतों ने असम्वद्ध वाक्यावली प्रधान उलटवाँसी शैली का उपयोग किया है। साथ ही उन प्रारम्भिक अवस्था वाले साधको के लिए, जो सम्प्रदाय विशेप में प्रविष्ट होने वाले है, उनकी वृत्ति को इस शैली के प्रयोग के द्वारा विस्मय विमुग्ध करके आकर्षित करने का कार्य भी किया जाता रहा होगा। प्रारम्भिक साधक विरोधी धर्म वाले उपमानों में छिपे हुए प्रयोक्ता के मन्तव्य को समझने केलिए प्रयत्न करता है। इससे उसकी वोध-वृत्ति उस दिशा में प्रवुद्ध होने लगती है।

वक्र स्वभाव वाली इस उलटवाँसी शैली में साधनात्मक अनुभूति, की गहनता रहती है। अतः प्रतीको के माध्यम से सीमित शव्दो मे ही अधिक वात कह दी जाती हैं। अर्थगाम्भीर्यपूर्ण इस पद-रचना का अर्थ-विस्तार वुद्धि-वृत्ति के द्वारा ही सम्भव है। अतः इस शैली की प्रकृति के कारण श्रोता की वुद्धि-वृत्ति को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक ही है।

७. शैली प्रयोग में परम्परा-निर्वाह :

कुछ सन्तो ने परम्परा-निर्वाह केलिए भी इस शैली का उपयोग किया है। ऐसे सन्तों की प्रकृति-प्रवृत्ति, उलटवाँसी शैली के प्रयोग की न होते हुए भी, असम्वद्धकथनों, रूढ़-पारिभाषिक शव्दो, प्रतीक प्रयोगो आदि के द्वारा अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करने की है। ऐसे सन्त कवियों के उलटवाँसी पदो में कल्पना अथवा प्रयोग सम्वन्धी विदग्धता के दर्शन नहीं होते। उदाहरण केलिए रैदास, मलूकदास, मीरावाई, सहजोवाई, दयावाई

---

१. अवधू ऐसा ग्यान विचारं।
भेरे चढ़े सु अधधर डूवे निराधार भये पार॥
ऊघट चले सु नगरि पहूँते वाट चले ते लूटे॥' 'कवीर ग्रंथावली', पृ० १४७

२. 'तुलसी वूझ विचार विन दुनिया दधि को जाय।
तीन लोक के वीच में वंझा गऊ वियाय॥'
'तुलसी साहेव की शव्दावली' (भाग १), पृ० ३४

३. 'याहि हियाली जे कोइ वूझै, ता जोगी को त्रिभुवन सूझै॥' 'गोरख-वानी', पृ० १२०
'कहै कवीर या पद कौं वूझै, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझै।' 'कवीर ग्रंथावली', पृ० ९२

आदि ऐसे ही संत कवि-कवयित्रियाँ है, जिनकी बानियो में उलटवाँसी शैली का प्रयोग परम्परा-निर्वाह मात्र केलिए ही प्रतीत होता है।[1]

उलटवाँसियों का वर्गीकरण

मूल रूप में उलटवाँसी एक शैली है, जिसके माध्यम से प्रयोक्ता नाथ-सन्त कवियो ने दार्शनिक मान्यताओ और साधनात्मक अनुभूतियो आदि को, बहुविधि प्रयोजनो की सिद्धि केलिए, अभिव्यक्ति प्रदान की है। अतः हिन्दी-साहित्य मे उपलब्ध उलटवाँसियो को विषयानुसार[2] वर्गीकृत कर देना ही समीचीन नही है, वरन् शैली और प्रयोजन की दृष्टि से भी उलटवाँसी-साहित्य का वर्गीकरण अपेक्षित है।

(क) शैली की दृष्टि से वर्गीकरण :

उलटवाँसियों में जो कल्पना, रूपक और विरोध तत्त्व दिखाई देते हैं, उनमे व्युत्पत्ति जन्य चारुता के न होते हुए भी प्रतिभा जन्य विदग्धता दिखाई देती है।[3] उलटवाँसियो की

---

१ 'प्रथम पैठि पाताल सूं, धमकि चढै आकास।
दया सुरति नटिनी भई, बाँधि बरत निज स्वास॥'

'संतबानी सग्रह (प्रथम भाग), पृ० १६६

'फागुन के दिन चार होरी खेल मना रे॥
बिन करताल पखावज बाजै अनहद की झङ्कार रे।
बिन सुर राग छतीसूं गावै रोम रोम रणकार रे।'

'ब्रजचन्द्र चकोरी मीरा' (भाग २), पृ० ३६

२. श्री परशुराम चतुर्वेदी ने विषयानुसार कबीर की उलटवाँसियो के वर्गीकरण का प्रयास किया है। उनके अनुसार 'कबीर साहब की उलटवाँसियो का वर्गीकरण विषयानुसार करने पर पता चलता है कि वे प्रधानत· पाँच प्रकार की हो सकती है—(१) वे जिन मे सासारिक भ्रम, प्रपच, व्यवहार जैसे विषय आते है और वे भी जो कबीर साहब की व्यक्तिगत समस्याओ की चर्चा करती हैं, (२) वे जिनमे साधनात्मक रहस्यो का परिचय पाया जाता है, (३) वे जिनमे ज्ञान-विरह, सहजानुभूति अथवा आध्यात्मिक जीवन का वर्णन रहा करता है, (४) वे जिनमें आत्मज्ञान माया, काल, सृष्टि एव मन जैसे विषयो के स्वरूप का परिचय दिया गया है (५) और वे जिनके द्वारा कबीर साहब सर्व-साधारण को किसी न किसी रूप मे अपना सदेश देते जान पडते है।' 'कबीर साहित्य की परख', पृ० १६१-६२

३. 'भक्ति युग के पूर्वार्ध में निर्गुण सन्तो की वाणी को भी वक्रता का बल प्राप्त था, कबीर की कविता में व्युत्पत्ति जन्यचारुता तो विशेष नही है, परन्तु प्रतिभा जन्य विदग्धता अधिक है। वास्तवमे उन्होने चमत्कार-शैली का सप्रभाव प्रयोग किया है। व्यंग्य और वक्ररता की चमक उनकी 'सीधी' और 'उलटी' दोनो वाणियो मे मिलती है। मूलतः तो ध्वनिवादी होने के कारण काव्यशास्त्र के ध्वनिवाद से ही उनका घनिष्ट सम्बन्ध है।' डॉ० नगेन्द्र ('हिन्दी वक्रोक्ति जीवित' भूमिका, पृ० २५३)

यह 'विदग्धता' तीन रूपों में प्रस्तुत की जा सकती है:—विरोध पर आश्रित, सादृश्य पर आश्रित, गूढार्थप्रतीति पर आश्रित। शैली की दृष्टि से उलटवाँसी-साहित्य इन तीन रूपो में वर्गीकृत किया जा सकता है।

(१) विरोध पर आश्रित वर्गीकरण : इस वर्ग में वे सभी उलटवाँसियाँ आती है, जिनमें किसी न किसी प्रकार का विरोध दृष्ट रहता है। यह विरोध भी तीन रूपो[1] में देखा जा सकता है—(अ) विधि विरोध, (आ) प्रकृति-विरोध तथा (इ) धर्म या गुण विरोध।

(अ) विधि-विरोध : जिन उलटवाँसी-पदो मे विधि, नियम, लोक-मर्यादा, प्रणाली, व्यवस्था, शास्त्रोक्त विधान आदि का व्यतिक्रम रहता है, अर्थात् वाच्य रूप में किसी न किसी प्रकार से विरोधी प्रतीक-उपमान या कथन रहते हैं, वे विधि-विरोधक उलटवाँसियाँ कहलाती हैं। जैसे—

गोरखनाथ —'अवधू ईश्वर हमारे चेला भणींजै मछीद्र बोलिये नाती।
निगुरी पिरथी परलै जाती ताथै हम उलटी थापना थापी।'[2]
'एक जु रढिया रढती आई, बहू बिवाई सासू जाई।'[3]

कबीर — 'पहलै पूत पीछै भई माइ, चेला के गुर लागै पाइ।'[4]
'जलि जाई थलि ऊपजी, आई नगर मैं आप।
एक अचंभा देखिया, बिटिया जायौ बाप॥
बाबुल मेरा ब्याह करि वर उत्यम ले चाहि।
जब लग वर पावै नही, तब लग तू ही ब्याहि॥'[5]

सुन्दरदास — 'परधन हरै करै पर निन्दा पर धी कौं रापै घर माँहि।
मांस षाइ मदिरा पुनि पीवै ताहि मुक्ति को संशय नाँहि॥
अकर्म ग्रहै कर्म सब त्यागै ताकी संगति पाप नसाँहि।
ऐसी कहै मु संत कहावै सुन्दर और उपजि मरि जांय।'[6]

तुलसी साहब—'देखो अचरज भाई रे, कहूँ कहा न जाई॥ टेक॥
धी धर ब्याह बाप ने कीन्हा, माता पुत्र बियाही।

---

१ सायण ने 'शास्त्र-विरोध', 'दृष्ट-विरोध' तथा 'शास्त्र-दृष्ट-विरोध' रूप में विरोध तीन प्रकार का बताया है। ('शास्त्र विरोधो दृष्ट विरोध : शास्त्र दृष्ट विरोध : इति त्रिविधो विरोधोऽर्थवादेषुपलभ्यते। तथाहि 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्' इत्यत्र श्रूयमाणं मानसं चौर्यं वाचिकमनृत वदनं च प्रतिषेध शास्त्रेण विरुद्धम्।'
'ऋग्वेद-संहिता' प्रथममण्डलम्, प्रथमोऽष्टक, :, पृ० १०

२. 'गोरख-बानी', पृ० ५०
३. वही, पृ० १४२
४. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ९१
५. वही, पृ० ९२
६. 'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड), अंग २२

भैया भाव व्याह बहिनी सँग उलटी रीति चलाई रे ॥
चमरा लगन सोधि लिखि लाये, बम्हना चाम चढाये ।
नउवा नैन सैन सकुंचाने, व्याह बराती आये रे ॥'[1]

उक्त उदाहरणो मे ईश्वर को चेला, गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को नाती, बधू के विवाहित होने पर सासुलि का ससुरालय को गमन अथवा वधू के प्रसूतिवती होने पर सास का जन्म, गुरु के द्वारा शिष्य के पैर लगना, बाबुल से पुत्री का विवाह परधन का अपहरण परस्त्री को घर में रखना आदि तथा भैया का भगिनी के साथ विवाह चर्मकार का लग्न-शोधन, ब्राह्मण का चर्म-कर्म आदि कथन विधि-विरोधक है । अत. ऐसे उदाहरण विधि-विरोधी उलटबाँसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं ।

(आ) **प्रकृति विरोध** जिन उलटबाँसी-पदो मे, प्रतीक रूप में गृहीत प्राय. मानवेतर प्राणियो के माध्यम से उनकी प्रधान प्रवृत्ति, अथवा स्वभाव से विपरीत कथन अथवा एक जीव की प्रकृति दूसरे जीव की प्रकृति में घटित करके, वर्णन रहता है, वे प्रकृति-विरोधी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं । ऐसे उदाहरणो मे जीवो की प्रधान प्रवृत्ति के विरुद्ध कार्यों या क्रियाओ का कथन रहता है । जैसे बिल्ली का एक स्वभाव है चूहे को खाना; चील्ह का स्वभाव है मास खाना, शेर का स्वभाव है अपने भोज्य जीवो का शिकार करना, मछली का स्वभाव है जल मे प्रसूतिवती होना, सुखानुभूति करना, गरुड का स्वभाव है आकाश मे तीव्रगति से गमन, अजगर का स्वभाव है भूमि पर सुस्ती के साथ पडे रहना, सर्प का स्वभाव है मूषक को खाजाना । परन्तु जब ये प्रतीक रूप जीव अपनी विशेष प्रवृत्ति* के विरुद्ध क्रिया करते हुए अथवा कार्य सम्पन्न किये हुए के रूप मे वर्णित हो, तो वे प्रकृति-विरोधी वर्ग की उलटबाँसियो मे आते है । उदाहरण केलिए—

गोरखनाथ — चलि रे अबिला कोयल मौरी ।
गइयाँ बपडी सिंघ ने घेरै । मृतक पसू सूद्र कूं उचरै ॥'[2]
'चीट्यां परवत ढोल्या रे अवधू, गाया बाघ बिडार्‌या जी ।
सुसलै समदां लहरि मनाई, मृघाँ चीता मार्‌या जी ॥'[3]

कबीर — 'एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढा सिंघ चरावै गाई ॥ टेक ॥
जल की मछली तरवर ब्याई, पकडि बिलाई मुरगै खाई ।
बैलहि डारि गूंनि घर आई कुत्ता कू ले गई बिलाई ॥'[4]

---

१. 'तुलसी साहिब की शब्दावली' (पहला भाग), पृ० १३६
* टिप्पणी—'प्रवृत्ति' मात्र केलिए ही 'स्वभाव' शब्द का प्रयोग किया है । वैसे वस्तु या जीव का 'नित्य-धर्म' अर्थ मे ही स्वभाव शब्द का प्रयोग होता है ।
२. 'गोरख-बानी', पृ० १५२
३. वही, पृ० १५४
४. 'कबीर ग्रन्थावली', पृ० ६२

तुरसीदास निरंजनी—

'जल माँही एक झल उठी, सीतल सुचि-सुभाव ।
तुरसी ता पावक मही, मीन करैं विचराव ॥'[1]

सुन्दरदास – मछली बुगला कौं ग्रस्यौ देषहु याके भाग ।
सुन्दर यह उलटी भई मूसैं पायौ काग ॥'[2]

दरिया साहब (मारवाड़ वाले)—

'अब मेरे सत गुरु करी सहाई, मैं आपहि मे थित पाई ॥ टेक॥
अजगर उड़ा सिखर को डाँका, गरुड़ थकित होय बैठा ।
भौम उलट कर चढ़ी अकासा, गगन भौम में पैठा ॥
सिंघ भया जाय स्याल अधीना, मच्छ चढ़ै अकासा ।
कुरम जाय अगना में सोता, देखैं खलक तमासा ॥'[3]

पलटू-साहब—'महुवा में लागा दाख भाँग में भया लुवाना ।
साँप के बिल के बीच जायके मूस लुकाना ॥'[4]

उपलब्ध उलटवाँसी-साहित्य में प्रकृति-विरोध वाली उलटवाँसियो के उदाहरण बहुतायत से मिलते हैं। इस वर्ग की उलटवाँसियो मे, प्रयोक्ता संत-कवियों का कल्पना-वैविध्य द्रष्टव्य है।

(इ) धर्म-विरोध : 'किसी वस्तु या व्यक्ति की वह नित्यवृत्ति, गुण या लक्षण जो उससे कभी अलग न हो; जैसे आग का धर्म दाह है'[5] 'धर्म' कहलाता है। अर्थात् वह नित्य-धर्मा गुण जो प्राकृतिक-पदार्थ शरीराग अथवा वस्तु-विशेष में विद्यमान रहता है, वह उसका धर्म है। जिन उलटवाँसी पदों में प्राकृतिक पदार्थो अथवा शरीर के अंग विशेष को भिन्न धर्म वाला अथवा विरुद्ध धर्म वाला बताया गया है, वे धर्म-विरोध वर्ग की उलट-वाँसियाँ हैं। जैसे —

गोरखनाथ — बूझौ पंडित ब्रह्म गियांनं, गोरख बोलै जाण सुजांनं ॥ टेक ॥
बीज बिन निसपती मूल बिन बिरषा पांन फूल बिन फलिया ।
बाँझ केरा बालूड़ा प्यंगुल तरवरि चढ़िया ।'[6]
'लूंण कहै अलूंणां बावू, घृत कहै मैं रूपा ।
अनल कहै मैं प्यासा मूवा अंन कहै मैं भूखा ॥

---

१. 'निरंजनी संप्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी', पृ० ३९ से
२. 'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड), अंग २०
३. दरिया साहिब (मारवाड़ वाले) की बानी', पृ० ४५
४. 'पलटू साहेब की बानी' (पहला भाग), पृ० ७४
५. 'संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर', पृ० ५००
६. 'गोरख-बानी', पृ० १०८

पावक कहै मैं जाडण मूवा, कपड़ा कहै मैं नागा।
अनहद मृदग बाजे, तहा पागुल नाचन लागा।।'[1]
'चलि रे अविला कोयल मौरी, धरती उलटि गगन कूँ दौरी।
गईया बपडी सिंघ ने घेरं, मृतक पसू सूद्र कूँ उचरै।।'[2]

कबीर— 'आगैं आगै दों जलै, पीछें हरिया होइ।
बलिहारी ता बिरष की, जड काट्याँ फल होइ।।'
'अंबर बरसे धरती भीजे, यहु जाणै सब कोई।
धरती बरसे अंबर भीजैं, बूझै बिरला कोई।।'[4]
'ऊँचे टीबैं मछ बसत है, ससा बसे जल माँही।।
परबत ऊपरि लोक डूबि मूवा, नीर मूवा धूँ काँही।।
जलै नीर तिण षड सब उबरैं बैंसदर लै सीचे।
ऊपरि मूल फूल तिन भीतरि, जिनि जान्या तिनि नीके।।'[5]

तुरसीदास निरंजनी— 'पानी मे प्रवेस किये, महर महर बरै अग।
तुरसी पावक परस ते उपजै गग तरंग।।'[6]

तुलसी साहब (हाथरस वाले)—
'लखि अकास इक होमाँ पछी। रहत गगन के माँही जी।।
पख न चोच चरन नहि वाके। सकल भवन चरि खाई जी।।'[7]

सुन्दरदास—'अन्धा तीनि लोक को देषे बहिरा सुनै बहुत विधि नाद।
नकटा बास कमल की लेवे गू गा करै बहुत सवाद।।
टूटा पकरि उठावै पर्वत पंगुल करै नृत्य अहलाद।
जो कोउ याको अर्थ विचारै सुन्दर सोई पावै स्वाद।।'[8]

संत शिवदयाल-'मात पिता दोउ जने, पूत ने बैठ खटोली।
मछली चढी अकाश, धरन कर डारी पोली।।
चाँद सूर पाताल से निकले पट खोली।
अमृत पी पी मरे, जहर की गाँठी खोली।।'[9]

---

१. 'गोरख-बानी', पृ० ११७-१८
२. 'गोरख-बानी', पृ० १५२
३. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ८६
४. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १४२
५. 'कबीर ग्रथावली', पृ० १४७
६ 'निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरजनी', पृ० ३९
७ 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग १), पृ० १००
८ 'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड), अग २२
९. 'सार बचन छंद बंद' (दूसरा भाग), पृष्ठ ४५५-५६

२. सादृश्य पर आश्रित वर्गीकरण :

सादृश्य दो प्रकार का होता है — 'एक वह जिसमे आकार-प्रकार का साम्य रहता है और दूसरा वह है, जिसमे गुण एव क्रिया का साम्य रहता है। इसमे प्रभाव साम्य भी प्रच्छन्न अथवा गौण रूप से रहता है।'[1] समता को व्यजित करने वाले शब्द सादृश्य वाचक कहलाते हैं। ये शब्द समान, सा, से, सी, ज्यों, जैसे, जिमि, तुल्य आदि हैं। इनका प्रयोग प्राय: उपमालंकार मे होता है, परन्तु यह सर्वत्र आवश्यक नहीं है कि उक्त सादृश्य वाचक शब्दों द्वारा ही वस्तु का साधर्म्य वाच्य हो, वह प्रतीयमान भी हो सकता है। रूपक तत्त्व पर आधारित भाव-विरह मे लिखी गई उलटवाँसियो में प्राय: यह प्रतीयमान सादृश्य देखने को मिलता है। उलटवाँसियो के इस सादृश्य-निर्वाह मे प्रतीक-चयन का बहुत बड़ा हाथ है। जिन प्रतीको मे बिम्ब-विधान के आधार पर गुणो, कार्यो अथवा विशेप परिस्थिति की प्रतीति होती है, ऐसे उलटवाँसी-पद सादृश्य-वर्ग के अन्तर्गत आते है। ऐसी उलटवाँसियो में रूपकतत्त्व और प्रतीको के सादृश्य पर जो बिम्ब निर्मित होता है, उसमे एक चित्र, एक परिस्थिति की अनुभूति होती है। ऐसी उलटवाँसियाँ प्राय. भावनातिशय मे लिखी गई रहती हैं। इस वर्ग की कुछ उलटवाँसियो मे सागरूपक तत्त्व भी दृष्ट रहता है। कुछ उदाहरण पठनीय हैं :—

कबीर— 'मैं सासने पीव गौंहनि आई।
सांई संगि साध नही पूगी, गयो जोवन सुपिना की नांई ॥ टेक ॥
पंच जना मिलि मँडप छायो, तीनि जना मिलि लगन लिखाई।
सखी सहेली मगल गांवै, सुख दुख माथे हरद चढ़ाई ॥
नाना रंगे भांवरि फेरी, गाँठि जोरि बावैं पतिताई ॥
पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह, चौक के रंगि धर्‌यो सगौ भाई।
अपने पुरिप मुख कबहूँ न देख्यौ, सती होत समची समझाई।
कहे कबीर हौं सलि रचि मरि हूँ, तिरौं कत ले तूर बजाई ॥'[2]
'सेजें रहूँ नैन नही देखो, यह दुख कासो कहूँ हो दयाल ॥ टेक ॥
सासु की दुखी सुसर की प्यारी, जेठ के तरसि डरौं रे।
नणद सहेली गरब गहेली, देवर के विरह जरौं हो दयाल ॥
बाप सावको करै लराई, माया सद मतिवाली।
सगौ भईया ले सलि चढ़िहूँ, तब ह्वै हूँ पीयहि पियारो ॥'[3]

प्रथम उदाहरण में विवाह-रूपक के आधार पर, विशिष्ट वाक्य-योजना के द्वारा, जो विवाह का बिम्ब प्रस्तुत किया है, वह जीवात्मा की विशेप परिस्थिति को प्रकट करता है। 'पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह' जैसे असम्बद्ध कथनो में उलटवाँसी तत्त्व विद्यमान है। ऐसे

---

१. 'हिन्दी साहित्य कोश' (प्रथम भाग), पृष्ठ ८३४
२. 'कबीर ग्रन्थावली', पृ० १६४-६५
३. वही, पृष्ठ १६६

उदाहरण विधि-विरोध के अन्तर्गत आ सकते है, परन्तु यहाँ रूपकतत्त्व के अभाव मे इस प्रकार का सामूहिक विम्व निर्मित नही होता। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण मे सादृश्य के बल पर किसी नव परिणीता की सामाजिक परिस्थिति का चित्रग अथवा किसी जीवात्मा की सासारिक दशा की अनुभूति प्रस्तुत की गई है। कुछ और उदाहरण—

धनी धरमदास—'साहेव मोरे दीन्ही चोलिया नई ।,टेक ॥
तीन पाँच मोरि चोलिया के घुडी, लागी कुमति सुमतिया की पाती।
यह चोलिया मोरे ससुरे से आई, चोलिया पहिरि धनि भई अलमाती ।।
सुनहु हो मोरी पार परोसिन, यह चोलिया विरला जन जानी।
पहिले वियाह मोर भयो सदगुरु से, चोलिया के बंद मोरे सतगुरू खोली।'[1]

जगजीवन साहब—'रँगि रँगि चँदन चढावहु, साँई के लिलार रे ॥ टेक ॥
मन ते पुहुप माल गूँथि कँ, सो ले के पहिरावहु रे।
विना नैन तें निरखू देह छवि, विन कर सीस नवावहु रे ।।'[2]
'साधो इक वासन गढै कुम्हार।
तेहि कुम्हार का अत न पावौ, कैसे सिरजनहार ।।
अग्नि उठाय निकासत पानी, रचि रँगि रूप सँवार।
तीन चौथ दरवाज वनायो, नौ महँ नाहि किवार ।।
भीतर रंग विरँगे तिरँग, उठत अर्हाह धुधकार।
पवन ब्रह्म तहँ बाजहि आपुहि, आप बजावनहार ।।'[3]

दरिया साहब (मारवाड़ वाले)—
'पतिव्रता पति मिली है लाग। जहँ गगन मँडल मे परम भाग ।। टेक ।।
जहँ जल बिन कँवला वहु अनंत। जहँ बपु बिन भौरा गोह करत ।।
अनहृत बानी अगम खेल। जहँ दीपक जरै बिन बाती तेल ।।
जहँ अनहृद सब्द है करत घोर। बिन मुख बोले चात्रिक मोर ।।
बिन रसना गुन बदत नार। पाँव बिन पातर निरतकार ।।
जहँ जल बिन सरवर भरा पूर। जहँ अनत जोत बिन चन्द सूर ।।
बारह मास जहँ ऋतु वसत। ध्यान धरै जहँ अनंत सत ।।'[4]

पलटू साहब—'खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान ।।टेक।।
जोरू गावै तान फिरा अहिवात हमारा।
झूठ सकल ससार, माँग भरि सेंदुर धारा ।।
हम पतिवरता नारि खसम को जियते मारी।
वा को मूड़ौ मूड सरबर जो करै हमारी ।।

---

१. 'धनी धरमदास जी की शब्दावली', पृ० ६४
२. 'जगजीवन साहेव की शब्दावली' (दूसरा भाग), पृ० ३६
३. वही, पृ० ४२-४३
४. 'दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी', पृ० ३७-३८

दुतिया गइ है भागि सुनो अब राँध परोसिन ।
पिया मरे आराम मिला सुख मोकहँ दिन दिन ॥
पलटू ऐसे पद कहै बूझै सोइ निरवान ।
खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान ॥'[1]
'फूहरि धोवै दाग छुटे ना और बढावै ।
ज्यो ज्यों मलै बनाय सारे लहँगा फैलावै ॥
गाफिल में गइ सोइ खसम को दोष लगावै ।
ऐसी फूहरि नारि आप को नाहि बचावै ॥
धोबी को नहिं देइ घरहिं मे आपु छुड़ावै ।
इक बेर दिहिसि निखारि लाज से नाहिं दिखावै ॥
पलटू परदा खोलि आपनो घर घर रोवै ।
लहंगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै ॥'[2]
'फिरे इक जोगी नगर भुलाना, चढ़िगा महले महल दिवाना ॥टेक॥
ना वह खावै ना वह पीवै, ना वह भिच्छा जाचै ।
ना वह बोलै ना वह डोलै, बिना नचाये नाचै ॥
सुखमन के घर भाटी चूवै, पिये बंक के नाला ।
जब देखौ तब प्रेम छका है, जपता अजपा माला ॥
गगन गुफा में सिंगी टेरै, जाग्रत के घर जागै ।
तिरवेनी मे आसन मारै, पारब्रह्म अनुरागै ॥'[3]

तुलसी साहब (हाथरस वाले)—

'तीन लोक के बीच में बंझा गऊ बियाय ॥टेक॥
बंझा गऊ बियाय खाय दधि माखन सारा ।
बच्छा बड़ा अयान जान रहै ताकी लारा ॥
ब्रह्मा बिस्नु महेस दूध से बचे न भाई ।
नर पंछी सुख चैन लेन को नित नित जाई ॥
तुलसी बूझ विचार बिन दुनिया दधि को जाय ।
तीन लोक के बीच मे बंझा गऊ बियाय ॥'[4]

सादृश्य वर्ग के उलटवाँसी पदो मे विरोधगर्भित असम्बद्धता के अतिरिक्त रूपकतत्त्व की प्रधानता रहती है। सांगरूपक के आधार पर सादृश्य वर्ग की उलटवाँसियो मे एक विशेष बिम्ब उभरता है। विरोध वर्ग की उलटवाँसियो मे बिम्ब का कोई अंग या अंश

---

१. 'पलटू साहेब की बानी' (पहला भाग), पृ० ७५
२. वही, पृ० ८०
३. 'पलटू साहेब की बानी' (तीसरा भाग) पृ० ७२
४. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग पहला), पृ० ३४

ही प्रतिविम्बित हो पाता है। यही दोनों वर्ग की उलटवाँसियों का मौलिक अन्तर है।

गूढ़ार्थ प्रतीति के आधार पर वर्गीकरण :

वैसे तो विरोधाश्रित प्रतीक-संकेतो तथा सम्प्रदाय विशेष के रूढ प्रयोगो एव शास्त्र-दर्शन आदि के विशेष पारिभाषिक शब्दो के रहने के कारण सभी उलटवाँसियो का अर्थ निगूढ़ रहता है, परन्तु जिन उलटवाँसियों में विशेष तिथियो, सख्याओ अथवा सख्या गणको तथा शास्त्र विशेष के रूढ प्रयोगो के कारण अर्थ निगूढ रहता है, वे गूढार्थ प्रतीति वर्ग की उलटवाँसियाँ कही जा सकती है। ऐसी उलटवाँसियों मे किसी अर्थ का प्रतिनिधित्व करने वाली विशेष सख्याओ का प्रयोग चमत्कार का मुख्य कारण होता है। विरोध तथा रूपकाश्रित सादृश्य सख्यामूलक प्रयोगो को चमत्कारी वनाने मे सहायक होता है। कुछ उदाहरण —

गोरखनाथ — 'अवधू बोल्या तत बिचारी, पृथ्वी मे बकवाली।
अष्टकुल परबत जल बिन तिरिया, अदबुद अचम्भा भारी ।।टेक।।
पाच सहंस मे षट अपूठा, सप्त दीप अष्ट नारी।
नव षंड पृथ्वी इकवीस माही, एकादसि एक तारी।।
द्वादसी त्रिकुटी यला पिंगुला, चवदसि चित मिलाई।
षोडस कवल दल सोल बतीसौ, जुरा मरन भौ गमाई।।
दसवे द्वार निरंजन उनमन बासा, सबदे उलटि समाना।
भणत गोरषनाथ मछींद्र ना पूता अबिचल धीर रहानां।।'[१]

कबीर — 'माधो चले बुनावन माहा, जग जीते जाइ जुलाहा ।। टेक ।।
नव गज दस गज गज उगनीसा, पुरिया एक तनाई।
सात सूत दे गड वहत्तरि, पाट लगी अधिकाई।।
तुलह न तोली गजह न मापी, पहजन सैर अढाई।
अंढाई मे जे पाव घटै तो, करकस करै बजहाई।।

* * *

छाडि पसारा राम कहि बौरे, कहै कबीर समझाई।।'[२]
'एक बिरख भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ।
पच सुवटा आए बैठे, उदै भई बनराइ।।'[३]

जगजीवन साहब — 'साघो भले अहै मतवारे।
कुत्ते पाँच किये बसि डोरी, एकौ रहत न न्यारे।।

---

१. 'गोरख-बानी', पृ० ९७-९८
२. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १५३
३. वही, पृ० १८३

कुत्ती पचीस ताहि संग लागीं, ताहि संग अधिकारे।
सबै बटोरि एक माँ बाँध्यौ, साधे रहहिं सभारे॥
सो लै जाय गये मँडफ कहँ, जोगी आसान मारे।
भे गुरुमुखी ताहि ढिग बैठे, महा दिप्त उँजियारे॥"[1]

चरनदास— 'नौ नाड़ी को खैंचि पवन लै उर मे दीजै।
वज्जर ताला लाय द्वार नौ वंद करीजै॥
तीनो वद लगाय अस्थिर अनहद आराधै।
सुरति निरति का काम राह चल गगन अगाधै॥
सुन्न सिखर चढि रहै दृढ जहाँ आसन करै।
मन चरनदास ताड़ी लगै सो रामदास कलिमल हरै॥'[2]

पलटू साहव— 'पच्छिउँ गंगा वहै पानी है जोर का।
वीच महै इक कुंड मुरेरा तौर का॥
उलटी वहे वयार नाव मुरकाय दै।
अरे हाँ पलटू उतरे येहि के पार तो सूधी जाय दै॥'[3]

(ख) **विषयानुसार वर्गीकरण** . प्रयोक्ता भेद से उलटवाँसियों के वर्ण्य-विषय भिन्न-भिन्न दिखाई देते है। इतना ही नही जीवन के अनेक पहलुओं से प्रभावित होने के कारण प्रयोक्ता विशेष मे, विभिन्न विचारानुभूतियो के कारण, उलटवाँसी का विषय भी अनेक प्रकार का देखा गया है। प्रयोक्ता सत कही वेदान्ती विचारधारा से अनुप्राणित है, कही हठयौगिक साधना से। कुछ उलटवाँसियो मे दाम्पत्य—जीवन की सरस अनुभूतियाँ है, तो कुछ मे माया के वीभत्स चित्र। किन्ही मे सूफी-सिद्धान्त पुष्ट दिखाई देता है तो कुछ में उपनिषदों का प्रत्यक्ष प्रभाव। इस प्रकार अणु से ब्रह्माण्ड तक, विन्दु से सागर तक, व्यक्ति से समष्टि तक के उपकरणों को लेकर प्रयोक्ताओ ने उलटवाँसी के माध्य से अपनी विचारानुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस विषय व्याप्ति को यदि एक शब्द मे बाँधें तो नाथ-संतों की उलटवाँसियों का विषय है 'साधना'। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष किसी भी रूप मे हो, उलटवाँसी रचना का उद्देश्य साधना ही है। कुछ उलटवाँसी-पदों में साधनामय जीवन व्यतीत करने केलिए प्रेरणा है, कुछ मे साधनावस्था का वर्णन तथा कुछ मे साधना का परिणाम वर्णित है।

साधना की उच्च परिणति केलिए उलटवाँसियो मे एक क्रम देखा जा सकता है। भव-धारा मे वहे जाते हुए जीव को, 'मर जाओ' अथवा 'मरजीवा होओ'[4] के रूप मे

---

१. 'जगजीवन साहेव की शव्दावली' (दूसरा भाग), पृ० ६४
२. 'चरनदास जी की वानी' (पहला भाग), पृ० ३६
३. 'पलटू साहिव की वानी' (दूसरा भाग), पृ० ७८
४. 'सो पावेगा लाल जाइ के गोता मारै।
मरजीवा ह्वै जाय लाल को तुरत निकारै॥' 'पलटू साहेव की वानी' (भाग १), पृ०५२

भव की विभीषिका दिखाकर, गुरु सांकेतिक भाषा मे 'शब्द' कहता है ।[1] शिष्य की चित्त-वृत्ति गुरु-वाक्य के प्रति आकर्षित होती है और उसे भौतिक आकर्षण के प्रति विरक्ति होने लगती है। तत्पश्चात् उसे साधना-मार्ग के प्रति विश्वास होने लगता है। विश्वास होने पर जगत् की मायिक-दशा को वह पहिचान लेता है और साधना-रत हो जाता है। उस काल में साधक की परीक्षा होती है। सफल होने पर साधक 'सिद्धि' प्राप्त करता है। सिद्धि के पूर्व और पश्चात् साधक अपनी विचारानुभूति को विरोधगर्भित असम्बद्धता द्वारा विशिष्ट शब्दावली प्रधान उलटवाँसी शैली के रूप मे अभिव्यक्त करता है। यह साधना-क्रम 'अष्टाग योग' से प्रभावित है। सूफी-साधना-क्रम मे भी 'चार बसेरे' (शरीयत, तरीकत, मारिफत, हकीकत) पार करने केलिए 'सात मुकामात'[2] (शब्द, इश्क, जहद, म्वारिफ, वज्द हकीकी, वस्ल) तय करना बताया गया है।

इस प्रकार उलटवाँसी शैली मे वर्णित साधना-विषय को सात वर्गों मे रखा जा सकता है। (१) उपदेश प्रधान, (२) अनुरक्ति-विरक्ति-भावना से युक्त, (३) विश्वास प्रधान, (४) साधना काल की, (५) परीक्षा काल की, (६) माया सम्बन्धी, (७) सिद्धि और उसके परिणाम से सम्बन्धित।

१ **उपदेश प्रधान** – जिन उलटवाँसियों मे वक्ता अपनी उपदेश-ध्वनि से, भव-चक्र की भीषणता, जीवनावधि की सीमा, अमूल्य मानव-जीवन की भावना का बोध कराता है, वे उपदेश प्रधान वर्ग मे आती है। जैसे —

गोरखनाथ — 'सामलि राजा बोरया रे अवधू, सुणो अनोपम बाणी जी ॥ टेक ॥
निरगुण नारी सू नेह करंता, अबकै रैणि विहाणी जी ॥
डाल न मूल पत्र नहि छाया, विण जल पिगुला सींचै जी।
विण ही मढीयां मदला बाजै, यण विधि-लोका रीझै जी ॥
ऊझड मारगि जाता रे अवधू, गुर विण नही प्रकासा जी।
जीत्या गोरष अब नही हारै, समझि रराले पासा जी ॥'[3]

---

१ 'सबद एक उन कहा अकेला। गुरू जस भृंग फनिग जस चैला ॥
गुरू विरह चिनगी जो मेला। जो सुलगाए लेइ सो चेला ॥' 'पद्मावत'

२ 'आबिद (खोजी) शरीयत की मजिल मे 'तोबा' आदि पडावो को पार करके 'इश्क' के मुकाम पर प्रथम मजिल समाप्त कर देता है। इसके पश्चात् इश्क को लेकर 'सालिक' जहद करते हुए तरीकत की दूसरी मजिल को 'म्वारिफ' मुकाम पर पूर्ण करता है। अब 'म्वारिफ के पार आरिफ वज्द प्राप्त करता हुआ 'हकीकी' के मुकाम पर तृतीय मजिल समाप्त करता है। तदुपरान्त 'हक' वस्ल को प्राप्त कर 'फना' के मुकाम पर अपनी यात्रा समाप्त कर देता है। इस यात्रा के समाप्त होने पर उसे शाश्वत आनन्द (वका) की प्राप्ति होती है।'
डॉ० जयदेव 'महाकवि जायसी' ('जायसी और उनका पद्मावत' पृ० १४७ से)

३. 'गोरख-बानी', पृ० १५४

ऊजड़-मार्ग पर चलने वाले केलिए उपदेश है। सोते-सोते अर्थात् अज्ञान में ही जीव का जीवन समाप्त हो जाता है। जीवन अमूल्य है, इसका पांसा विचारपूर्वक फेंकना चाहिए।

जगजीवन साहब— 'साधो साध अन्तर ध्यान।
दीन लीनं सीतलं ह्वै, तजहु गर्वगुमान ॥
गंगग्राम वजार लावहु, चित्त गाडु-निसान।
सत्त हाट निहारि निरखहु, नेहु करि पहिचान ॥
रैन दिन तहँ नाहि आही, नाहि ससिगन भान।
चमक झलमल रूप निर्मल, कौन मापै ज्ञान ॥
जगजीवनदास मस्त होवै, विरल कोउ ठहरान ॥'[1]

चरनदास— 'जो जन अनहद ध्यान धरै ॥ टेक ॥
पाँचो निरवल चंचल थाकै जीवत ही जु मरै ॥
सोधे मूल बंध दे राखै आसन सिद्ध करै।
त्रिकुटी सुरति लाय ठहरावै कुंभक पवन भरै ॥
घन गरजे अरु बिजुली चमकै कौतुक गगन धरै।
बहुत भाँति जहँ बाजन बाजे सुनि मुनि सिंधु अरै ॥
सहज सहज मे हो परकासा बाधा सकल हरै।
जग की आस बास सब टूटै ममता मोह जरै।
सून्य सिखर पर आपा बिसरै, काल सूं नाहि डरै।
चरनदास सुकदेव कहत हैं, सब गुन ध्यान धरै ॥'[2]

तुलसी साहब— तन में तत तार तंबूरा है ॥ टेक ॥
बंधन पाँच तार तन कीन्हा खूंटी खलक जहूरा है।
उठत अवाज साज बिन बाजे, अद्‌भुत सब्द अपूरा है ॥
खूंटी खसक तार तब टूटा, लूटा जम जग पूरा है।
तुलसी तरक तोल जब पावै, लख सिप सतगुर सूरा है ॥'[3]

उपदेश की यह प्रवृत्ति गोरखनाथ में अधिक देखने को मिलती है। बाद के संतो की उलट-बाँसियो मे उपदेश की यह प्रवृत्ति आदेशात्मक रूप मे देखी जाती है।

२. **विरक्ति-अनुरक्ति-भावना प्रधान :** गुरु-मुख से उपदेश को सुनकर शिष्य के मन में विरक्ति और अनुरक्ति की भावनाएँ एक साथ जन्म लेती हैं। वह अपने को एक विचित्र विकल्प-संकल्पात्मक स्थिति मे पाता है। अनात्मिक पदार्थों से विरक्ति तथा आध्यात्मिक प्रसंग से अनुरक्ति के साथ ही उसकी पूर्वधारणाओ मे परिवर्तन होने लगता है। इस वर्ग

---

१. 'जगजीवन साहेब की शब्दावली' (भाग १), पृ० ४३
२. 'चरनदास जी की बानी (भाग २), पृ० ६
३. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग पहला), पृ० १३६-४०

की उलटवांसियों में साधक के मन की विरक्ति-अनुरक्ति पूर्ण भावनाओं की योजना रहती है। जैसे—

कबीर — 'बागड देस लूवन का घर है,
जहाँ जिनि जाइ दाझन का डर है ।। टेक ।।
सब जग देखौं कोई न धीरा, परत धूरि सिरि कहत कबीरा ।।
न तहाँ सरवर न तहाँ पाणी, न तहां सतगुर साधू वाणी ।।
न तहाँ कोकिल न तहाँ सूवा, ऊँचे चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा ।।
देस मालवा गहर गभीर, डग डग रोटी पग पग नीर ।।
कहै कबीर घरही मन माना, गूंगे का गुड़ गूंगे जांना ।।'[1]

बुल्लासाहब —'निगुंन बसंत को सुनहु भाव । दूजा अवरि न मोहिं चाव ।।
हुलसी मनसा फलसी डाल । वाकी साखा सर्ग पताल ।।
विना मूल अस्थूल आहि । वाकी पटतर लाँउ काहि ।।
ज्ञान ध्यान वसि भयो मोर । तन से भागे सबहि चोर ।।
दसौ दिसा में भयो सोर । बुल्ला सेवक है प्रभु तोर ।।'[2]

गुरु वाक्य सुनकर साधक के मन में अनेक प्रकार की शंकाएं, प्रश्न उठते है। साधक उलटवांसी शैली मे उन्हे इस प्रकार अभिव्यक्त करता है :—

'सुधा रस कैसे पैये हो ।
कूप कहाँ केहि ठौर है कैसे करि लहिये हो ।।
नेजू कित कित गागरी कित भरने वाली हो ।
कैसे खुले कपाट ही को ताला ताली हो ।।
कौन समय किस ग्रह विषै अंचवैं किन माही हो ।
तुम से जानें भेद कूं अरू बहुतक नाही हो ।'[3]

३. विश्वास प्रधान : विरक्ति-अनुरक्ति के पश्चात् साधक के मन से संशय का मूलोच्छेद हो जाता है और उसे साधना-मार्ग के प्रति पूर्ण विश्वास हो जाता है। गुरु के मौन-संकेत से ही उसकी समस्त शंकाओं का निवारण होना संभव है[4] और साधक का मन इस प्रकार अभ्यास करने लग जाता है—

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १०९
२. 'बुल्ला साहिब की बानी', (भाग दो), पृ० २
३. 'चरनदास जी की बानी', (भाग २), पृष्ठ २
४. 'गुरोस्तु मौनव्याख्यानं शिष्यास्तु च्छिन्न संशया. ।' 'दक्षिणामूर्त्ति स्तोत्र'
'या वद् अपि उक्त तावद् अपि व्याज. । गुरूर्मूक' स शिष्यः बधिरः ।'
'चर्यागीतिकोष'
(काहनपाद की चर्या का संस्कृत अनुवाद)

'सुनले जोग विजोग हंसा सब्द महल कूं सिव करों ।
गहु गुर ज्ञान विज्ञान वानी जीवत ही जग में मरो ।।'[1]
'सुन्न महल मे महल हमारा, निरगुन सेज विछाई ।
चेला गुरु दोउ सैन करत हैं, बड़ी असाइस पाई ।।'[2]

साधक के मन मे मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। इस प्रकार विश्वास-प्रधान उलटवाँसियों मे साधक की अपने साधना पथ के प्रति पूर्ण आस्था देखी जाती है। कुछ उदाहरण—

कबीर — 'अब मैं पाइवो रे पाइवौ ब्रह्म गियान ।
सहज समावें सुख में रहिवौ, कोटि कलप विश्राम ।।
गुर कृपाल कृपा जब कीन्ही, हिरदै कंवल विगासा ।
भागा भ्रम दसौं दिस सूझ्या, परम जोति प्रकासा ।।
मृतक उठया धन-कर लीये काल अहेड़ी भागा ।
उदया सूर निस किया पयाना, सोवत थैं जब जागा ।।
अविगत अकल अनूपम देख्या, कहता कह्या न जाई ।
सैन करे मनही मन रह,सैं गू गे जांनि मिठाई ।।'[3]

दादूदयाल — 'ऐसा ज्ञान कथौ मन ज्ञानी । इहि घर होए सहज सुख जानी ।।
गंग जमुन तहँ नीर नहाइ । सुषमन नारी संग लगाइ ।।
आप तेज तन रह्यौ समाइ । मैं बलि ताकी देखौ अघाइ ।।
आस निरंतर सो समुझाइ । विन नैनहुँ देखि तहँ जाइ ।।
दादू रे यहु अगम अपार । सो धन मेरे अधरं अधार ।।'[4]

४. साधना विषयक : वे उलटवाँसी पद जिन में विशेष साधनापद्धति का वर्णन रहता है अथवा सम्प्रदाय विशेष की शब्दावली से जिन उलटवाँसी मूलक पदो में साधना-प्रक्रिया वर्णित रहती है, वे सब उलटवाँसियाँ इस वर्ग में आ सकती है। जैसे :—

गोरखनाथ : 'उलट्या पवन गगन समोइ, तव वाल रूप परतपि होइ ।।
उदै ग्रहि अस्त हेमग्रहि पवन मेला, वंधिलै हस्तिय निज साल भेला ।।
वारा कला सोपै सोला कला पोपैं, चारिकला सावै अनत कला जीवैं ।।
ऊरम धूरम जोती ज्वाला सीधि सावत चारि कला पीवै ।।'[5]
'उलटै चन्द्र राह कों ग्रहै ।सूरज उलटि केत संग्रहै ।।
ससि द्वार सूरज थिर रहे । तत्व भाण जोगेस्वर कहै ।।

---

१. 'गरीबदास जी की वानी', पृष्ठ ८८
२. 'मलूकदास की वानी', पृष्ठ २३
३. 'कवीर ग्रंथावली', पृष्ठ ६०
४. दादूदयाल की वानी' (भाग २), पृ० २६
५. 'गोरख-वानी', पृ० ३१

अरधै जाता उर्धै गहै। द्वादस पंवना उनमंन रहै॥
अहनिसि बाई धुनि में बाजै। पछिम द्वारे पवना गाजै॥"[1]

कबीर — 'अवधू जोगी जग थैं न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नाद न षंडै धारा॥ टेक॥
बसै गगन मैं दुनी न देखैं, चेतनि चौका बैठा।
चढ़ि अकास आसण नही छाड़ै, पीवै महारस मीठा॥
परगट कथां माँहे जोगी, दिल में दरपन जोवै।
सहस इकीस छ सै धागा, निहचल नाकै पोवै।
ब्रह्म अगनि मे काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुनि ल्यौ लागै॥"[2]

यारी साहब—'उड़ु उड़ु रे बिहंगम चढ़ु अकास।
जहँ नहिं चाँद सूर निस बासर, सदा अमरपुर अगम बास॥"[3]

जगजीवन साहब — यहु मन गगन मदिल राखु।
सब्द की चढ़ देखु सीढ़ी प्रेम रस तहँ चाखु॥
रहहु दृढ करि मारि आसन-मत्र अजपा भाखु।
पाँच बसि कसि बैठि रहिकै, मानु कबहुँ न माखु॥"[4]

चरनदास —'नौ नारी को खैंचि पवन लै उर में दीजै।
बज्जर ताला लाय द्वार नौ बंद करीज॥
तीनो बंद लगाय अस्थिर अनहद आराधै।
सुरति निरति का काम राह चल गगन अगाधै॥"[5]

भीखा साहब —'ज्ञान अनुमान करि चीन्ह ले अमान धरि,
गुरु परताप खुली भरम कपाट है।
चाँद सूर एक सम सुरति मिलाय दम,
इँगल पिँगल रँग सुखमन माट है॥
पूरब पवन जोग पच्छिम की राह होय,
गंगा जमन संगम तहँ त्रिकुटी को घाट है॥
प्रान औ अपान असमान ही मे थिर होवैं,
भीखा सब्द ब्रह्म को अकास सुन्न हाट है॥"[6]

---

१. 'गोरख-बानी', पृ० १७४
२ 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १०९
३. 'यारी साहब की रत्नावली', पृ० ७
४. 'जगजीवन साहिब की शब्दावली' (पहला भाग), पृ० ९५
५. 'चरनदास जी की बानी' (पहला भाग), पृ० ३६
६. 'भीखा साहब की बानी', पृ० ४९

पलटू साहब—'तिरकुटी घाट को उतरु सम्हारि कै,
सुषमना खैंचु गुन बाँधि खूँटा ।
बीच पहार मैं साँकरी गली है,
गली मैं कुड जल परै टूटा ।।
भँवर को देखि कै नाव मुरेरू तू,
चली है नाव तब कुड टूटा ।
दास पलटू कहै नाव सम्हारना,
सोत मैं सोत ब्रह्मड फूटा ।।'[1]

तुलसी साहब—'कमठ गगन पर चढ़ै मच्छ अँड उडै अकासा ।
गिरा गुहा के पास स्वाँस सुखमनी निवासा ।।
जरत जोति अस होत दृष्टि पर दीपक वारा ।
अरे हाँरे तुलसी बिन वाती बिन तेल फैल चहुँदिस उँजियारा ।।
सिंघ पौलि के पार झार नित उठि उठि आवै ।
जहा उरधमुख कूप धूप बिन रवि दरसावै ।।
सुरति सिरोमन सील लील गिरि परै निसानी ।
अरे हाँरे तुलसी जहँ नित उठै अवाज साज करि सुरति समानी ।।'[2]

५. **परीक्षा विषयक** : जब साधक अपनी चित्त-वृत्तियो को केंद्रित करके साधना में निरत हो जाता है, तो विभिन्न प्रकार के सासारिक आकर्षण विघ्न बाधाओं के रूप मे उसके समक्ष आते हैं ।[3] और जो इन आकर्षणों से आवद्ध हो गया वह कामना के वशीभूत होकर पुनः पतित हो जाता है,[4] अन्यथा सिद्धि का साक्षात् करता है । उलटवाँसियों मे ऐसे अनेक पद मिलते हैं, जिनमें साधक की साधना सम्बन्धी परीक्षा, उपदेश, अनुदेश आदि का वर्णन मिलता है । कुछ उदाहरण :—

गोरखनाथ—'सूर माहि चंद चंद माहि सूर ।
चपपि तीनि तेहुड़ा बाजल तूर ।।
भणन्त गोरषनाथ एक पद पूरा ।
भाजंत भौंदू साधंति सूरा ।।'[5]

---

१. 'पलटू साहेब की बानी' (दूसरा भाग), पृ० २६
२. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (पहला भाग), पृ० ३०
३. 'मधुमतीं भूमिकां साक्षात् कुर्वतोस्य देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यंतः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते भो इहास्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोग., कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरा-मृत्युं बाधते . इति ।' 'साहित्यालोचन' पृ० २३१ से उद्धृत
४. 'काटी कूटी मछली छीकें धरी चहोडि ।
कोई एक आपर मन बस्या, दह में पड़ी बहोडि ।।' 'क० ग्रं०', पृ० ३०
५. 'गोरख-बानी', पृ० ६२

कबीर — 'कैसे नगरि करो कुटवारी, चचल पुरिख विचषन नारी ।। टेक ।।
बैल वियाह गाइ भई बाँझ, बछरा दूहै तीन्यूँ साँझ ।।
मकडी घरि माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी ।।
मूसा खेवट नाव बिलइया, मीडक सोवै साप पहरइया ।।
नित उठि स्याल स्यघ सूँ झूझै, कहै कबीर कोई विरला बूझै ।।'[1]

जगजीवन साहब —'ए सखि अब मैं काह करौ ।
भूलि परिऊँ मैं आइ कै नगरी, केहि विधि धीर धरौ ।।
अत नही यहि नगर क पावो, केतौ विचार करौ ।
चहत जो अहौ मिलौ मैं पिय कहँ, भ्रम की गैल परौ ।।
हित मोरे पाँच होत अनहित ही, बहुतक खैंच करौ ।
केतौ प्रबोधि कै बोध करौ मैं, ई कहै धरौ धरौ ।।
तीस पचीस सहेली मिलि सँग, ई गहि कैसे बरौ ।
पाँय पकरि कै बिनती करौ मैं, लै चलु गगन परौ ।।
निरत निरखि छवि मोहि कहो अब, गहि रहु नाहि टरौ ।
जगजीवन सत दरस करौ सखि, काहे क भटक फिरौ ।।'[2]

बुल्लासाहब —'मैं कस राखौं पाँच नारि । बरज न मानै बडी खुवारि ।।
जिन आपन घर कियौ उजारि । कबहुँ न सुमिरहि देव मुरारि ।।
अब की उजरै छाइ न जाए । कासे कहौं यह गति बनाइ ।।
मनुवाँ मकरी रहै समाइ । लै लै जात है संग लगाइ ।।'[3]

गरीबदास — 'तीन चिन्ह पाँच मार पकरी मठधारी ।
पुत्र तौ पचीस सग सैन है अपारी ।
पाँच नार घट मँझार मठ की पटरानी ।
द्वादस दल कोट कटक सेन है बिरानी ।।
साहुकार पकर लीन्ह लूटै गढ चोरा ।
आतम तौ अनाथ सुनो राम बाप मोरा ।।'[4]

६ माया विषयक साधक जब विभिन्न प्रकार के विघ्न-बाधाओं, आकर्षणो की सीमा पार कर जाता है, तब उसे माया, अज्ञान आदि का क्षेत्र स्पष्ट दिखाई देने लगता है। वह बुद्धि-बल से माया का स्वरूप माया जन्य विभिन्न परिस्थितियो का वर्णन करता है। साधक का यह साधना-काल ज्ञान-विरह का श्रेष्ठ काल होता है। अत उसकी विचारणा अपने लौकिक-परिवेश मे विरोध या विपरीतता का अनुभव करने लग जाती है। उपलब्ध उलट-

---

१ 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ११३
२. 'जगजीवन साहेब की शब्दावली' (भाग २), पृ० ६-७
३ 'बुल्ला साहेब का शब्दसागर', पृ० २६
४. 'गरीबदास जी की बानी', पृ० १५५

वाँसी पदो मे सर्वाधिक सख्या माया विषयक उलटवाँसियो की है। इस वर्ग की उलटवाँसियो मे विरोध और चमत्कार की मात्रा भी सर्वाधिक देखी जा सकती है। उलटवाँसियो मे 'माया' के नारि, कामधेनु, नागिनि, विलाई आदि विभिन्न प्रतीकात्म रूप देखने को मिलते है। कुछ उदाहरण : —

गोरखनाथ— 'अवधू परबत मझार, वेलडी माड्यौ विस्तार।
वेली फूल वेली फल, वेलि अछै मोत्या हल ।। टेक ।।
सिष्टि उतपनी वेलि प्रकास, मूल न थी चढी अकास।
उरध गोढ़ कियौं विसतार, जाँण नै जो सो करै विचार ।।'[१]
'मारौ मारौ स्रपनी निरमल जल पैंठी।
त्रिभुवन डसती गोरखनाथ दीठी ।। टेक ।।
मारौ स्रवणी जगाईल्यौ भौरा जिनि मारी स्रपणी ताकौ कहा करै जौरा।
स्रपणी कहै मै अवला वलिया, व्रह्मा विष्न महादेव छलिया।
माती माती स्रपनी दसौं दिसि धावै, गोरखनाथ गारडी पवन वेगि ल्यावै ।।'[२]

कवीर— 'भाई रे चून विलूटा खाई,।
वाघनि संगि भई सवहिन कै, खसम न भेद लहाई ।। टेक ।।
मब घरि फोरि विलूँटा खायौ, कोई न जाने भेव।
खसम निपूतौ आँगणि सूतौ, राँड न देई लेव ।।
पाडौसनि पनि भई विरानी, माँहि हुई घर घालै।
पच सखी मिलि मंगल गावै, यहु दुख याकौं साल ।।'[३]
'अवधू कांमधेनु गहि वाधी रे।
भांडा भंजन करै सवहिन का, कछू न सूझै आधी रे ।। टेक ।।
जौ व्यावै तो दूध न देई, ग्याभण अमृत सरवै।
कौली घाल्या वीडरि चालै, ज्यू घेरौ त्यूं दरवै ।।'[४]

धनी धरमदास— 'वुढ़िया ने काता सूत जोलहवा ने वीना हो।
दरजी ने टुक टुक कीन्ह, दरद नहिं जाना हो ।।
भेड़ी चरावत वाघ मूस रखवारा हो।
मेगुची ने वाँधा ताल, सिह ने ठाटा हो ।।
गौडिया पसारा जाल, ऊट एक वाझा हो।
दुलहिनि के सिर मौर विलारी साजा हो ।।'[५]

---

१. 'गोरख-वानी', पृ० ११८
२ वही, पृ० १३९-४०
३ 'कवीर ग्रंथावली', पृ० ११३
४ वही, पृ० १३७
५. 'धनी धरमदास जी की शब्दावली', पृ० ३३

सुन्दरदास— 'सुन्दर सवही सौ मिली कन्या अपन कुमारि ।
बॅंग्या फिरि पतिव्रत लियाँ भई सुहागिनि नारि ॥'[1]
'पसम परयो जोरू कै पीछै कह्यौ न माने भौडी राड ।
जित तित फिरै भटकती योही तै तो कियो जगत मे भाड ॥
तौ हू भूप न भागी तेरी तू गिलि बैठी सारी माड ।
सुन्दर कहै सीप सुनि मेरी अब तू घर घर फिरबौ छाड ॥'[2]

गुलाल साहब — सतो कठिन अपरवल नारी ।
सवही वरलहि भोग कियौ है, अजहुँ कन्या क्वारी ॥
जननी ह्वै कै सव जग पाला, बहु विधि-दूध पियाई ।
सुन्दर रूप सरूप सलौना, जोय होइ जग खाई ॥'[3]

पलटू साहब — 'नागिनि पैदा करत है आपुइ नागिनि खाय ॥
आपुइ नागिनि खाय नागिनि से कोऊ न बाचै ।
नेजाधारी सम्भु नागिनि के आगे नाचै ॥'[4]

तुलसीसाहब — 'तीन लोक के बीच मे बझा गऊ बियाय ॥ टेक ॥
बझा गऊ वियाय खाय दधि माखन सारा ।
बच्छा बडा अयान जान रहै ताकी लारा ॥
ब्रह्मा विस्नु महेस दूध से बचे न माई ।
नर पच्छी सुख चैन लेन को नित नित जाई ॥
तुलसी बूझ विचार बिन दुनिया दधि को जाय ।
तीन लोक के बीच मे बझा गऊ बियाय ॥'[5]

७ **सिद्धि और उसके फल से सम्बन्धित** · परीक्षा-काल मे सफल होकर साधक समाधि जन्य सिद्धि अथवा विचार-भाव की चरमावस्था मे पहुँच जाता है । इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते उसके जीवन की सम्पूर्ण द्विविधाएँ, बाधाएँ अथवा ससार सम्बन्धी सम्पूर्ण 'किलिकिलि'[6] समाप्त हो चुकती है । प्रज्ञा-प्रासाद पर आरूढ हुए साधक ज्ञान-विरह मे लोक को विपरीत करणी के वशीभूत पाता है । कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर ब्रह्माण्ड

---

१ 'सुन्दर ग्रथावली' (द्वितीय खण्ड), अंग २०

२ वही, अग २२

३ 'गुलाल साहेब की बानी', पृ० १८

४ 'पलटू साहेब की बानी', (पहला भाग) पृ० ७७

५ 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (पहला भाग), पृ० ३४

६ 'लहुरी धीड मवै कुल खोयौ, तब ढिग बैठन पाई ।
कहै कबीर भाग बपरी को, किलिकिलि सबै चुकाई ॥' कबीर ग्रथावली', पृ० ९६

मे पहुँच जाती है,' कर्म का कलश' फूट जाता है' और सहस्रार चक्र में अमृत का स्राव होने सपरमानन्द की अनुभूति होने लगती है। कबीर के शब्दों में साधक उस सिद्धिकाल मे अनुभव करने लगता है—

'नरहरि सहजैं हीं जिनि जांनां।
गत फल फूल तत तर पलव, अंकुर बीज नसानां॥ टेक॥
प्रगट प्रकास ग्यान गुरगमि थैं, ब्रह्म अगनि प्रजारी।
ससिहर सूर दूर दूरतर, लागी जोग जुग तारी॥
उलटे पवन चक्र पट बेधा, मेर-डंड सरपूरा।
गगन गरजि मन सुनि समानां, बाजे अनहद तूरा॥
सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वांमी।
पद आनन्द काल थैं छूटैं, सुख में सुरति समांनीं॥[3]

इस सिद्धि-अवस्था की अनुभूति कोसाधक की 'वाणी, विरोधाश्रित प्रतीक-संकेतो के माध्यम से, दो रूपो मे अभिव्यक्त करती है। एक में विचार की प्रधानता होती है, दूसरे में भाव की। विचार की प्रधानता मे विरोध तत्त्व प्रबल होता है और भाव की प्रधानता मे रूपकतत्त्व। सिद्धि अवस्था के फलस्वरूप विचार प्रधान उलटवाँसी पद मिलते है, उनमें साधक की सिद्धिजन्य अवस्था के वर्णन के साथ-साथ प्रतिपक्षी को अभिभूत करने केलिए कभी-कभी पाण्डित्य प्रधान स्वर भी सुनाई देता है। परन्तु भाव की प्रधानता मे लिखे गये उलटवाँसी पदों मे दाम्पत्यजीवन सम्बन्धी किसी घटना या भाव की अभिव्यक्ति रहती है। कुछ उदाहरण :—

(अ) विचार प्रधान उलटवाँसी-पद :

गोरखनाथ— 'बूझौ पंडित ब्रह्म गियान, गोरष बोलै जाण सुजानं॥ टेक॥
बीज बिन निसपती मूल बिन बिरपा पांन फूल बिन फलिया।

---

१. 'स्रुति चढ़ गई अकास में सोर भया ब्रह्मंड॥
सोर भया ब्रह्मड अड मे धवक चढ़ाई।
जब फूटा असमान गगन मे सहज समाई॥
सुन्न सहर के बीच ब्रह्म से भया मिलापा।
परमातम पद लेख देख कर भया हुलासा॥
तुलसी गति मति लखि पड़ी निरख लखा सब अंड।
स्रुति चढ़ गई अकास में सोर भया ब्रह्मंड॥'
'तुलसी साहब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग पहला), पृ० ३८

२. 'दीपक बारा नाम का महल भया उजियार॥
होत छतीसी राग दाग तिर्गुन का छूटा।
पूरन प्रगटे भाग करम का कलसा फूटा॥
पलटू अंधियारी मिटी बाती दीन्ही टार।
दीपक बारा नाम का महल भया···॥' 'पलटू साहेब की बानी' (भाग पहला), पृ० ७

३. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ६०

बाझ केरा बालूडा, प्यगुल तरवरि चढिया ।।
गगन बिन चद्रम ब्रह्माड बिन सूरं, भूझ बिन रचिया थानं ।
ए परमारथ जे नर जाणै ता घटि परम गियानं ।।"[1]

कबीर— 'अवधू ग्यांनं लहरि धुनि माडी रे ।
सबद अतीत अनाहद राता, इहि विधि त्रिष्णा षांडी ।। टेक ।।
बन कै ससै समद घर कीया, मछा बसै पहाड़ी ।
सुइ पोवै बाम्हण मतवाला, फल लागा बिन बाड़ी ।।
षाड बुणै कौली मैं बैठी, मैं खूडा मैं गाड़ी ।
ताणे बाणे पडी अनंबासी, सूत कहै बुणि गाढ़ी ।।
कहै कबीर सुनहु रे सतो, अगम ग्यांन पद माँही ।
गुरू प्रसाद सूई कै नाके हस्ती आवै जाही ।।"[2]

यारी साहब— 'चाँद बिना जहँ चाँदनी रे, दीपक बिना जगमग जोती ।
गगन बिना दामिनि देखौ, सीप बिना सागर मोती ।।
दह बिना कँवल हेरै, अच्छर है बिन कागद सेती ।
अनगउवा का दूध यारी बद, बाँझ कै पूत के जाति गोती ।।"[3]

सुन्दरदास— 'कमल माँहि ते पानी उपज्यौ पानी माँहि ते उपज्यौ सूर ।
सूर माँहि सीतलता उपजी सीतलता मे सुख भरपूर ।।
ता सुख को क्षय होइ न कबहूँ सदा एक रस निकट न दूर ।
सुन्दर कहै सत्य यह यौही या मै रती न जानहुँ कूर ।।"[4]

चरनदासजी— ऐसा देस दिवाना रे लोगो जाय, सो माता होय ।
बिन मदिरा मतवारे झूमैं जन्म मरन दुख खोय ।।
कोटि चँद सूरज उजियारो रबि ससि पहुँचत नाही ।
बिना सीप मोती अनमोलक बहु दामिनि दमकाही ।।
+ + +
सिद्धि गर्जना अतिही भारी घुंघरू गति झनकारै ।
रभा नृत्य करै बिन पग सू बिन पायल ठनकारै ।।"[5]

तुलसीसाहब— 'जल बिन नाचत रभा री, सखी सुनौ अचभा ।। टेक ।।
किंगरी सख मृदंग मधुर धुन, नाना उठत तरगा ।

---

१ 'गोरख-बानी', पृ० १०
२. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ९१
३ 'यारी साहब की रत्नावली', पृ० १६
४ 'सुन्दर ग्रंथावली' (द्वितीय खण्ड), अंग २२
५. 'चरनदास जी की बानी' (दूसरा भाग), पृ० ९

निरतत तान वान सुन बाजै, लाजै सुर जगदम्बारी ॥
चमकै चंद बीज बिन बादर, अमृत चुवै अखंडा ।
जल की भीत भीत जल भीतर, पवन भवन का थंभा री ॥
उलटै अललपच्छ नित जावै, निरतत नित चित चंगा ।
धरती न गगन सुन्न नभ न्यारा, प्यारा अवर अलंबा ॥
रात न दिवस दिवस नहिं राती, माखी मैं कौनी भाँती ।
तुलसी उलट मुलट नित न्यारी, चढत न लाग बिलंबा री ॥"[1]

(आ) भाव-प्रधान उलटवाँसी-पद :

कबीर — 'हिंडोला तहाँ झूलै आतम रांम ।
प्रेम भगति हिंडोलनां, सब संतनि कौ बिश्राम ॥ टेक ॥
चंद सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि ।
झूलैं पंच पियारियाँ, तहाँ झूलै जीय मोर ॥
द्वादस गम कै अंतरा, तहाँ अमृत कौ ग्रास ।
जिनि यहु अमृत चापिया, सो ठाकुर हम दास ॥"[2]

धनी धरमदासजी— 'साहेब मोरे दीन्ही चोलिया नई ॥ टेक ॥
तीन पांच मोरि चोलिया कै बुडी,
लागी कुमति सुमतिया की पाती ॥
यह चोलिया मोरे ससुरे से आई,
चोलिया पहिरि धनि भई अलमाती ।
सुनहु हो मोरी पार परोसिन,
यह चोलिया बिरला जन जानी ॥
पहिले बियाह मोर भयो सतगुरु सें,
चोलिया के बंद मोरे सतगुरु खोली ॥
धरमदास बिनवैं कर जोरी,
बिसरि गई नइहरवा की बोली ॥"[3]

जगजीवन साहब— 'ऐसे साँई की मैं बलिहरियाँ री ।
ए सखि संग रंग रस मातिऊं देखि रहिउँ अनुहरियाँ री ॥
गगन भवन माँ मगन भइउँ मैं बिनु दीपक उजियरियाँ री ।
झलकि चमकि तहँ रुप बिराजै, मिटिगे सकल अंधेरियाँ री ॥
काह कहौं कहिबे की नाही, लागि जाहि मन महियाँरी ।
जग जीवन वह जोती निरमल, मोती हीरा वारियाँ री ॥"[4]

---

१. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग पहला), पृ० १३७
२. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ९४
३. 'धनी धरमदास जी की शब्दावली', पृ० ६८
४. 'जगजीवन साहब की शब्दावली' (भाग २), पृ० ११६

यारी साहब — 'बिरहिनी मंदिर दियना बार ।
बिन बाती बिन तेल जुगति सो, बिन दीपक उँजियार ।।
प्रान प्रिया मेरे गृह आयौ, रचि रचि सेज सँवार ।
सुखमन सेज परम तत रहिया, पिय निर्गुन निरकार ।।'[1]

दरिया साहब — 'साधो मेरे सतगुर भेद बताया, तासें राम निकट ही पाया ।। टेक ।।
गगन मँडल मे रास रचौ है, सहस गोपि इक कथ ।
सब्द अनाहद राग छतीसो बाजा बजै अनत ।।
अकास दिसा इक हस्ती उलटा, राई मान दरवाजा ।
ता मे होय गगन मे आया, सुनै निरतर वाजा ।।
जहँ इड़ा पिंगला राग उचारै, चदर सूर थकाना ।
बहती नदिया थिर होय बैठी, कलजुग किया पयाना ।।'[2]

गुलाल साहब — 'निर्मल रूप अपार सो सुरति लगाइया ।
बिनु पग चालौ चाल अनँदपुर जाइया ।
देत दमामा ढोल सो जमहिं नचाइया ।
कहै गुलाल सोइ सूर सहज घर पाइया ।।'[3]

भीखा साहब — 'जोग जुक्ति गुरु लगन लगाई । साजि वरात बियाहन जाई ।।
उर्ध पवन मन धुजा विराजै । सुतरी अस्पी अनहद बाजै ।।
+ + +
अठकठ साज वरनि नहिं जाई । सगी सो इक एक सोहाई ।।
अचरज एक जु देखा भली । दुलहिन खोजन पिय को चली ।।
सुन्न सिखर पर माँडो छायौ । इँगला पिंगुला चौक पुरायौ ।।
प्रेम प्रीति कै साज सजाई । कुभक पूरक कलस भराई ।।
गावहिं पाँच पचीसौ गुनी । सुनत मगन ह्वै साधू मुनी ।।
सेंदुर उदित जोति जगमगै । आपन नाह आपु से पगै ।।
दुलहिन नाम सेव करि पाई । नाद बिंद बहुतै भौजाई ।।
भीखा मगन रहै हर हाल । तजि परपच जगत कौ ख्याल ।।'[4]

पलटू साहब — 'खसम विचारा मरिगया जोरू गावै तान ।। टेक ।।
जोरू गावै तान फिरा अहिवात हमारा ।
झूठ सकल संसार माँग भरि सेंदुर धारा ।।
हम पतिबरता नारि खसम को जियतै मारी ।
वाकौ मूडौ मूड़ सरबर जो करै हमारो ।।

---

१ 'यारी साहब की रत्नावली', पृ० १
२ 'दरिया साहब (मारवाड वाले) की वानी', पृ० ४४
३. 'गुलाल साहेब की बानी', पृ० ६२
४ 'भीखा साहब की बानी', पृ० ६३-६४

दुतिया गई है भागि सुनो अब राँव परोसिन।
पिया मरे आराम मिला सुख मोकहँ दिन दिन ॥
पलटू ऐसे पद कहै बूझै सोइ निरवान।
खसम विचारा मरि गया जोरू गावै तान ॥"[1]

तुलसी साहब— 'सुनो हो सखी इक देसवा, भूमी उगे भान ॥ टेक ॥
देसवा की उलटी रीति, साधू पालै प्रीति ॥
× × ×
खंभा न महल अटारी, प्यारी पिउ बाम ॥
तारा अंबर नहिं पानी, बानी उठै बिन तान ॥
खिरकी खुली बिन द्वारे, पारे परै ठाम ॥
नइया कुटी भौ पारा, उतरै बिन दाम ॥
तुलसी अगम गम जानी, स्रुति पायौ निज नाम ॥"[2]

(ग) प्रयोजनानुसार वर्गीकरण : विशिष्ट उलटवाँसी पदो को प्रयोजन विशेष के अन्तर्गत रखना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता, क्योकि किस पद का क्या प्रयोजन है, यह बतलाना कठिन है। सामान्यत. सभी उलटवाँसियाँ साधनात्मक या आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति केलिए लिखी गई हैं, यही उनका मुख्य प्रयोजन है। उस अनुभूति को सर्वसुलभ न होने दिया जाय, उसे सुनकर श्रोता की अस्थिर चित्त-वृत्ति स्थैर्य को प्राप्त हो, अटपटी उक्ति सुनकर उनकी वृत्ति विस्मयाभिभूत हो तथा प्रतिपक्षी वर्ग पर प्रयोक्ता की बहुज्ञता का प्रभाव हो। यही इस शैली के दृष्ट प्रयोजन हैं। अत: इन वर्गों में भी उपलब्ध उलटवाँसी साहित्य वर्गीकृत किया जा सकता है। उदाहरण केलिए—

(१) साधनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति : इस वर्ग की उलटवाँसियो का मुख्य प्रयोजन वक्ता की अपनी स्वय की अनुभूति को सन्तुष्ट करना रहता है। विरोध अथवा रूपक तत्त्व के बल पर वे उस सघन अनुभूति को अभिव्यक्त करते हैं। जैसे—

कबीर— 'दूभर पनिया भर्‌या न जाई। अधिक त्रिषा हरि बिन न बुझाई ॥ टेक ॥
ऊपरि नीर लेज तलि हारी। कैसें नीर भरै पनिहारी ॥
ऊबर्‌यो कूप घाट भयौ भारी। चली निरास पंच पनिहारी ॥
गुर उपदेस भरी लै नीरा। हरषि हरषि जल पीवै कबीरा ॥"[3]

धनी धरमदास—'धर्मनि वा देस हमारो बासा, जहँ हंसा करें बिलासा।
सात सुन्न के ऊपर साहेब, सेतै सेत निवासा ॥
सदा आनंद रहै वा देसा, कबहुँ न लगै उदासा।
सूरज चंद दिवस नहिं रजनी, नाहीं धरनि अकासा ॥

---

१. 'पलटू साहब की बानी' (पहला भाग), पृ० ७५
२. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग पहला), पृ० १३४
३. 'कबीर ग्रंथावली,' पृ० १३३

ऐसा अमर लोक है अवधू, केवला फरै बारामासा ।
अमृत भोजन हंसा पावैं, बैठि पुरुष के पासा ॥''[1]

गुलाल साहब—'हिंडोला झूलत गुरुमुख आज ॥ टेक ॥
चंद सूरज खंब रोप्यौ सुरति डोरि लगाय ।
मंद मंद जो पढ़व गगनहिं रह्यौ जाय समाय ॥
तहँ होत अनहद नाद धुनि सुनि सहज चित्त लगाय ।
बिगसि कमल अनंत शोभा भँवर रहे लोभाय ॥
अरध ऊरध उलटि चाल्यौ सुखमना ठहराय ।
गंग जमुना सरसुती मिलि पदुम दरसन पाय ॥''[2]

पलटू साहब—'पच्छउँ गंगा वहै पानी है जोर का ।
बीच मँहै इक कुंड मुरेरा तोर का ॥
उलटी बहै बयार नाव मुरकाय दै ।
अरे हाँ रे पलटू उतरे येहि के पारतो सूधी जाय दै ॥'[3]

(२) **गुह्य-प्रवृत्ति प्रधान**. साधना के रहस्या को छुपाने तथा योग्य अधिकारी की खोज के कारण सामान्यत सभी उलटवाँसियो में गुह्य की प्रवृत्ति देखी जाती है । परन्तु जिन उलटवाँसियो मे शास्त्र विशेष के रूढ़ पारिभाषिक शब्दो, सख्यावाचक प्रतीको एवं विरोधमूलक विशेष सकेतो के द्वारा साधना-प्रक्रिया, विचार अथवा भाव को गुह्य रखा जाता है, वे इस वर्ग की उलटवाँसियाँ है । जैसे—

गोरखनाथ —'नाद अनाहद गरजै गँण, पछिम ऊग्या भाण ।
दक्षिण डीवी उत्तर नाचै, पाताल पूरव ताण ॥
चंद सूर नी मुद्रा कीन्ही, धरणि भस्म जल मेला ।
नाती व्यंदी सीगी आकासी, अलख गुरू ना चेला ॥
तीन सै साठि थेगली कथी, इकवीस सहस छसै धागं ।
बहतरि नाड़ी सुई नवासी, बावन वीर सीया लाग ॥
इली सोधि धरि प्यंगुली पूरी, सुषमनी चढ असमांन ।
मछिंद्र प्रसादे जती गोरष बोल्या, निरजन सिधि नें थान ॥''[4]

कबीर — 'हरि के षारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिनि षाये ।
ग्यान अचेत फिरैं नर लोई, ताथे जनमि जनमि डहकाये ॥ टेक ॥
धौल मंदलिया बल रबाबी, कऊवा ताल वजावै ।
पहरि चोलनां गादह नाचैं, भैंसा निरति करावै ॥

१. 'धनी धरमदास जी की शब्दावली,' पृ० २८
२. 'गुलाल साहिब की बानी', पृ० ७६
३. 'पलटू साहेब की बानी' (दूसरा भाग), पृ० १०६
४. 'गोरख-बानी', पृ० ११०-११

स्यंघ बैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा ल्यावै ।
उंदरी बपुरी मंगल गवै, कछू एक आनंद सुनावै ॥
कहै कबीर सुनहुँ रे संतो गडरी परवत खावा ।
चकवा बैसि अगारे निगलै, समद अकासा धावा ॥'[१]

दरिया साहब 'सतगुर से सब्द लै रसना से रटन कर,
हिरदै में आनकर ध्यान लावै ।
पट कँवल बेधकर नाभि कँवल छेदकर,
काम की लोप पाताल जावै ॥
जहँ साँई को सीस लै जम के सिर पाँवदै,
मेरु मथ होय आकास आवै ॥
अगम है बाग जहँ निगम गुल खिल रहा,
दास दरयाव दीदार पावै ॥'[२]

३. कौतूहल सृष्टि तथा विस्मय-वृद्धि : वैसे तो प्राय. सभी उलटवाँसियो मे विस्मय, अद्भुत अथवा चमत्कार का तत्त्व किसी न किसी मात्रा मे रहता है, परन्तु कुछ उलटवासियों में केवल चमत्कारातिशय ही प्रधानत दिखाई देता है, वे इस वर्ग मे आती हैं। प्रयोक्ता के द्वारा इस चमत्कार-सृष्टि के कई कारण हो सकते हैं, जैसे साधको का ध्यान केन्द्रित करना, श्रोता वर्ग की वृत्ति को आकर्षित करना अथवा मच पर स्वयं की प्रतिष्ठा स्थापित करना । कुछ उदाहरण :—

कबीर — 'एक अचमा देखा रे भाई, ठाढा सिंघ चरावै गाई ॥ टेक ॥
पहलैं पूत पीछे भई माइ, चेला के गुरु लागै पाइ ॥
जलकी मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई ॥'[३]

सुन्दरदास — 'रजनी मे दीसै दिवस दिन मे दीसै राति ।
सुन्दर दीपक जल गयी रही विचारी बाति ॥'[४]

तुलसी साहब — 'देखा अचरज भाई रे, कहूँ कहा न जाई ॥ टेक ॥
धी धर ब्याह बाप ने कीन्हा माता पुत्र वियाही ॥'[५]

४. पाण्डित्य-प्रदर्शन : नाथ-सतो में यद्यपि व्युत्पत्तिजन्य कुशलता नही दिखाई देती । काव्यशास्त्र, व्याकरण, दर्शन आदि का सम्यक् वैदग्ध्य उनकी वाणी में न होते हुए भी प्रतिभा जन्य-कौशल भली प्रकार देखा जाता है । यही बात उलटवाँसियों के

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ९२
२. 'दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी', पृ० ५०
३. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ९१
४. 'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड), अंग २०
५. 'तुलसीसाहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (पहला भाग), पृ० १३६

सम्बन्ध मे चरितार्थ होती है। जिन उलटवाँसी-पदो मे पण्डित, ज्ञानी, अवधू आदि सम्वोधन प्रतिपक्षी केलिए कथित रहते हैं, उनमें पाण्डित्य-प्रदर्शन की ध्वनि सुनाई देती है। ऐसे पदो की गर्वोक्ति आत्मविश्वासजन्य भी होती है और इनका उद्देश्य गोष्ठी आदि मे अन्य मतावलम्बियो अथवा प्रतिपक्षी वर्ग को चमत्कृत कराके पराभूत करना भी रहता है। थोडा वहुत सभी सतो ने इस प्रवृत्ति का अनुसरण किया है। कबीर के ऐसे कुछ कथन यहाँ प्रस्तुत हैं : –

'पँडि वूझि पियहु तुम पानी।
जिहि-मटिया के घर महँ वैठे ता महँ सिप्टि समानी॥'[1]
'माय वाप गुरू जाके नाही, सो (धो) दूजा कि अकेला।
कहँहि कबिर हम जात पुकारा, पडित होय सो लेहु विचारा॥'[2]

छद की समग्रता की दृप्टि से भी उलटवाँसियो का वर्गीकरण किया जा सकता है। जिन उलटवाँसी पदो मे प्रारम्भ से अन्त तक उलटवाँसी तत्त्वो का निर्वाह हो उन्हे (१) 'पूर्णपद उलटवाँसी तथा जिनमे एक या दो पक्ति अथवा कुछ अशो मे उलटवाँसी तत्त्व का निर्वाह हो, उन्हे (२) 'अंशपद उलटवासी' कह सकते है। इस प्रकार के उदाहरण परिशिष्ट सग्रह मे द्रष्टव्य है।



---

१. 'कवीर वीजक', पृ० १५३
२. 'कबीर बीजक', पृ० १४६

द्वितीय अध्याय

उलटवाँसी शैली की पूर्व परम्परा

प्रवेश : उलटवाँसी शैली की परम्परा वैदिक ऋचाओं से ही निरन्तर मिलती है। किसी युग में, समय की विशेष प्रवृत्ति के कारण, इस शैली का प्रयोग और प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट रहा है और किसी में चिन्तन तत्त्व व्यवहार पक्ष मे न आने के कारण इस शैली के प्रयोग का अभाव-सा दिखाई देता है। वैदिक युग और मध्यकालीन संस्कृत युग इसके उदाहरण है। गौतम बुद्ध के उपदेशों में इस शैली का अभाव दिखाई देता है, परन्तु सहज-यानी सम्प्रदायो मे उलटवाँसी शैली की प्रवृत्ति बहुलता से मिलती है। शैली की इस पूर्व परम्परा के इतिहास को ऐतिहासिक तिथियो की सीमा मे वर्गीकृत करना कठिन है, क्योकि शैली का इतिहास प्रवृत्तियों का इतिहास होता है। सुविधा केलिए यह पूर्व परम्परा निम्न-लिखित रूप मे प्रस्तुत की जा सकती है:—

(क) वैदिक युग (संहिता-भाग) : ऋग्वेद मे उलटवाँसी शैली का अति प्राचीन रूप मिलता है। ऋग्वेद की कुछ 'गूढार्थक ऋचाए'[1] रहस्यमयी पहेली-प्रवृत्ति और दुरूह प्रतीकों के कारण अर्थोद्‍बोधन मे कठिन हैं।[2] सायण ने मंत्रो की दुरूह प्रकृति के सम्बन्ध में कहा है कि मंत्रो का अर्थ 'अनुष्ठान (सयत्न) से शक्य है।'[3] यास्क ने मन्त्रो को निरर्थक बताने वाले कौत्स आदि के विषय मे कहा है कि 'मत्र अनर्थक, अनेक अर्थक, विपरीत अर्थक, अस्पष्टातार्थक होते हैं, यह कौत्स का मत है।··· यह स्थाणु का अपराध नही, कि, इसको अन्धा नही देखता और ठोकर खाकर गिर पडता है। यह तो उस अन्धे मनुष्य का ही अपराध है। यह उस अल्पज्ञ पुरुष का अपराध है, जो परिश्रम करके वेद के अगो को बिना पढ़े ही वेद पढने को प्रवृत्त होता है और मंत्रो को अस्पष्टार्थ होने का दोष देता है।

---

१ 'रिडिल हिम्स' विंटर निट्ज़ 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' पृ० ११७
('कूट काव्य एक अध्ययन' पृ० १० से उद्धृत)

२. 'पहेलियाँ बुझाने का रिवाज़ प्राचीन साहित्य मे सभी कही एक समान रहा है। ऋग्वेद १।१६४ (अस्यवामीय सूक्त) मे ऐसी कितनी ही पहेलियाँ प्रस्तुत हैं, जिनमे अधिकांश हमारी समझ से बाहर हैं।' 'प्राचीन भारतीय साहित्य' पृ० ६२
('इण्डियन लिटरेचर' (विंटरनिट्ज़) का हिन्दी अनुवाद)

३. 'मन्त्रेण प्रकाशित : त्वर्थोऽनुष्ठातुं शक्यते न त्वप्रकाशित :।
तस्मात् मन्त्रोच्चारणस्यार्थ प्रकाशन रूप दृष्टमेव प्रयोजनम् ॥'
सायण-ऋग्वेद-भाष्य, भूमिका।

मन्त्रार्थ-ज्ञान-कौशल से मनुष्य की श्रेष्ठता मानी गई है।'[1] अर्थज्ञानी की प्रशंसा करते हुए उन्होने कहा है 'योऽर्थज्ञ इत्सकल भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान विधूतपाप्मा'[2] और ऐसे अर्थज्ञ केलिए 'वाणी अपने रहस्यो का अनावरण उसी प्रकार कर देती है, जैसे कामिनी पति के समक्ष अपने वस्त्रो का।'[3]

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि मन्त्रो के निगूढ अर्थ को परिश्रमपूर्वक, विशेष प्रसंग और बुद्धि-वृत्ति के द्वारा ही समझा जासकता है। ऐसे निगूढ-शैली वाले रहस्य प्रधान मन्त्रो की संज्ञा, यास्क और उनके प्रमुख टीकाकार दुर्गाचार्य ने, 'प्रवह्लित' दी है।[4] ऋग्वेद मे ऐसे अनेक गूढार्थक मंत्र और कथन है, जिनमे 'वाणी की सूक्ष्मता'[5] के साथ-साथ उलटवाँसी शैली जैसा वाच्य विरोध भी देखने को मिलता है। शरीर-रचना के सम्बन्ध मे ऋषि का कथन है—'हे मनुष्यो, यह शरीर निश्चय ही ध्यान देने योग्य है। इसमे नदियाँ बहती है और जल स्थिर रहता है।'[6] कैसा विचित्र विरोधाभास है कि जहाँ नदियाँ बहे और जल स्थिर रहे। इसमे शरीस्थ रक्त वाहिनी शिराओ का कथन है। इसी प्रकार विरोधाभास गर्भित उलटवाँसी-शैली के कुछ और उदाहरण प्रस्तुत है :—

(१) 'इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वे :।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥'[7]

अर्थात् 'जो भी इस सुन्दर एवं गतिशील पक्षी के भीतर निहित रूप को जानता हो, बतलावे। इसकी इन्द्रियाँ अपने शिरोभाग द्वारा क्षीर प्रदान करती है और अपने चरणो से जल पिया

---

१ 'अनर्थक भवतीति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्रा.। अथाप्यनुपन्नार्था भवन्ति।··· अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति।· अथापि अविस्पष्टार्था भवन्ति।···नैष स्थाणोपराधो यदेन्मन्धो न पश्यति। पुरुषापराध : स भवति। यथा जानपदीषु विद्यात पुरुषविशेषो भवति। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविध प्रशस्यो भवति।' 'निरुक्तम्', १।५

२. 'निरुक्तम्', १।१६

३. 'उत त्व : पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायवे पत्य उशती सुवासा' ॥'
ऋग्वेद १०।७१।४

४. 'एष हि सर्वेषां भूतानां गोपायिता आदित्य .। यच्च किंचित् प्रवह्लितम्। आदित्य कर्मैव तत्।' 'निरुक्तम्', ७।१३
'अथ एषा वाच. प्रवह्लितेव।' दुर्गाचार्य, (निरुक्तम्', १३।८)

५. 'ब्रह्माय वाच : परम व्योम।' 'ऋग्वेद' १।१६४।३५, 'अत्रा सखाय· सख्यानि जानते भद्रैषा लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।' 'ऋग्वेद' १०।७१।२' 'अह राष्ट्री सगमनी वसूनां' 'ऋग्वेद' १०।१२५।३

६. 'इद वपुर्निवचन जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुराप.।' 'ऋग्वेद संहिता', ५।४७।५

७ 'ऋग्वेद-सहिता', १।१६४।७, 'अथर्ववेद-सहिता', ६।६।५

करती है।' सूर्य अथवा आत्मा के धर्म को निगूढ करके लिखी गई यह एक सुन्दर उलटवाँसी है, जिसे प० जयदेव शर्मा ने पहेली कहा है।[1]

(२) तिस्रोमातृस्त्रीन पितॄन विभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥'[2]

अर्थात् 'तीन माता और तीन पिता का जनक कोई एक है, जो सीधा स्थित है। इन छः का बोझा उठाकर भी वह थकता नही, झुकता नही। आकाश की पीठ पर आरूढ़ होकर और सर्वज्ञ से सम्पर्क पाकर भी, वाणी की सर्वव्यापकता को नही समझ पाते।' 'तीन माता और तीन पिता का जनक' यह उक्ति अतिक्रान्त उक्ति है, जो विस्मय को प्रश्रय दे रही है। इतना अधिक भार-वहन करने पर भी न थकना, न झुकना भी विस्मयकारक है। इस गूढ-कथन का अर्थ सूर्य अथवा परमेश्वर पक्ष मे करने पर, विरोध का परिहार हो जाता है। सूर्य पृथ्वी, अन्तरिक्ष और तेज इन तीनो को पालन करने वाले अग्नि वायु और विद्युत, इन तीनो को धारण करता हुआ ऊर्ध्वस्थ है। इसी प्रकार सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन से युक्त और पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ अथवा अग्नि, वायु और जल जीवो के पालक इन तीनो को धारण करता हुआ परमेश्वर सबके ऊपर अधिष्ठित है।

(३) 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥'[3]

अर्थात् 'सदा परस्पर मिलकर रहने वाले दो सखा (समान नाम वाले), सुपर्ण (सुन्दर गति वाले), एक ही वृक्ष पर अधिष्ठित है, एक उसके स्वादिष्ट फलो का भोक्ता है और दूसरा उनका द्रष्टा है।' इस कथन मे चमत्कार यह है कि एक ही परिस्थिति मे अधिष्ठित दो पक्षियो की प्रवृत्ति और प्रकृति पृथक्-पृथक् है? विरोधी प्रकृति वाले जीव और ब्रह्म संसार रूपी वृक्ष पर आरूढ है। दोनो (जीवात्मा और परमात्मा) उत्तम पोषक शक्ति से युक्त होने के कारण 'सुपर्ण' हैं। काटेजाने वाले वृक्ष के समान नश्वर देह मे जीवात्मा आश्रित है और विराट् ब्रह्माण्ड मे परमेश्वर। जीवात्मा सुस्वाद, मधुर फल के समान अपने पुण्य-पाप रूप कर्मो का, सुख-दुःख रूप फल का भोग करता है और परमेश्वर साक्षीमात्र है।

---

१ 'यह एक सुन्दर पहेली के समान है कि 'उस सुन्दर पक्षी का स्वरूप बतलाओ जिस की गौएं पैरो से रस पिएं और सिर से रस बरसावें? इसके दो उत्तर हैं, एक सूर्य दूसरा आत्मा। सूर्य की किरणें चरणो से भूमि पर से जलपान करती है और आकाश रूप सिर से मेघ रूप मे बरसाती हैं। इसी प्रकार देह मे लगी इन्द्रिया बाह्य विषयो का रसपान करती हैं और शिरोभाग से आनन्द या ज्ञान-रस उत्पन्न करती है।' 'अथर्ववेद-संहिता' भाषा-भाष्य, (द्वितीय खण्ड), पृ० ६६१

२. 'ऋग्वेद-संहिता' १।१६४।१०

* टिप्पणी—प्रथम मण्डल के सूक्त १६४ के उदाहृत मन्त्रो की विशेष व्याख्या केलिए द्रष्टव्य है प० जयदेव शर्मा कृत 'ऋग्वेद-संहिता' भाषा-भाष्य, (द्वितीय खण्ड)।

३. 'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।२०

विरोधी स्वभाव वाले जीव और ब्रह्म की परिस्थिति व्यक्त करने केलिए इस मंत्र की कथन-शैली इतनी प्रसिद्ध हुई कि वैदिक[1] और धार्मिक सस्कृत[2] साहित्य मे उसी रूप में अथवा कुछ परिवर्तन के साथ उक्त मत्र की आवृत्ति हुई है।

(४) 'सप्त युंजन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥'[3]

अर्थात् 'सात मिलकर एक चक्रवाले रथ को हाँक रहे है। सात नामों वाला एक ही घोड़ा उसे खीच रहा है। इस अमर्त्य की तीन नाभियाँ है। यह चक्र निरन्तर चल रहा है। इसमें सभी भुवन स्थित है।' कितना विचित्र है यह एक चक्र वाला रथ जो एक पहिये वाला होने पर भी सम्पूर्ण भुवनो का भार-वहन करने मे समर्थ है। इस मत्र मे प्रयुक्त निश्चित सख्याएँ गूढार्थ प्रधान है। प्रयोक्ता ऋषि ने इन के द्वारा वाणी के रहस्य को निगूढ बनाया है। यह विचित्र 'रथ' सूर्य का है। यज्ञ के सात पुरोहित, यज्ञ के द्वारा इस रथ को अग्रसर करते है। उसमे जुता हुआ सप्तवर्णी अश्व एक ही है। इस अमरणधर्मा चक्र के फलस्वरूप ही तीन ऋतुओ का आविर्भाव होता है, जो उसकी तीन नाभियाँ हैं। सम्पूर्ण लोक इस 'काल-चक्र' पर आरूढ है।

(५) 'द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥'[4]

अर्थात् 'आकाश मेरा पिता और जनयिता है। यही मेरा बन्धु और नाभि है। यह महती पृथ्वी मेरी माता है। इन दोनो के मध्य-भाग मे सोम पात्र के आकार की योनि फैली हुई है। उसी योनि मे पिता ने पुत्री मे गर्भाधान किया है।' ऋचा के अन्तिम चरण मे विधि-विरोध है।* सायण इस वाच्य विरोध का परिहार इस प्रकार करता है—नाभि=भोमरस, पितादुहितुर्गर्भमाधात्=सूर्य ने अपनी किरणो से अथवा इन्द्र ने वृष्टि के माध्यम से पृथ्वी को उर्वर किया।[5]

---

१. 'अथर्ववेद-सहिता', ९।९।२०, 'श्वेताश्वतरोपनिषद्', ४।६
२. 'श्रीमद्भागवतपुराण', ११।११।६-७
३. 'ऋग्वेद-सहिता', १।१६४।२
४. 'ऋग्वेद-सहिता', १।१६४।३३,', 'अथर्व-वेद-सहिता', ९।१०।१२
* टिप्पणी—नाथ-सतो की उलटवाँसियो मे 'धी घर व्याह बाप ने कीन्हा, माता पुत्र वियाही' ('तुलसी साहब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (पहला भाग), पृ० १३६) आदि विधि विरोध परक अनेक उदाहरण मिलते हैं।
५ 'नाभिरत्र भौमो रसोऽत्र तिष्ठतीति शेष। ततश्चान्न जायते। अन्नाद्रेतो रेतसो मनुष्य इत्येव पारपर्येण जननसवधिरेतो रसस्यात्र सद्भावात्। अत्र अस्मिन्नन्तरिक्षे पिता द्युलोक। अधिष्ठात्रधिष्ठानयो अभेदेन आदित्यो द्यौरुच्यते। स स्वरश्मिभि.। अथवा इन्द्र. पर्जन्योवा। दुहित दूरे निहिताया भूम्या गर्भ सर्वोत्पादनसमर्थ वृष्ट्युदक लक्षणम् आधाद् सर्वत. करोति। 'ऋग्वेद संहिता' मंत्र का सायण-भाष्य।

(६) 'अपाङ्-प्राङ् एति स्वधया गृभीतोऽमर्त्योमर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्ननिचिक्युरन्यम् ।।"[1]

अर्थात् 'न मरने वाला मरने वाले के साथ एक योनि होकर अन्नेच्छा या भोगेच्छा से पकड़ा हुआ है। (वह) कभी नीचे जाता है और कभी ऊपर आता है। वे दोनों सदा साथ रहने वाले और सब स्थानों पर फिरने वाले हैं। पर, उनमें से एक (मर्त्य) को लोक जानता है, दूसरे को नहीं।' मंत्र का वाच्य विरोधाश्रित और रहस्य प्रधान है। विपरीत स्वभाव वाले ये दोनों कौन हैं? जिज्ञासु की मनीषा विरोधी स्वभाव वाले जीव और ब्रह्म के पक्ष में सोचने के लिए प्रेरित होती है। 'सयोनि' होते हुए भी ये दोनों विरोधी स्वभाव वाले हैं। इन दोनों की मध्यम कड़ी 'स्वधा' है। 'स्वधा' से पकड़ा हुआ 'अमर्त्य' अपने 'मर्त्य' साथी के साथ एक शरीर हुआ फिर रहा है। कर्मों की विवशता से उसे निकृष्ट और उच्च योनियों में जन्म धारण करना पड़ता है।[2]

(७) 'द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः।"[3]

अर्थात् 'एक चक्र है, जिसमें बारह अरे हैं, तीन नाभि स्थान हैं। इसमें तीन सौ साठ कीलक (शंकवाः) लगे हैं। कौन है जो इस एक चक्र के रहस्य को समझ सकता है?' इस मंत्र में विशेष संख्याओं की योजना द्वारा अर्थ को निगूढ़ रखा गया है। यह विशेष चक्र है काल-चक्र अथवा संवत्सर। इसके बारह अरे बारह मास हैं। तीन नाभिस्थान तीन ऋतुएँ और चलाचल तीन सौ साठ कीलक वर्ष के अहोरात्र हैं। यह निरन्तर गतिशील रहता है।

(८) 'चत्वारिशृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यांआविवेश ।।"[4]

अर्थात् 'एक बैल है जिसके चार सींग हैं, तीन चरण हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं और यह तीन प्रकार से बँधा हुआ उद्घोष करता है।' इस विचित्र वृषभ का वर्णन विरोध गर्भित असम्बद्ध कथन शैली में है। सायण ने इस मंत्र के एकाधिक अर्थों की ओर संकेत किया है।[5] यज्ञपरक अर्थ इस प्रकार है—'इस यज्ञ रूपी वृषभ के चार सींग चार

---

१. 'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।३८; 'अथर्ववेद संहिता', ६।१०।१६; 'एतरेयारण्यक', २।८
२. 'मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नानायोनि सहस्राणि मयोपितानि यानि वै ॥' 'निरुक्तम्', १४।१६
३. 'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।४८
४. 'ऋग्वेद-संहिता', ४।५८।३; 'यजुर्वेद-संहिता', १७।९१; 'तैत्तिरीयारण्यक', १०।१०।२
५. 'यद्यपि सूक्तस्याग्निसूर्यादिपञ्चदेवताकत्वात् पञ्चधायं मन्त्रो व्याख्येयस्तथापि निरुक्तायुक्त नीत्या यज्ञात्मकाग्नेः सूर्यस्य च प्रकाशकत्वेन तत्परतया व्याख्यायते।'... एवं त्ववादिपक्षेऽपि योज्यम्। शाब्दिकास्तु शब्दब्रह्मपरतया चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपातश्च इत्यादिना व्याचक्षते। अपरेत्वपरथा। तत्सर्वमत्रद्रष्टव्यम्।' 'ऋग्वेद-संहिता', मंत्र का सायण भाष्य।

वेद अथवा चार पुरोहित (होता, उद्गाता, ऋत्विक् अध्वर्य) है, तीन पैर तीन सवन (प्रात., मध्याह्न, साय) है, दो सिर (ब्रह्मोदन और प्रवर्ग्य) है, सात हाथ सात वैदिक छन्द (त्रिष्टुप, जगती, उष्णिक, गायत्री, पक्ति, अनुष्टुप, वृहती) है। यज्ञाग्नि रूप देवता मंत्र, ब्राह्मण और कल्प से त्रिधावद्ध है। इसे 'वृषभ' इसलिए कहा जाता है कि यह यज्ञ-फलो की वर्षा करता है।'

सूर्यपरक अर्थ है—'इस सूर्य रूप वृषभ के चार सीग चार दिशाएँ है, तीन पैर तीन वेद है, दो सिर अहोरात्रि हैं और सात हाथ सात किरणे है, वह तीन स्थानो (पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश) मे बँधा हुआ है। वृष्टि करने वाला होने से उसे वृषभ कहते है।'*

शब्द-ब्रह्म परक अर्थ है—'इस शब्द ब्रह्म रूप वृषभ के चार सीग चार प्रकार के शब्द (नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात) है, तीन पाद ही तीन काल (भूत, वर्तमान, भविष्यत्) है, दो सिर (शब्द और अर्थ) हैं और सात हाथ सात विभक्तियाँ है। यह शब्द-ब्रह्म रूपी वृषभ तीन स्थानो (उर, कण्ठ, सिर) मे बँधा हुआ है।[1] वाणी के इस निगूढ रहस्य को कोई मनीषी ब्राह्मण ही समझ पाता है।[2]

ईश्वर परक अर्थ है—'हे मनुष्यो, जो स्वप्रकाश स्वरूप (देव), सुखो को बरसाने वाला, मरण धर्मा मनुष्यादि को सब प्रकार से व्याप्त करने वाला महान् देव है, वह त्रिधा-(श्रद्धा, पुरुषार्थ, योगाभ्यास) बद्ध हुआ निरन्तर उपदेश (रोरवीति) देता है। इस धर्म से युक्त नित्य और नैमित्तिक परमात्मा के बोध स्वरूप दो सिर (उन्नति और मोक्ष), तीन पैर (कर्म, उपासना और ज्ञान), चार सीग (चार वेद) आप लोगो को जानने योग्य हैं। इसके बोध के लिए सात हाथ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अथवा पाँच कर्मेन्द्रियाँ, अन्त.करण और आत्मा) हैं।'[3]

(६) 'मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः।
भ्रातेन्द्रस्य सखा मम ॥'[4]

अर्थात् 'पूषन् अपनी माता का पति और सहोदरा का प्रेमी है।' कथन मे माता का पति और सहोदराक । प्रेमी कहने मे विधि-विरोध है। विरोध का परिहार इस प्रकार होता है कि सूर्य अपनी माता रात्रि का पति है और सहोदरा भगिनी उषा से आलग्न है। निरुक्त मे कहा गया है कि साहचर्य से उषा इसकी स्वसा है।[5]

---

* टिप्पणी—हिन्दी-व्याख्या के लिए द्रष्टव्य है प० जयदेव शर्मा कृत 'ऋग्वेद संहिता' भाषा-भाष्य (षष्ठ-भाग)

१. पतञ्जलि 'महाभाष्य', १।१-१

२. 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण :।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदान्ति ॥'
'ऋग्वेद-सहिता', १।१६४।४५

३. प० जयदेव शर्मा कृत 'ऋग्वेद-सहिता' भाषा-भाष्य।

४ 'ऋग्वेद-सहिता', ६।५५।५

५. उषसमयस स्वसारमाह सहाचर्यात्। रसहरणाद्वा।', 'निरुक्तम्', ३।१६

(१०) 'तद्वामृतं रोदसी प्र ब्रवीमि जायमानो मातरा गर्भो अत्ति।
नाहं देवस्य मर्त्यश्चिकेताऽग्निरङ्ग विचेताः सप्रचेताः ॥'[१]

प्रथम पंक्ति के द्वितीय चरण का अर्थ है—(अग्नि) जन्म लेते ही अपनी माताओं का भक्षण कर लेता है।' 'जन्म लेते ही नव जातक अपनी माताओं का भक्षण कर लेता है।' इस कथन में तीन रूपों में विरोध विद्यमान है, कि नवजातक में इतनी सामर्थ्य कहाँ कि वह ऐसा दुष्कर कार्य कर सके; अपनी जन्मदात्री माताओं को वह क्यों भक्षण करता है और फिर एक को जन्म देने वाली एक ही माता होती है, माताएँ कैसे ? विरोध का परिहार इस प्रकार होता है—'पार्थिव-अग्नि की उत्पत्ति समिधाओं से होती है, अतः वे उसकी माताएँ हुईं और प्रज्ज्वलित होते ही वह उन्हें भस्म कर देती है।' यही उसका भक्षण है।

ऋग्वेद के उक्त उदाहरणों के अतिरिक्त ऐसे अनेक कथनांश या वाक्यांश मिलते हैं, जिनमें उलटवाँसी के समकक्ष विरोधगर्भित असम्बद्धता और प्रतीक-प्रयोग हैं। उदाहरण केलिए 'न थकने वाली दश कुमारियों ने त्वष्टा के इस बालक (अग्नि) का भरण-पोषण किया।'[२] लोक में दिखाई देने वाली गाय से विचित्र गाय का वर्णन, जो अपने बछड़े को साथ लिए रहकर विचित्र प्रकार की क्रियाएँ और कार्य करती है।'[३] 'पैर वालों से पहले बिना पैरों वाला आ जाता है। मित्रवरुण इस रहस्य को नहीं जानते।'[४] 'जल के बीच में भी प्यास बनी है।'[५] इन उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में उलटवाँसी अथवा प्रवह्लिका शैली का, जिसे विद्वानों ने समाधि-भाषा[६] भी कहा है, सम्यक् प्रयोग हुआ है।

अथर्ववेद में वैदिक-साहित्य की कथन-शैली की इस परम्परा का विकास भली प्रकार देखने को मिलता है। ऋग्वेद के विरोधगर्भित गूढ़ार्थक शैली के बहुत से मन्त्र

---

१. 'ऋग्वेद-संहिता', १०।७९।४

२. 'दशेमं त्वष्टुर्जनयन्त गर्भं मतन्द्रासो युवतयो विभृत्रम्।' 'ऋग्वेद-संहिता', १।९५।२

३. 'अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अन्तः ॥'
'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।१७

'अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद् भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ॥'
'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।२९

४. 'अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वा मित्रावरुणाचिकेत।'
'ऋग्वेद-संहिता', १।१५२।३

५. 'अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्।' 'ऋग्वेद-संहिता', ७।८९।४

६. 'दि ग्रेटर पार्ट ऑफ दि स्टेटमेन्ट्स मेड बाइ दीर्घतमस एज़ हैव बीन कौच्ड इन 'समाधिभाषा, दैट, सिम्बौलिक लैंग्वेज। दि की टु सच लैंग्वेज कैन नॉट बी राम्पा-इड मेअरली बाइ ए केअरफुल स्टडी ऑफ टैक्स्ट्स।' डॉ० सम्पूर्णानन्द, (फौवर्ड ऑफ 'अस्य वामस्य हिम्' बाइ डॉ० जी० कुन्हनराजा, से उद्धृत)

अथर्ववेद में ज्यो के त्यों मिलते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डलान्तर्गत सूक्त १६४ ('अस्यवामस्यमूक्त) के समान अथर्ववेद के 'कुन्तापसूक्त', 'कवषऐलूष' आदि सूक्त अपनी गूढार्थता केलिए प्रसिद्ध है।[1] शैली की परम्परा निर्वाह केलिए अथर्ववेद के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

'हिङ्करिकृती बृहती वयोधा उच्चैर्घोषाभ्येति या व्रतम।
त्रीन धर्मानभि वावशाना मिमाति मायुं पयतेपयोभिः॥'[2]

अर्थात्—'मधुकशा समस्त प्राणो या लोको को धारण करने वाली है। उच्च घोष करती हुई व्रती केलिए साक्षात् होती है। तीन धर्मो द्वारा वशीभूत होकर रसो से पुष्ट करती है।' यह वर्णन उलटवाँसियो मे वर्णित 'अनहदनाद' और 'कामधेनु' के वर्णन के समान है। विचित्र कथन है कि जो तीन धर्मों के द्वारा वशीभूत होकर रस को स्रवित करती है। इस कथन का अर्थोद्वोधन इस प्रकार होता है—'यह मधुकशा शक्ति ब्रह्म-शक्ति है, जो प्राण, अन्न तथा लोको को धारण करने वाली है और जो सामगान करती हुई ज्ञानी अथवा कर्मनिष्ठ अभ्यासी के प्रति साक्षात् होती है। जो ज्ञान कर्म और उपासना इन तीन धर्मों के वशवर्ती होकर व्रती के प्रति अपना घोष करती हुई ज्ञान-धाराओ से उसे पुष्ट करती है।'[3] इसी प्रकार उलटवाँसी शैली मे वर्णित 'पिण्डस्थ ब्रह्माण्ड की कल्पना'[4] और शरीर के लिए नवद्वार वाले पुण्डरीक का रूपक'[5] अथर्ववेद मे देखने को मिलता है। अथर्ववेद मे विचित्र स्वभाव वाली गाय का वर्णन मिलता है, जो अपने ऊर्ध्व भाग से अपनी माता के प्रति शब्द करती है और वशवर्ती होकर रस स्रवित करती है। तथा जो एकपदा, द्विपदा, चतुष्पदा, अष्टपदा, नवपदा आदि रूपो मे देखी जाती है :—

'गौरमीमेदनु वत्स मिषन्त मूर्धानं हिङ्ङक्रुणोन्मातवा उ।
सक्वाण धर्मभि वावशाना मिमाति मायु पयते पयोभि॥'[6]

---

१. 'अथर्ववेद-सहिता', २०।१२७-१३७ तक
२. 'अथर्ववेद-सहिता', ६।१।८
३. 'वही, पं० जयदेव शर्मा कृत 'भाषा-भाष्य'
४. 'आवि॰ सन्निहित गुहा जरन्नाम महत् पदम्।
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम॥' 'अथर्ववेद-सहिता', १०।८।६
अर्थात् 'गुहा मे (ब्रह्माण्ड और शरीर मे) वह व्यापक और महान् ज्ञातव्य है। वह अति समीप स्थित है। 'व्यापक' के ही ये सब चर-अचर (प्रणान क्रिया करने वाला शरीर, इन्द्रिय, चित्त आदि, ब्रह्माण्ड मे सूर्य, नक्षत्र, वायु आदि) आश्रित है।'
५ 'पुण्डरीक नवद्वार त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तत् वै ब्रह्मविदो विदु.॥' वही, १०।८।४३
अर्थात् 'नवद्वार वाले पुण्डरीक कमल के समान यह शरीर तीन गुणो से आवृत है, उसमें जो सबका सगमस्थान (आत्मा) है उसी को ब्रह्मज्ञानी पुरुष साक्षात् करते हैं।'
६. 'अथर्ववेद-सहिता', ६।१०।६

'गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदीसा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः
समुद्रा अधि विक्षरन्ति ।'[1]
'कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सो अजायत ।
सह द्यामधि रोहति रुहोरुरोह रोहितः ॥'[2]

अर्थात् 'काली (रात्रि) ने एक श्वेत बच्चे को उत्पन्न किया है। वह आकाश में ऊँचा चढ गया है।' 'कृष्ण' का पुत्र 'अर्जुन' है, यही विरोध गर्भ गूढोक्ति है। यहाँ रात्रि मे चन्द्रोदय अथवा प्रभात समय मे सूर्य के गगनारूढ होने का वर्णन है।

'अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्व बुध्नस्मिन् यशोनिहितं विश्वरूपम् ।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी संविदाना इति ॥'[3]

अर्थात् 'एक चम्मच, जिसका मुख नीचे की ओर और पेंदा ऊपर की ओर है। उसके किनारे पर सप्त ऋषि और आठवी वाक् देवता है।' चम्मच की उपमा 'सिर' से दी है, जिसमें प्राण वायु, इन्द्रियाँ और वाक्देवी का अधिष्ठान है।

इस प्रकार अथर्ववेद मे ऐसे अनेक मंत्र मिलते हैं जिनकी अभिधामें विरोधगर्भित असम्बद्धता दिखाई देती है। अनेक मंत्रो मे प्रतीकों के पीछे अर्थ को निगूढ रखा गया है। एक स्थान पर तो ब्रह्म-प्रकृति परक छ पहेलियों का सकलन मिलता है।[4] उनमे से एक यहाँ प्रस्तुत है—

'विततौ किरणौ द्वौ तावा पिनाष्टि पूरुषः ।
न वै कुमारि तत तथा यथा कुमारि मन्यसे ।'

अर्थात् 'पीस पीस कर फेंकने वाले चक्की के दो पाट अतिविस्तृत हैं। उनके द्वारा एक ही पुरुष निरन्तर पीसता है। हे नव यौवने ! यह वैसा सरल नही है, जैसा तू मानती है।' यहाँ आकाश और पृथ्वी, स्त्री-पुरुष अथवा जीव और प्रकृति ये कर्त्ता-भोक्ता के रूप मे दो पाट हैं, जिनको वह ब्रह्म तत्त्व अकेला ही रचकर चलाता है। उस तत्त्व को समझ पाना उतना सरल नही है।[5]

संहिता-भाग मे यह शैली देववाची अमूर्त्त शक्तियो के विस्मयकारी कृत्यों, ब्रह्म-चर्चा के रूप मे यज्ञ सम्बन्धी प्रसगों मे प्रयुक्त होती थी।[6] इसप्रकार की शैली मे अध्यात्म विषय का

---

१. 'अथर्ववेद संहिता' ९।१०।२१
२. 'अथर्ववेद संहिता' १३।३।२६
३. 'अथर्ववेद-संहिता', १०।८।९
४. 'इति प्रवल्हिकाः षट् ।' 'अथर्ववेद संहिता', २०।१३३।१-६
५. पं० जयदेव शर्मा कृत 'अथर्ववेद संहिता', भाषा-भाष्य पर आधारित ।
६. 'ब्रह्मोद्य' ब्राह्मणो 'शतपथ ब्राह्मण' ४, ६।९।२०, 'ऐतरेय ब्राह्मण' ५।२५) मे ऐसी ईश्वर-शास्त्र-विषयक समस्याओं की द्योतक है जो अश्वमेध अथवा दाशरात्र जैसे वैदिक यज्ञों से सम्बद्ध विभिन्न संस्कारों का अनिवार्य अंग होती थी।' 'वैदिक-इण्डेक्स' भाग २, (हिन्दी अनुवाद) पृ० ८७

प्रतिपादन होता था, जिसमे सृष्टि और उसके विकास सम्बन्धी समस्याओ पर विचार होता था। विषय की जटिलता अथवा सूक्ष्मता के कारण, इस प्रकार की अभिव्यक्ति गूढोक्तियो के रूप ही सम्भव थी। साथ ही इस शैली के माध्यम से जिज्ञासा को प्रबुद्ध और बुद्धिवृत्ति को प्रोत्साहित करने केलिए भी कथन की विरोधगर्भित शैली का आश्रय लिया जाता होगा। 'एक पाद होते हुए भी द्विपाद से अधिक तीव्रगामी है और द्विपाद त्रिपाद से अग्रगामी है। द्विपाद के आह्वान से चतुष्पाद आता है।'[1] ऐसे कथनो को सुनकर श्रोता या साधक की चित्तवृत्ति केन्द्रित होकर विचार करने के लिए तत्पर होती है। उक्त कथन मे एकपाद-एक चक्र वाला सूर्य, द्विपाद-मानव, त्रिपाद-यष्टिधारी वृद्ध पुरुष तथा चतुष्पाद श्वान् है। इसी प्रकार साक्षी ईश्वर केलिए ऐसे कथन 'जो दर्शक है वह सबसे पृथक् और छिपा हुआ है',[2] विचार करने को बाध्य करते है।

उक्त कारणो के अतिरिक्त वैदिक ऋषियो के सम्मुख गहन अनुभूतियो की अभिव्यक्ति की समस्या प्रधान रूप से रही होगी। वह गुरु-गम्भीर अनुभूति सीमित प्रतीको के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है, अत अर्थ सक्षेप की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक ही है। 'आँखो और कानो वाले भी मन के वेगो को समझने मे समर्थ नही है।'[3] अत 'समर्थ अधिकारी तक ही ज्ञान की गति हो'।[4] इसलिए भी प्रतीक और विशिष्ट कथन-शैली के कारण वाणी मे निगूढता का होना सम्भव है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के कथनो से उक्तियो मे चमत्कार और वाणी की शोभा मे वृद्धि होती हे, क्योकि कथन की शोभा वाणी मे निहित रहती है।[5]

उपनिषदों मे

उपनिपदो तक आते-आते विरोधाश्रित गूढोक्ति-शैली का सम्यक् विकास हो चुका था। इस समय तक वैदिक विचारक ऋषि कर्म-काण्ड से चिन्तन की ओर मुड गया था। उपनिषद् काल का विवेच्य विषय सूक्ष्म-तत्त्व, आत्मा या ब्रह्म है। उस परमानुभूत तत्त्व की अभिव्यक्ति 'मौन-व्याख्यान' अथवा विरोधाश्रित शैली के द्वारा ही सम्भव थी, क्योकि उस तत्त्व को प्राप्त करने में वाणी और मन भी असमर्थ है।[6] जो पुरुष उस तत्त्व को गुहा (बुद्धि, आकाश)

---

१ 'एकपाद्भूयो द्विपदो त्रि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे सपश्यन् पङ्क्तीरूपतिष्ठमान ॥'
'ऋग्वेद-सहिता', १०।११७।८

२ 'य ईं चकार न सो अस्य वेद ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।' वही, १।१६४।३२

३ 'अक्षण्वन्त कर्णवन्त सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवु ।' वही, १०।७१।७

४ 'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥' 'नरुक्तम्', २।२०

५ 'अत्रा सखाय सख्यानि जानते भद्रैषा लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ।'
'ऋग्वेद संहिता', १०।७१।२

६ 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्द ब्राह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति ॥' 'तैत्तिरीयोपनिषद्' २।४।१

में निहित जानता है, वह एक साथ ही सम्पूर्ण भोगो को प्राप्त कर लेता है।[1] यहाँ 'गुहा' का अर्थ 'बुद्धि'[2] बताने मे बुद्धि तत्त्व की प्रधानता द्योतित होती है। समर्थ अनुभूति की अभिव्यक्ति केलिए उपनिषदो के अनेक कथनो में विरोधगर्भित अभिधा दिखाई देती है।

(१) 'स यवदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्।
सर्वस्यैतस्यात्ता भवित सर्वस्यान्न' भवति ये एवमेतददितेरदितित्व वेद॥'[3]

अर्थात् 'जो जिसकी रचना करता है, वह उसे खाता भी है। अर्थात् उस (मृत्यु) ने जिस-जिस की रचना की उसी-उसी को खाने का भी विचार किया।' लोक-व्यवहार मे निर्माता या रचयिता अपनी निर्मिति या रचना के विनाश की बात नही सोचता। यही इसका वाच्य-विरोध है। इस उपनिषद् मे वाणी और मन के प्रतीक रूप मे धेनु, वृषभ और बछडे को गृहण किया गया है।[4] इनका विकास तन्त्रो, सहजयानी बौद्धो और नाथ-सन्तो की वाणी में देखने को मिलता है। छान्दोग्योपनिषद् में हठयोगी साधना जैसे 'इस पिण्ड के भीतर ही ब्राह्माण्ड है' और 'हृदय की एक सौ एक नाड़ियो मे से एक ऊर्ध्वगमन करती है जो अमरत्व प्रदान कराती', के अनेक कथन मिलते है।[5]

(२) 'अपाणि पादो जवनो गृहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्य पुरुषं महान्तम्॥'[6]

अर्थात् 'वह हाथ-पाँव रहित होकर भी वेगवान् और ग्रहण करने वाला है, नेत्रहीन होकर भी देखता है, कर्ण रहित होकर भी सुनता है। वह सम्पूर्ण वैद्य को जानता है, पर, उसको

---

१. 'यो वेद निहित गुहाया परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।' 'तैत्तिरीयोपनिषद, २।१।१

२. 'गूहतेः संवरणार्थस्य निगूढा अस्या ज्ञानज्ञेयज्ञातृपदार्था इति गुहा बुद्धिः गूढावस्या भोगापवर्गो पुरुषार्थवि‍ति वा तस्या परमे प्रकृष्टे व्योमन्व्योम्न्याकाशेऽव्याकृताख्ये।' वही, मन्त्र का 'शाङ्कारभाष्य'

३. 'वृहदारण्यकोपनिषद्', १।२।५

४. 'वाच धैनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तना. स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकार स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनो देवा उपजीवन्ति स्वाहाकार च वषट्कार च हन्तकार मनुष्या स्वधाकार पितस्तस्या. प्राण ऋषभो मनो वत्स॥' 'वृहदारण्यकोपनिषद्', ५।८।१

५. 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावा पृथ्वी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वंतदस्मिन्समाहितमिति॥' 'छान्दोग्योपनिषद्', ८।१।३
'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङ्न्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥' वही, ८।६।६

६. 'श्वेताश्वरोपनिषद्', ३।१६

जानने वाला कोई नही है, उसको सबका आदि पुरुष और महान् कहा गया है।' इस प्रकार अपने इन विरोधी धर्मो वाला वह पुरुष बड़ा विचित्र है। ऐसा विचित्र पुरुष (आत्मा) अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है और वह मनुष्य की गुहारूप बुद्धि में विद्यमान है।[1] कुछ और उदाहरण :—

(३) 'सहस्रशीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥'[2]

अर्थात् 'वह पुरुष सहस्र शिर, सहस्र नेत्र और सहस्र चरणों वाला है, वह भूमि को सब ओर से व्याप्त करके दशाङ्गुलि परिमाण वाले हृदय मे स्थित है।' इस वाच्य मे विरोध और अद्भुत तत्त्व का चमत्कार है।

(४) 'त्वं स्त्रीं त्वं पुमानसि त्वं कुमार उतवा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातोभवसि विश्वतोमुखः ॥'[3]

अर्थात् 'तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार या कुमारी है और तू ही वृद्ध होकर दण्ड के सहारे चलता है तथा तू ही उत्पन्न होने पर अनेक रूप हो जाता है।' एक का अनेक रूपो मे कथन होने से वाच्य मे विरोध है।

(५) 'न तत्र सूर्योभाति न चन्द्र तारकं, नेमाविद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥'[4]

अर्थात् 'वहाँ सूर्य प्रकाशित नही होता, न चन्द्र और तारे प्रकाशित होते है। न ये बिजलियाँ ही चमकती है, फिर यह अग्नि कहाँ प्रकाशित हो सकता है ? ये सब उसके प्रकाश से ही प्रकाशित होते है।' सूर्य-चन्द्र-तारागण विहीन देश-काल की स्थिति का वर्णन बडा विचित्र है।

(६) 'कार्य-ब्रह्म' या ससार का वर्णन एक नदी के रूप मे किया गया है, जिसमे सागरूपक के आधार पर शैली की निगूढता द्रष्टव्य है—

'पञ्चस्रोतोऽम्बु पञ्चयोन्युग्र वक्रां, पञ्च प्राणोर्मि पञ्चबुद्धयादि मूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां, पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥'[5]

अर्थात् 'पाँच स्रोत (चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) जिसमे जल की धाराएँ है। पाँच उद्गम स्थानो (कारण रूप पचभूत) के कारण जो बडी उग्र और वक्र है, जिसमे पचप्राण अथवा वाक्, पाणि, पादादि रूप पाँच तरगे हैं, पाँच प्रकार के ज्ञानो (चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियो से होने वाला ज्ञान) का मूल (अर्थात् मन) जिसका कारण है, जिसमे पाँच आवर्त्त (शब्दादि पाँच विषय) है जो पाँच प्रकार के दुःख (गर्भ, जन्म, जरा, व्याधि और मरण) रूप औघ वाली है और जो पाँच क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश) रूप पर्वो वाली है, इस प्रकार इस पचास भेदो वाली नदी को हम जानते है।'[6] इस प्रकार बुद्धि मे स्थित

---

१ 'अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहाया निहितोऽस्य जन्तो :।'
श्वेताश्वतरोपनिषद' ३।२०

२ श्वेताश्वरोपनिषद् ३।१४, ३ वही, ४।३

४. 'श्वेताश्वतोरोपनिषद्', ६।१४; ५. वही, १।५

६ वही, मंत्र के शाङ्कर भाष्य के आधार पर।

उस परमतत्व की अनुभूति को विरोधी धर्मों के द्वारा अभिव्यक्त किया है।[1] और उस स्थिति तक पहुँचने के लिए बुद्धि को सारथी बनाना भी अपेक्षित है।[2]

(७) 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः
कस्तंमदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥'[3]

अर्थात् 'वह स्थित हुआ भी दूर तक जाता है, शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है। हर्ष से युक्त तथा मद से रहित (मद तथा अमद दोनो की स्थिति वाले) उस देव को मेरे सिवा कौन जान सकता है।' यहाँ, स्थित रहने पर भी दूर तक जाने और शयन करते हुए भी सर्वत्र गमन करने में, दृष्ट विरोध है। इसी प्रकार एक ऐसे 'अश्वत्थ' वृक्ष का वर्णन मिलता है, जिसका वाच्य असम्बद्ध और व्यवहार पक्ष मे असम्भव है—

(८) 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ : सनातनः।'[4]

अर्थात् 'जिसका मूल ऊपर की ओर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं, ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन है।' जड़ का नीचे की ओर होना और शाखाओं का ऊपर की ओर होना 'धर्म' है, परन्तु उक्त उदाहरण मे विपरीत कथन है। अत. दृष्ट रूप मे वाच्य विरुद्ध 'धर्म' के आश्रित है। श्रीमद्भगवत् गीता मे भी ससार वृक्ष का वर्णन करते हुए उलटवाँसी शैली का आश्रय लिया गया है—

'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥'[5]

अर्थात् 'वेद जिसके पत्ते हैं, मूल जिसका ऊपर की ओर है और शाखाएँ नीचे की ओर। ऐसे अश्वत्थ वृक्ष को जो जानता है...वही वेदविद् है।' इसका अर्थ 'संसार रूपी वृक्ष'[6] के पक्ष मे लगता है। यह संसार रूपी वृक्ष 'आदि पुरुष परमेश्वर रूप मूल वाला और ब्रह्मा रूप मुख्य शाखा वाला है।* इस अविनाशी संसार रूप पीपल के वृक्ष को जो जानता

---

१. 'तं दुदर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं, गुहाहितं गह्वरेष्ठ पुराणम्।' 'कठोपनिषद्', १।२।१२
२. 'बुद्धि तुं सारथिं विद्धि', वही, १।३।३
३. कठोपनिषद्', १।२।२१;
४. वही, २।३।१
५. 'श्रीमद्भगवद् गीता', १५।१
६. वृक्ष रूप मे संसार की उपमा अनेक स्थानो पर दी गई है। द्रष्टव्य है—'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।२०; 'अथर्ववेद संहिता', ६।६।२०, 'श्वेताश्वतरोपनिषद्', ४।६; मुण्डकोपनिषद् ३।१।३
* टिप्पणी - आदि पुरुष परमात्मा ही नित्य और अनन्त है। वह सब का आधार और सबके ऊपर अविष्ठित होने के कारण ऊर्ध्व है। वही इस संसार रूप वृक्ष का कारण है। अत. यह ससार ऊर्ध्वमूल हुआ। उस आदि पुरुष से ही उत्पत्ति होने के कारण तथा नित्यधाम से नीचे ब्रह्मलोक में निवास करने के कारण हिरण्य-गर्भ रूप ब्रह्मा इस ससार का विस्तार करने वाला है, अत. वह इस संसार-वृक्ष की अध शाखा है। इस वृक्ष का मूल कारण परमात्मा अविनाशी है और अनादि काल से इसकी परम्परा चली आई है, अतः यह संसार रूप वृक्ष भी अविनाशी है।

है, वह वेदविद् है। मंत्र के अन्तिम चरण 'यस्त वेद स वेदवित्' में 'सोई पंडित सो तत ग्याता, जो इहि पदहि विचारै' जैसे कथन की ध्वनि निकल रही है।

(९) 'तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत:॥'[1]

अर्थात्—'वह चलता है और नही (भी) चलता। वह दूर है और समीप (भी) है, वह सबके अन्तर्गत है और सबके बाहर (भी) है।' इस प्रकार उस सूक्ष्मतत्त्व की अभिव्यक्ति विरोधाश्रित गुणो के आधार पर ही सम्भव हो सकी है। तभी तो वह 'ठहरा हुआ भी अन्य दौड़ने वालो से आगे निकला हुआ बताया है।'[2]

(१०) 'बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतर विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्ति के च पश्यत्स्विहैव निहित गुहायाम्॥'[3]

अर्थात् 'वह महान् और अचिन्त्य रूप है, वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर भासमान होता है, वह दूर से भी दूरतर और वह अत्यन्त समीप (भी) है। वह प्राणियो की बुद्धिरूप गुहा मे छिपा है।' इस सूक्ष्मतत्त्व की अभिव्यक्ति, विरोधाश्रय के अतिरिक्त, वाणी अपनी सीमित सामर्थ्य से किस प्रकार कर सकती थी, क्योकि वह तत्त्व न तो नेत्र से ग्रहण किया जा सकता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से और न तप अथवा कर्म से, ज्ञान के प्रसाद से ही उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है।[4] उस अनुभूत पक्ष को वाणी येन केन प्रकारेण अभिव्यक्त कर पाती है।

उपनिपदो मे चरम-तत्त्व की अभिव्यक्ति केलिए उलटवाँसी शैली का आश्रय लिया गया है। उपनिपदो मे तर्क-विश्लेपण के आधार पर ज्ञान-काण्ड का प्रारम्भ हुआ। और सूक्ष्म-तत्त्व की उपलब्धि पूर्ण अभिव्यक्ति केलिए 'सूक्ष्म-बुद्धि'[5] की आवश्यकता होती है। इसीलिए ज्ञान-मार्ग तीक्ष्ण और दुस्तर 'छुरे की धार'[6] के समान है। वह अजन्मा तत्त्व अथर्ववेद के 'पुण्डरीक नवद्वार'[7] मे बढकर उपनिपद् मे 'एकादश द्वार वाले पुर'[8] मे खोजा गया है। ऐसे तत्त्व की अभिव्यक्ति मे वाणी की असामर्थ्य इसलिए भी है कि 'वह स्वयं उसी तत्व मे प्रकाश ग्रहण करती है।'[9] अभिव्यक्ति की समस्या के सम्बन्ध मे 'शतपथ-ब्राह्मण' मे

१. 'ईशावास्योपनिपद्,' मत्र ५
२. 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्' वही, मत्र ४
३. 'मुण्डकोपनिपद्', ३।१।७
४. 'न चक्षुपा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु त पश्यते निष्कल ध्यायमान:॥'
'मुण्डकोपनिपद्', ३।१।८
५ 'दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि:।' 'कठोपनिपद्,' १।३।१२
६. 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।' वही, १।३।१४
७. 'अथर्ववेद-सहिता,' १०।८।४३
८ 'पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्र चेतस:।' 'कठोपनिपद्,' २।२।१
९. 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।' केनोपनिपद्', १।४

उल्लिखित मन-वाणी का विवाद[1] द्रष्टव्य है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उपनिषदो मे अनुभूत तत्त्व की सूक्ष्मता के कारण कही-कही विरोध-मूलक वक्र कथन का आश्रय लिया गया है। सम्भव है देवताओ के 'परोक्ष प्रिय' तथा 'प्रत्यक्ष द्वेपी'[2] होने की कल्पना 'विद्या' की पवित्रता वनाए रखने केलिए ही हो। इसमे पात्र की परख होने के पश्चात् ही तत्त्व-ज्ञान का उपदेश देना प्रधान है। अत ऐसी दशा में इस विरोध गुण सम्पन्न वक्र शैली का ही सामर्थ्य है, जो उस अनुभवगम्यात्मक 'अहम्' की स्थिति को यत्किंचित् अभिव्यक्त कर सकी है।[3]

(ख) धार्मिक तथा मध्यकालीन संस्कृत-युग : इस युग का संस्कृत साहित्य दो भागों में आता है—धार्मिक साहित्य तथा काव्य कलात्मक साहित्य। धार्मिक साहित्य में रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत पुराणादि आते हैं और कलात्मक साहित्य मे कालिदास, माघ, श्रीहर्ष, दण्डी आदि के काव्य है। धार्मिक साहित्य मे सगुण ईश्वर की कल्पना, इष्ट की उपासना-पूजा आदि के कारण शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि तथा आत्मा को रथी मानने की धारणा स्वतः ही लुप्त हो गई अथवा दब गई, क्योकि अवतार के साथ ही अनुभूति की सूक्ष्मता का स्थान आनुष्ठानिक सघनता ले लेती है, अतः उपासक की अभिव्यक्ति केलिए विरोधी धर्म वाली प्रतीक प्रधान वक्रशैली की उतनी आवश्यकता नही रहती।

दूसरी ओर कलात्मक साहित्य मे व्युत्पत्तिजन्य विदग्धता का प्राधान्य रहा है, जिसमें चिन्तन पक्ष गौण तथा काव्य शास्त्रीय, व्याकरण शास्त्रीय पक्ष प्रधान होता है। ऐसी स्थिति में अभिव्यक्ति के लिए जिस मार्ग को अपनाना पडता है वह ऋजु न होकर वक्र ही होता है, परन्तु उसमे बुद्धि तत्त्व की अभिव्यक्ति विरोधाश्रित न होकर, विदग्धता जन्य होती है। ऐसी स्थिति मे उलटवाँसी शैली का प्रयोग न होकर, इसी वर्ग की 'दृष्टकूट', 'ग्रन्थग्रन्थि' आदि शैलियों का प्रयोग होता है। विरोध मूलक वक्र शैली या उलटवाँसी मे चिन्तन, साधना, विचार अथवा बुद्धितत्त्व की प्रधानता होती है, परन्तु ग्रंथग्रन्थि आदि में काव्यशास्त्रीय अथवा व्याकरण शास्त्रीय बहुज्ञता का प्रदर्शन। एक की समस्याएँ सृष्टि, जीव अथवा तत्त्व सम्बन्धी रहती हैं, तो दूसरे का प्रयोजन कलात्मक ज्ञान की योजना तथा कौतूहल-सृष्टि आदि हैं। सामान्यतः कहा जा सकता है कि अपनी मूल प्रवृत्ति के अभाव मे उलटवाँसी शैली का उपयोग धार्मिक तथा मध्य कालीन संस्कृत युग मे कम हुआ है। परम्परा निर्वाह के लिए कुछ उदाहरण अवश्य मिल जाते हैं जो उलटवाँसी शैली अथवा उसके निकट के हैं।

---

१. 'शतपथ ब्राह्मण', १।४।५।८-१२

२. 'परोक्षप्रिया इव देवाः।' 'वृहदारण्यकोपनिषद्', ४।२।२, 'ऐतरेयोपनिषद्', १।३।१४
'देवाः प्रत्यक्ष द्विषः प्रत्यक्षनामग्रहणं द्विषन्ति।' मंत्र का शाङ्कर भाष्य।

३. 'अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्ति : पश्याम्यचक्षु : स शृणोम्यकर्ण :।
अहं विजानामि विविक्त रूपो न चास्तिवेत्ता मम चित्सदाऽहम्॥'
'कैवल्योपनिषद्', मंत्र २१

महाभारत मे सौति का कथन है कि ग्रन्थग्रथियाँ वे गूढ श्लोक हैं, जिन्हें महर्षि व्यास ने विशेष प्रयोजन से रचा है।[1] यह प्रयोजन विदग्धता जन्य कौशल ही है, जिसमे यमक, श्लेष आदि के द्वारा अर्थ को निगूढ रखा जाता है। जैसे—

'प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञं प्रलापज्ञो वचोऽब्रवीत् ॥'[2]

यहाँ 'प्राज्ञ' शब्द के तीन अर्थ है—बुद्धिमान, ग्राम्य (अज्ञ) और समझने मे कठिन। तथा 'प्रलापज्ञ' के दो अर्थ—ग्राम्य लोगो की बोलियो को समझने वाला, प्रलाप करने वाला। इस श्लोक मे विदुर ने गूढभाषा मे, लाक्षागृह में भस्म कर देने वाला दुर्योधन का षड्यत्र युधिष्ठिर को बतलाया है। अर्थ इस प्रकार है—'प्राज्ञप्रलापज्ञ = प्रादेशिक बोलियो के ज्ञाता विदुर, प्रलापज्ञं = युधिष्ठिर को ये वचन कहे। उन बोलियो को न जानने वाले उन शब्दो को न समझ सके, केवल उनको जानने वाले ही समझ सके।'*इसका उत्तर युधिष्ठिर ने भी गूढभाषा मे दिया है—

'अलोहं निशितं शस्त्रं शरीरपरिकर्तनम्।
यो वेत्ति न तु तं घ्नन्ति प्रतिघातविदं द्विषः ॥
कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः।
न दहेदिति चात्मानं यो रक्षति स जीवति' ॥'[3]

अर्थात् 'वह प्रासाद अग्नि ग्राही पदार्थों का बना है, जो बाहर से दृष्टिगोचर नही होते। अत उसे रात्रि मे त्याग दो। जो व्यक्ति प्रतिघात को सम्यक्तया जानता है, उसे शत्रु नष्ट नही कर सकते। वह धूर्त्त उस घर मे आग लगा देगा। वह भयकर शत्रु है, तुम उससे अपनी रक्षा तभी कर सकते हो, जब सुरग मार्ग से निकल जाओ।' यहाँ 'अलोह', 'निशित', 'शस्त्र', 'कक्षघ्न', 'शिशिरघ्न', 'कक्षे' आदि शब्द अभिधेयार्थक नही हैं।[4] परन्तु ये उदाहरण विरोध-गर्भित वक्र शैली अथवा उलटवाँसी शैली के भी नही है, वरन् कूटत्व पर आश्रित दृष्टकूट

---

१ 'ग्रथाग्रंथितदाचक्रे मुनिर्गूढं कुतूहलात्।' 'महाभारत' (आदि पर्व), १।८०

२ 'महाभारत', आदि पर्व, १४५।२०

* टिप्पणी...महाभारत के उद्धृत कूट श्लोको की हिन्दी-व्याख्या 'कूट काव्य-एक अध्ययन' पर आधारित है।

३. 'महाभारत', आदिपर्व, १४५।२२-२३

४ 'कक्षे' (निकट मे), 'हन्ति' (चलता है), अर्थात् जो पास-पास चलता है। इसका प्रयोग धूर्त्त पुरोचन के लिए हुआ है, जिसे दुर्योधन ने यह कह कर वारणावत भेजा था, कि लाक्षागृह मे अग्नि लगाकर पाण्डो को जलादे। 'शिशिर' की पव्युत्त्ति 'शृ' धातु से है, जिसका अर्थ है—'विनाश करना'। यहाँ इसका अर्थ है 'विनाशाग्नि' और 'शिशिरघ्न.' का अर्थ है—'अग्नि की सहायता से नष्ट करने वाला'। 'महाकक्षे' का अर्थ है, 'उस महाशत्रु के सामने।' यहाँ 'कक्ष' की व्याख्या है 'कं सुख हन्ति इति' (सुख का हनन करने वाला) अर्थात् शत्रु।' 'कूटकाव्य-एक अध्ययन', पृ० ६२

शैली के है। एक उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमे असम्बद्ध कथन के रूप में उलटबाँसी शैली और उसका विचार पक्ष द्रष्टव्य है—

'तन्त्रं चेदं विश्वरूपे युवत्यौ वयसस्तंतून् सततं वर्तयन्त्यौ।
कृष्णान सितांश्चैव विवर्तयन्त्यौ भूतान्यजस्त्रं भुवनानि चैव ॥'[1]

अर्थात् 'विश्वरूपा दो युवतियाँ एक के बाद दूसरे श्वेत और कृष्ण रग के तन्तुओ से (वस्त्र) निरन्तर बुनती जा रही है, और सम्पूर्ण जीवो तथा लोकों को विवर्तित करती जा रही है।' यहाँ संसार की परिवर्तनशील अवस्था का चित्रण किया गया है। बाल्यावस्था और वृद्धावस्था इन दो को प्रतीक रूप मे दो युवतियाँ बताया गया है। बाल्यावस्था के पश्चात् जीवन का उत्साह या आशा रूप श्वेतता और वृद्धावस्था के पश्चात् नैराश्य का अन्धकार, ये ही दो श्वेत और कृष्ण तन्तु है, जो प्राणीमात्र के जीवन को अच्छादित किये रहने वाले सुख और दुःख नामक दो भाव कहे जा सकते है।

श्रीमद्भागवत महापुराण भक्ति का मूर्धन्य काव्य माना जाता है, फिर भी उलटबाँसी शैली के मुख्य प्रयोजन 'गोपन'[2] के सम्यक् उदाहरण देखने को मिलते है। सगुणमार्गी धर्म-ग्रथो मे गोपन की यह प्रवृत्ति धार्मिक अनुष्ठानो को सर्वगम्य न होने देने के लिए ही प्रयुक्त होती रही है। परम्परा निर्वाह के लिए श्रीमद्भागवत के दो उदाहरण प्रस्तुत है—

'एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरस. पचविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादि वृक्ष ॥'[3]

अर्थात्—'यह ससार एक सनातन वृक्ष है। इस (ससार रूपी) आदिवृक्ष का (प्रकृति ही) एक अयन है, (सुख-दुःख) दो फल है, (त्रिगुण) तीन मूल है, पुरुषार्थ रूप (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) चार रस हैं। इसको जानने के (पचेन्द्रियो द्वारा) पाँच प्रकार है। इसके छ स्वभाव (उत्पन्न होना, रहना, बढना, परिवर्तित होना, घटना और नष्ट होना) है। सात वल्कल (रस, रुधिर, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र) हैं। आठ शाखाएँ (पचमहाभूत, मन,

---

१. 'महाभारत' आदिपर्व, ३।१४७

२. सभी लोग ज्ञान के अधिकारी नही होते। चित्त-वृत्ति के केन्द्रित होने तथा अन्तःकरण निर्मल होने पर ही कोई निगूढ और आध्यात्मिक विषय सम्बन्धी बात समझ मे आती है। इसी सम्बन्ध मे श्रीकृष्ण उद्धव से कहते है'—
'वेदा ब्रह्मात्म विषयास्त्रिकाण्ड विषया इमे।
परोक्षवादा ऋषय परोक्ष मम च प्रियम् ॥' 'श्रीमद्भागवत' ११।२१।३५
अर्थात् 'वेदो मे तीन काण्ड है, इन तीनो काण्डो के द्वारा प्रतिपादित विषय ब्रह्म और आत्मा की एकता है। सभी मंत्र और मन्त्र द्रष्टा ऋषि इस विषय को परोक्ष रूप से कहते है और मुझे भी इस विषय का परोक्ष रूप मे कहना प्रिय है।'

३. वही, १०।२।२६

बुद्धि और अहकार) है। नौ आँखें अथवा खुखाल (मुख, नासिका छिद्र, नेत्र, कर्ण, पायु, मूत्रेन्द्रिय) हैं। दस पत्ते (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय) हैं। और इस संसार रूप वृक्ष पर दो पक्षी (जीव और ब्रह्म) बैठे हैं।' इसी प्रकार—

> 'द्व अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पंचस्कंधः पंचरसप्रसूतिः।
> दशैकशाखो द्वि सुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः॥'[1]

अर्थात् 'इस ससार वृक्ष के दो बीज (पाप और पुण्य) हैं, सौ जड़ें (अनेक प्रकार की वासनाएँ) हैं, तीन तने (सत्, रज, तम) हैं, पाच मोटी-मोटी शाखाएँ (पचस्कध) हैं, पाँच रस (शब्दादि पाँच विषय रस) हैं, ग्यारह (छोटी) शाखाएं (मन सहित पाच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) हैं, दो पक्षी (जीव और ईश्वर) यहाँ घोंसला बनाकर रहते हैं। इस वृक्ष मे तीन प्रकार की छाल (वात, पित्त, कफ) हैं और दो प्रकार के फल (सुख-दु:ख) लगते हैं।'

संस्कृत के धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त मध्यकालीन सस्कृत युग मे विरोधगर्भित वक्र शैली का उपयोग तो हुआ है, परन्तु उसमे कला-प्रधानता होने के कारण दृष्टकूट और प्रहेलिकाओं के ही अधिक उदाहरण मिलते हैं। सस्कृत-साहित्य का प्रमुख ग्रथ 'नैषध-चरित', धर्मसूरि का 'विदग्ध मुख मण्डन' तथा रामानुज का 'कूट सन्दोह' आदि ऐसी रचनाएँ हैं, जिन मे कूटवर्ग के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इनमे उलटवाँसी-शैली का यह लक्षण 'अर्थ को निगूढ़ रखना' और यह प्रयोजन 'इस मार्ग से बुद्धि को विशद करना' तो मिल जाते हैं, परन्तु उस युग के विरोध प्रधान वक्रकथन मे विचार या अध्यात्म पक्ष का अभाव है। साधनात्मक प्रक्रिया की गोपनीयता नही है, इसीलिए ये उलटवाँसी के अन्तर्गत नही आते, क्योंकि दृष्टकूट रचना का मुख्य उद्देश्य कलात्मक नैपुण्य या मनोविनोद ही है।[2] उदाहरण के लिए आचार्य दण्डी ने—समागता, वचिता, व्युत्क्रान्ता, प्रमुषिता, समानरूपा, परुषा, सख्याता, प्रकल्पिता, नामातरिता, निभृता, समानशब्दा, समूढा, योगमालात्मिका, एकच्छन्ना, उभयच्छन्ना, सकीर्णा, ये सोलह प्रहेलिकाओं के भेद दिये हैं।[3] ये प्रहेलिका अर्थ को निगूढ रखने के कारण दुष्कर है और विद्वानो का प्रयोग प्रश्नोत्तर आदि के रूप मे जाना जाता है।[4] इनके द्वारा विदग्ध प्रयोक्ता श्रोता की मति मे विभ्रम अथवा प्रतीक-प्रयोग से अर्थ को निगूढ रखता है। अर्थ को निगूढ रखने के अतिरिक्त इस प्रहेलिका-मार्ग से

---

१ 'श्रीमद्भागवत महापुराण' ११।१२।२२

२ 'क्रीडार्था वादार्थश्च' वात्स्यायन 'कामसूत्र', अधिकरण १।अध्याय ३
'विशदबुद्धिरनेन सुवर्त्मना सुकर दुष्करमार्गमवैति हि।
न हि तदन्यनयेपि कृतश्रम प्रभुरिम नयमेतुमिद विना॥' 'काव्यादर्श', ३।१२५

३ 'एता षोडश निर्दिष्टा पूर्वाचार्यै प्रहेलिका।' -'काव्यादर्श', ३।१०६

४ 'इति प्रहेलिकामार्गो दुष्करात्मापि दर्शित।
विद्वत्प्रयोगतो ज्ञेया मार्गा. प्रश्नोत्तरादय॥' वही, ३।१२५

उलटवाँसी शैली का कोई साम्य नही है, क्योंकि उलटवाँसी के प्रयोक्ता केलिए काव्यशास्त्र एवं व्याकरण शास्त्र की विदग्धता का होना आवश्यक नही। स्पष्टीकरण के लिए उदाहरण प्रस्तुत है :—

'विजितात्म भवद्वेषि गुरूपाद हतो जनः।
हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति ॥'[1]

अर्थात् 'वि=पक्षी (गरुड़) उसके द्वारा जित=इन्द, उसका आत्मभव=पुत्र अर्जुन, उसका द्वेपी=शत्रु करण, उसके गुरु=पिता सूर्य, उसके पाद=किरणो से, आहत=सतप्त लोग हिम=शीत के विनाशक अग्नि, उसका अमित्र=शत्रु जल, उसको धारण करने वाले मेघो से व्याप्त आकाश का अभिनन्दन कर रहे हैं। सीधा अर्थ है—'सूर्य की किरणो से संतप्तजन मेघाच्छन्न आकाश का स्वागत कर रहे हैं।' इस उदाहरण को दण्डी ने योगमालिका या परिहारिका प्रहेलिका भेद के अन्तर्गत रखा है, परन्तु इसमे दृष्टकूट के ही लक्षण घटित होते हैं उलटवाँसी के नही। इसी प्रकार—

'सदारिमध्यापि न वैरियुक्ता नितान्तरक्तापि सितैव नित्यम्।
यथोक्तवादिन्यपि नैव दूतिका का नाम कान्तेति निवेदयाशु ॥'[2]

अर्थात् 'शीघ्र ही उस वस्तु का नाम बताओ जो सदा अरिमध्या=शत्रु के बीच मे रहते हुए भी शत्रुओं से युक्त नही है, नितान्त रक्त वर्णा होते हुए भी सदा सिता (श्वेत अथवा 'सा' वर्ण से युक्त) है; यथोक्तवादिनी होते हुए भी जो दूतिका नही है और जो अत्यन्त कान्ता, रमणीया है (जिसके अन्त मे 'का' वर्ण है)। इसमे विरोधगर्भित निगूढशैली का प्रयोग है, फिर भी यह प्रहेलिका ही है, उलटवाँसी नही। क्योंकि इसमे वर्णो की योजना से प्रयोक्ता की विदग्धता या कौशल ही प्रकट होता है, जिसका उत्तर 'सारिका' इस एक शब्द मे निहित है। उलटवाँसी जैसी अर्थ परम्परा इसमे नही है। इन उदाहरणो से इतना स्पष्ट है कि कला के क्षेत्र मे कूट वर्ग की दृष्टकूट, प्रहेलिकादि का ही प्रयोग होता रहा है, उलटवाँसी शैली के द्वारा किसी कवि ने अपनी विदग्धता प्रदर्शित नही की है, क्योंकि इस केलिए जिस विचारानुभूति अथवा ज्ञान-विरह की स्थिति की आवश्यकता होती है, वह अन्य शैलियो मे देखने को नही मिलती।

(ग) **परवर्ती संस्कृत-साहित्य** . सस्कृत-भाषा मे लिखी सम्प्रदाय विशेष अथवा साधना सम्बन्धी परवर्ती रचनाओ मे उलटवाँसी शैली के अनेक उदाहरणों के साथ प्रतीक-रूढ़ शब्दावली आदि ऐसी सामग्री उपलब्ध होती है, जिससे हिन्दी-साहित्य की उलटवाँसियो ने पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है। इस प्रसंग मे हठयोग प्रदीपिका, शिव संहिता, घेरण्ड संहिता, गोरक्षविजय, गोरक्ष पद्धति, गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह, प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि, ज्ञान सिद्धि, अद्वय वज्र-संग्रह, साधन माला, सुभाषित रत्न भण्डागार तथा कुछ तान्त्रिकग्रन्थ आदि उल्लेखनीय हैं। कालक्रम से ये रचनाएँ पालि-प्राकृत आदि की रचनाओं से बाद की है, परन्तु

---

१. 'काव्यादर्श', ३।१२०
२. 'विदग्धमुखमण्डन', ('कूटकाव्य-एक अध्ययन', पृष्ठ ६८ से उद्धृत)

उलटवांसी पद-रचना इन्ही का मूर्त्त सस्कार है । इन रचनाओं मे उलटवांसी शैली के लक्षण और प्रयोजन का वीज निहित है । हठयोग विद्या को वीर्यवती वनाने केलिए तथा गुप्त रखने केलिए यह कथन हिन्दी-साहित्य की उलटवाँसियो मे समग्रता से व्याप्त दिखाई देता है—

'हठ विद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीयातु प्रकाशिता ॥
'गोपनीय प्रयत्नेन यथा रत्नकरडकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्य कुलस्त्रीसुरत यथा ॥"[1]

उलटवांसी शैली की परम्परा प्रस्तुत करने के लिए प्रमुख सम्प्रदाय शास्त्रीय रचनाओ के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—

'गोमांस भक्षयेन्नित्य पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीन तमहं मन्ये चेतरे कुल घातकाः ॥"[2]

अर्थात् 'जो योगी प्रतिदिन गोमास खाता है और अमर वारुणी पीता है उसी को हम कुलीन मानते है, अन्य लोग तो कुल घातक है ।' 'गोमास' और 'अमरवारुणी' का तात्पयार्थ अगले दो श्लोको मे स्पष्ट किया है—

'गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांस भक्षण तत्तु महापातक नाशनम् ॥
जिह्वा प्रवेश सभूतवह्निनोत्पादित : खलु ।
चंद्रात्स्रवति य : सार : स स्यादमरवारुणी ॥"[3]

'गो पद से जिह्वा कही जाती है और तालु के समीप जो ऊर्ध्व छिद्र उसमे जो जिह्वा का प्रवेश है, वही गोमांस-भक्षण है । यह गोमास भक्षण महापातको का नाश करने वाला है। उस ऊर्ध्व छिद्र मे जिह्वा के प्रवेश से जो ऊष्माजनित अमृतरूप चन्द्रमा का सार झरता है, वही अमरवारुणी है ।'

'यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिण : ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुत ॥"[4]

अर्थात् 'चन्द्रमा से जो अमृत रूप दिव्य रस स्रवित होता है, उस सबको सूर्य ग्रस लेता है । इससे शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है ।' लोक मे सूर्य प्रकाश और जीवन का दाता माना जाता है, वह यहाँ पर वृद्धत्व के कारण रूप मे कथित है । यही कथन का विरोध-गर्भत्व है, जिसका परिहार तालुस्थ चन्द्रमा और नाभिस्थ सूर्य करके 'विपरीतकरणी मुद्रा"[5] के रूप मे, साम्प्रदायिक अर्थ करने पर, हो जाता है ।

---

१. 'हठयोग प्रदीपिका', १।११ तथा ३।६ ; २. वही, ३।४७
३. 'हठयोग प्रदीपिका', ३।४८।४९,
४. वही, ३।७७
५. ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरध . शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरूवाक्येन लभ्यते ॥' 'गोरक्षापद्धति', पृ० ४७

'गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥'[1]

अर्थात् 'गंगा-यमुना के मध्य में जो बाल-विधवा तपस्विनी है, उसका बलात्कार पूर्वक ग्रहण करना ही विष्णु के परमपद की प्राप्ति है ।' लोक में विधवा नारी पूजास्पदा, आदरणीया होती है, उसके प्रति बलात्कार की भावना-अधम पद की द्योतक है, परन्तु यहाँ 'परम पद' की प्राप्ति मे सहायक बताई है । इस असंगति का परिहार, श्लोक में प्रयुक्त विशेषरूढ़ शब्दों का अर्थ अगले ही श्लोक में इस प्रकार करके, किया गया है—

'इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ।
इडा पिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुंडली ॥'

अर्थात् 'इडा अर्थात् वाम नि.श्वास की नाडी भगवती गगा कहलाती है और पिंगला अर्थात् दक्षिण नि.श्वास की नाडी यमुना नदी कहलाती है । इन दोनों के मध्य में विद्यमान कुंडली 'बालरंडा' कहलाती है ।' इसी प्रसंग मे गगा-यमुना और सरस्वती के विशेष संगम पर स्नान को, मुक्ति का कारण बताया है—

'इडा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्क पुत्रिका ।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संगोऽति दुर्लभ : ॥
ब्रह्मरंध्रमुखे तासां संगम : स्यादसंशयः ।
तस्मिन् स्नाते स्नातकानां मुक्ति : स्यादविरोधत : ॥'[2]

ब्रह्मरन्ध्र के मुख में उन तीनो सरिताओं का संगम है, उस मे स्नान करने वाला निश्चय ही मुक्ति पाता है ।

उक्त रचनाएँ योगादि शास्त्र विषयक है, जिनमे ग्रहीत प्रतीको का अर्थ भी निश्चित कर दिया गया है । हिन्दी-साहित्य में प्रयुक्त उलटवाँसीपदों मे ऐसी रूढ़ शब्दावली का अर्थ परम्परा से ही ग्रहण करना पड़ता है । इस साम्प्रदायिक कथन की वृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साधको का स्वभाव ही विरोधमूलक कथन करने का हो गया । इससे उनका प्रभाव और अधिक बढा है ।[3]

(घ) **पालि-प्राकृत युग** : पालि भाषा गौतम बुद्ध के धर्मोपदेश की भाषा है इसका सम्बन्ध जनसाधरण से होने के कारण गूढ़ार्थक शैली के लिए यह उपयुक्त भाषा नही रही है । अत: भगवान् गौतम बुद्ध की वाणी में गुह्य एवं एकता का अभाव रहा है । इसका मुख्यकारण

---

१. 'हठयोग प्रदीपिका', ३।१०९
२. 'शिव संहिता', ५।१३१-३२
३. 'इस साम्प्रदायिक वृत्ति का परिणाम यह हुआ कि योगी और तान्त्रिक लोग दुनियाँ से उल्टी बात कहने के अभ्यस्त हो गए । विरोधाभास यह कि ऐसा कहने से उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही गई, घटी बिल्कुल नही । और ये लोग अधिकाधिक उत्साह से, डंके की चोट, सीधी बात को भी उल्टी करके, जटिल करके, धक्कामार बना कर कहते गए ।' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कबीर,' पृ० ८०-८१

उनका लोकोपयोगी व्यवहार अथवा आचरण पर बल देना था। उनका स्पष्ट कथन था कि 'किसी गौरव अथवा प्रभाव के कारण उनके वचनो को ग्रहण न किया जाय, प्रत्युत-परीक्षण के पश्चात् ग्रहण किया जाय।'[1] उपदेश प्रधान एवं आचरण पर विशेष बल देने वाले बुद्ध-वचनो मे वाणी की सूक्ष्मता के रूप मे 'निर्वाण' और सासारिक लाभ के मार्ग पृथक्-पृथक् बताए है।'[2] इसी प्रकार प्राकृत भाषा के लिए भी किसी सूक्ष्मतत्त्व की अभिव्यक्ति की कठिनाई नही। अत उसमे भी विरोधगर्भित, प्रतीक प्रधान उलटवाँसी शैली का प्रयोग यत्र-तत्र ही हुआ है। राज शेखर का कहना है कि 'प्राकृत प्रायः सुकुमार रचना की भाषा समझी जाती है, परुष रचना की नहीं।'[3] हाँ, परम्परा-निर्वाह केलिए पालि-प्राकृत से कुछ उदाहरण प्रस्तुत है—

'मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठ सानुचरं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो॥'[4]

अर्थात् माता, पिता, दो क्षत्रिय राजाओ और अनुचर के साथ सम्पूर्ण राष्ट्र को मारकर ब्राह्मण पाप रहित हो जाता है। 'इस कथन मे विधि-विरोध के माध्यम से उलटवाँसी शैली का प्रयोग है। यहाँ, माता=तृष्णा, पिता=अहंकार, दो क्षत्रिय राजा=शाश्वत् दृष्टि और उच्छेद दृष्टि, राष्ट्र सहित अनुचर का घात-वासना सहित सम्पूर्ण आसक्तियो का विनाश, के द्योतक हैं।

'मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्धपञ्चमं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो॥'[5]

अर्थात् 'माता-पिता, दो श्रोत्रिय (ब्राह्मण, राजा) और पाँचवे व्याघ्र को मारकर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।' यहाँ 'व्याघ्र' का घात बहिर्मुखी मन के दमन के लिए है।

बौद्ध-उपदेशो की आचरण प्रधान पद्धति के समान ही जैन मुनियो ने भी अहिंसा, अस्मिता आदि के द्वारा जीवन का चरमलक्ष्य प्राप्त करने पर बल दिया है। अत. प्राकृत की प्रमुख रचनाएँ गाथा सप्तशती', 'रावण बहो', 'गौडबहो', 'कर्पूरमजरी', 'पाहुड दोहा' आदि मे वाणी का कूटत्व और विरोध गर्भत्व देखने को नही मिलता। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि इन रचनाओ मे उलटवाँसी शैली का नितान्त अभाव हो। उदाहरण के मुनि रामसिंह का एक प्रयोग प्रस्तुत है—

---

१ 'परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्य मद्वचो नतु गौरवात्।' 'बागची दोहा कोष', पृ० ११
२ 'वची पकोप रक्खेय्य वाचाय सवुतो सिया।' 'धम्मपद', १७।१२
अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बान गामिनी।' वही, ५।१२
३ 'परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो वि होइ सुअमारो।
पुरुसमहिलाण जेत्तिअ मिहतर तेत्तिअ मिमाणम्॥' 'कर्पूरमंजरी', १।८
४. 'धम्मपद', २१।५
* टिप्पणी—इन चर्याओ की हिन्दी-व्याख्या केलिए भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा की गई 'धम्मपद' की व्याख्या द्रष्टव्य है।
५. 'धम्मपद', २१।६

'उव्वस वसिया जो करइ, वसिया करइ जु सुराणु ।
वलि किज्जउ तसु जोइयहु, जासु रम पाउ ण पुराणु ॥'[1]

अर्थात् 'जो उजाड़ को वसाता है और जो वसे हुए को उजाड़ता है, हे योगी, ! उस व्यक्ति की वलिहारी है। उसे न तो पाप हैं न पुण्य।' 'पाहुड़ दोहा' में रहस्यात्मक प्रवृत्ति और गूढ़ात्मक उक्तियाँ अधिक मिलती है। डॉ० रामकुमार वर्मा का तो यहाँ तक कहना है कि 'सरहपा, गुण्डरीपा, वीणापा, डोणिपा आदि के चर्यापदो के समानान्तर ही मुनिरामसिंह ने पाहुड दोहा की रचना की है।'[2] और ये सहज यानी सिद्ध उलटवाँसी शैली अथवा संध्या भाषा-शैली के मूल प्रयोक्ता माने जाते हैं।

तान्त्रिक प्रभाव : पांच रात्र, पाशुपत, शैव, कापालिक, शक्ति आदि उल्लिखित तन्त्रसम्प्रदायों ने अपनी विचार-परम्परा और साधना-प्रक्रिया से बौद्ध-सिद्धों की वाणी को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित किया है। किसी युग का मूल्यांकन करते समय उसके पूर्ववर्ती साहित्य पर दृष्टि डाल लेना आवश्यक होता है। पूर्ववती साहित्य का प्रभाव किसी न किसी रूप में आगे के साहित्य पर पड़ता ही है।'[3] तान्त्रिक-पद्धति मे अद्भुत की प्रधानता है, जो वेद-मार्ग से व्यतिक्रम के द्वारा पुष्ट हुई है।[4] सहजयानी बौद्ध सिद्धो की वाणियां मे प्रतीक-चयन की पद्धति सीधी तन्त्रों से ही आयी है। शिव-शक्ति के मिलन का सिद्धान्त शैव या शक्त सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। तन्त्रों की पंच मकार वाली मान्यता को सिद्धो ने सम्यक् रूप से ग्रहण किया है। साधनाओं में स्त्री-साधिकाओं को साधना का आवश्यक अंग होना पड़ता था, यह प्रभाव तन्त्रों से ही सिद्ध-साधनाओं में आया। ऐसी साधनाओं मे मनोरथ-सुखों[5] की सिद्धि के लिए स्त्री का विशेष उपयोग किया जाता था। ऐसी साधनाओं का वर्णन अन्य अर्थप्रधान भाषा-शैली मे किया जाता रहा है। सिद्धों मे वामाचार, वाम-साधना अथवा 'उलटा-साधना'[6] का क्रम तन्त्रों से ही आया है। इन विपरीतकरणी साधनाओं और कथनों के दारा तंत्राचार्यो ने जनता को तो चमत्कृत किया ही, अपनी साधना पद्धति की गुह्यता की भी रक्षा की। बौद्ध-सिद्धों की वाणी प्रतीक संकेत प्रधान तन्त्र पद्धति से प्रत्यक्षत: प्रभावित हुई हैं।



१. 'पाहुड़ दोहा' (करंजा), १९२)
२. 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,' पृ० ८४
३. 'हिंदी साहित्य' (द्वितीय खण्ड), पृ० २०१
४. 'महायान सूत्रालंकार', श्लोक १५-२०
५. 'अद्वयवज्रसंग्रह', पृ० ३ - -
६. 'सिद्धों में इस (उलटा-साधना) शब्द का प्रयोग नहीं है, किंतु सूर्य को उलटकर चन्द्र में लीन करने का रूपक मिलता है। लगभग सभी तांत्रिक पद्धतियां में वामायुक्त साधना या उलटी (वामा) साधना प्रचलित थी।' सिद्ध-साहित्य', पृ० ४१४; द्रष्टव्य है—'साधनमाला' खण्ट एक, पृ० ८० .

तृतीय अध्याय

अपभ्रंश अथवा प्राकृताभास हिन्दी-साहित्य में उलटवाँसी

अपभ्रंश युग परवर्ती हिन्दी की पृष्ठभूमि है। इसकी परम्परा १५वी शताब्दी के मध्य तक चलती है।[1] इस सुदीर्घकाल को, उलटवांसी शैली का परम्परा-विकास दिखानेके लिए दो भागो मे विभक्त कर लिया है—(१) चौरासी सिद्धो की परम्परा,* (२) नव नाथों की परम्परा।

१ **चौरासी सिद्धों की परम्परा** : उपयुक्त सामग्री के अभाव मे सिद्धो का काल-निर्णय करना कठिन है, परन्तु उनकी जो रचनाएँ मिलती है, उनसे अपभ्रंश या प्राकृता-भास हिन्दी का परिचय हमे मिलता है। इन सिद्धो की बानियो को हिन्दी का आदि रूप माना जाता है।[2] इन्होने दोहो और चर्यापदो मे तंत्र-भावना से प्रभावित वज्रयानी सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का उपदेश और प्रचार किया है।[3] 'वाम-मार्ग के अनेक सम्प्रदायों के अनुयायियो के समान सिद्ध लोग भी अपनी साधना पद्धति को सरल और स्पष्ट रूप मे जनता के सम्मुख रखना नही चाहते थे। अतः अपने सम्प्रदाय के रहस्यो की रक्षा केलिए उन्होने प्रतीकात्मक भाषा का आश्रय लिया, जिसमे शब्दो के वाच्यार्थ की अपेक्षा कुछ अधिक गभीर अर्थ निहित होता था। सिद्धो की यह वाणी सन्धावचन अथवा सन्धा भाषा कहलाती है।'[4] सिद्धो की

---

१. 'इस अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी का अभिप्राय यह है कि यह उस समय की ठीक बोलचाल की भाषा नही है, जिस समय की इसकी रचनाएँ मिलती हैं। यह उस समय के कवियो की भाषा है।...... अपभ्रंश की यह परम्परा विक्रम की १५वी शताब्दी के मध्य तक चलती रही।'

आचार्य शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४-५

* टिप्पणी—सिद्धो की नाम-सूची केलिए द्रष्टव्य है—आचार्य शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ८। इस विस्तृत सूची मे नाथ-पंथी योगियों के नाम भी आगये हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि नाथ-पंथ सिद्धो की परम्परा से विच्छिन्न होकर ही स्वतन्त्र अस्तित्व वाला हुआ है। सामान्यतः सिद्धो का युग १०वी शताब्दी तक और उसी परम्परा से विच्छिन्न हुआ नाथ-युग १४वी शताब्दी तक माना जाता है।

२. राहुल सांकृत्यायन-'हिन्दी काव्यधारा' भूमिका

३. डॉ० धर्मवीर भारती 'हिन्दी साहित्य-कोश' (प्रथम खण्ड), पृ० ८५४

४. 'कूटकाव्य-एक अध्ययन', पृ० ७५

यह प्रतीक-प्रधान संध्या-भाषा विरोध-गर्भित असम्बद्धता लिए हुए उलटवाँसी-पद-रचना का आदि रूप है। इस कथन-शैली ने नाथ-सम्प्रदाय के माध्यम से समग्र रूप मे हिन्दी-साहित्य की उलटवाँसियो को प्रभावित किया है।[1]

बौद्ध-सिद्धो की सध्या-भाषा शैली में लिखी गई वाणी को देखने से ज्ञात होता है कि ये लोग प्रतीक के माध्यम से उलटी या विरोध मूलक बात कहने के अभ्यासी हो गए थे। ऐसा लगता है जैसे सीधी या सहज बात कहने से उन्हे किसी प्रकार का सतोष ही नही होता था। इतने पर भी उनकी वाणी लोक-प्रिय हुई। इसका मुख्य कारण उनकी भाषा का लोक व्यावहारिक होना था। और प्रायः लोक मे चमत्कार उत्पन्न कराने का एक कारण नमस्कार को प्रश्रय देना भी रहता है।

बौद्धो की सध्या-भाषा मे लिखित पद उलटवाँसी के पूर्व रूप है, इस बात का निश्चय अन्यत्र किया गया है। सध्या-भाषा में दार्शनिक और (वाच्य के अश्लील होने मे के रूप मैं) दूषित दोनो ही प्रकार के अर्थ समाविष्ट रहते है, केवल इस आधार पर दोनो को एक दूसरे से विच्छिन्न नही किया जासकता, जैसाकि डॉ० रामधन शर्मा ने माना है।[2] दूषित या कर्मकाण्डी अर्थ की प्रधानता का होना इसीलिए ही सम्भव नही है कि वे पद सध्या-भाषा मे लिखे गए है। इसके विपरीत दोनो युगो की पद-रचनाओ मे विरोधगर्भित असम्बद्धता, प्रतीक प्रधानता, वाच्यार्थ के पीछे विशेष अर्थ, चमत्कार सृष्टि आदि विशेषताएँ मिलती हैं। इसीलिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इन युगो की पद-रचनाओ मे कालभेद, अवस्था भेद और व्यक्ति भेद के मानते हुए भी, दोनो को एक मानते हैं।[3] सिद्धो की वाणी मे प्रयुक्त

---

१. 'शैली की दृष्टि से भी सिद्धो की 'सधा' भाषा मे जो कूट और प्रतीक है, उन्ही से कबीर के रूपक और उल्टवाँसियों का निर्माण हुआ है। सिद्ध-सिद्धान्त की विचार-धारा का सत साहित्य पर विचार और शैली दोनो ही की दृष्टियो से बडा प्रभाव है। यह प्रभाव, सम्भव है, नाथ सम्प्रदाय के माध्यम से आया हो।'

'हिन्दी-साहित्य' द्वितीय खण्ड, पृ० २०३

'सिद्धो की रहस्यमयी उक्तियो ने कबीर आदि सतो की उलटवाँसियो को जन्म दिया। जिस प्रकार वज्रयानियो ने जानबूझ कर अपनी भाषा को गूढ़ रखा इसी प्रकार कबीर की भाषा भी गूढ है।'

'अपभ्रंश साहित्य', पृ० ३९२

२. द्रष्टव्य है—'कूटकाव्य-एक अध्ययन' पृ० ७८

३. 'लेकिन इस बात मे कोई सन्देह नही कि इस प्रकार की उलटवाँसियाँ उस युग मे नाथपंथी योगियो और सहजयानियो मे खूब प्रचलित थी। बगाल मे मुसलमान नामधारी योगियो की लिखी हुई पोथियो में ऐसी उलटवाँसियो की भरमार हुआ करती थी। ··· उस युग के सभी कवि किसी न किसी रूप मे इन विरोधाभास मूलक उलटवाँसियो की रचना करते रहे। श्री राहुल साकृत्यायन ने यह पहले ही कहा है कि संत कवियों की उलटवाँसियो पर सिद्धों का प्रभाव है। एक अन्य विद्वान् का कहना है कि सहजयानियो की संधा-भाषा और संतों की उलटवाँसियो

प्रतीको का अर्थ 'हेवज्रतन्त्र' में विस्तारपूर्वक समझाया गया है।[1] इनमे से कुछ शब्द उलटवाँसियो मे रूढ और पारिभाषिक बन गए है। सिद्धो की इस अटपटी वाणी के रहस्य को समझने केलिए उनकी कुछ विशेष मान्यताओ और साधना प्रक्रियाओ को समझना आवश्यक है क्योकि उन्ही साधनात्मक अनुभूतियो की अभिव्यक्ति केलिए उन्होने वाणी के द्वारा प्रकृत विरोध, चमत्कार आदि की सृष्टि की है।

सिद्धों की कुछ विशेष साधनाएँ

(१) **प्रज्ञोपाय अथवा युगनद्ध प्रक्रिया** बुद्ध के आविर्भाव के बहुत पीछे बौद्ध-भिक्षुओ मे साधना अथवा आचरण निष्ठा के स्थान पर विलासिता अथवा कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति प्रधान होगई थी। उनकी मत्र-सिद्धि की साधना मे चमत्कार प्रदर्शन केलिए हठ-यौगिक क्रियाओ का आग्रह प्रधान होगया था। वज्रयानी सिद्धो की विचारधारा मैथुन क्रियाओ को प्रचारित करने मे प्रमुख मानी जाती है। इसके मूल मे प्रज्ञोपाय की विचारधारा कार्यशील है। महायान की 'शून्यता' और 'करुणा' को 'प्रज्ञा' और 'उपाय' रूप मे ग्रहण किया गया है, जिसमे आगे चललर स्त्री-पुरुष की भावना का समावेश हुआ और 'युगनद्ध' की साधना साकार हुई। इस मान्यता मे 'प्रज्ञा' धर्म है और 'उपाय' बुद्ध और सग। दोनो का युगनद्ध रूप ही चरम लक्ष्य अथवा 'महासुख' की प्राप्ति का माध्यम है।[2] सिद्धो की अटपटी वाणी मे प्रतीको के माध्यम से इस विशेष दशा का वर्णन 'समरसता' अथवा 'महासुअ' नाम से वर्णित है।

मे बड़ा अन्तर है। सन्तो का उद्देश्य विरोधाभास को अप्रकृत करके उसके अन्तर्निहित महान् अर्थ को प्रकृत बनाना है, पर सिद्धो का ऐसा नही है। इसीलिए, सिद्धो की वाणियाँ, उक्त विद्वान् के मत से बाद मे चलकर विकृत अर्थ उत्पन्न करने का कारण हुई। मुझे इस भेदारोप मे कोई विशेषता नही दिखती। अद्वयवज्र की टीका से साफ जान पडता है कि इन सिद्धो का उद्देश्य भी वही था, जो सन्तो का था। काल भेद, व्यक्ति भेद और अवस्था भेद के कारण जो भेद स्वाभाविक है, वही भेद इन दोनो मे है।' 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (सन्त-मत), पृ० ३३-३५

१ देखिये 'स्टडीज इन तन्त्राज' मे डॉ० बागचीका 'सध्या भाषा' विषयक लेख पृ० ३७-३३

२ 'बौद्धधर्म मे तान्त्रिक प्रवृत्तियो का प्रवेश होने के बाद शिव और शक्ति के सम्मिलन के समानान्तर युगनद्ध की कल्पना का विकास हुआ। 'पचक्रम' मे युगनद्ध की व्याख्या तत्त्व दर्शन के आधार पर करते हुए कहा गया है कि 'पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य की एकता ही युगनद्ध है, सद्वृत्ति और परमार्थ की एकता युगनद्ध है, करुणा औरउ पाय की एकता युगनद्ध है।' तथा 'अद्वयवज्र सग्रह' मे शून्यता और करुणा के ऐकात्म्य को युगनद्ध की संज्ञा दीगई है। 'शून्यता' नारी है और 'करुणा' पुरुष और दोनो का अद्वय ही युगनद्ध है, वही धर्मकाया है।' इसी सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न वज्रयानी देवताओ को अपनो शक्तियो के साथ समागम करते हुए वर्णित

(२) महामुद्रा-साधना : सिद्धों में 'महामुद्रा' साधना सब से कठिन मानी गई है। बौद्ध-सिद्धों ने भगवती नैरात्मा को 'महामुद्रा' के रूप में कल्पित किया है। इस साधना की सिद्धि के पश्चात् ही साधक सिद्धकोटि मे पहुँचता है। 'महामुद्रा' की साधना केलिए साधक किसी निम्नवर्णा स्त्री से सम्बन्ध रखता है। वह स्त्री साधक के गुरु के समक्ष 'महामुद्रा' के रूप में उपस्थित होती है और गुरु के निर्देशानुसार साधक की सम्पूर्ण क्रियाएँ उस स्त्री के सहवास मे सम्पन्न होती हैं।[१] इस साधना को सम्पन्न कर लेने पर साधक समस्त वाह्या-नुष्ठानो से मुक्त होजाता है। बौद्धाचार्यों ने इस साधना को भौतिक अर्थों में ग्रहण न करके परमसुख की सिद्धि के माध्यम के रूप मे ग्रहण किया है। सिद्धो की यह मान्यता थी कि कठोर नियमो के पालन से सिद्धि शीघ्र प्राप्त नही हो सकती, उससे अधिक शीघ्र कामोप-भोग से होती है।[२]

(३) बोधिचित्तसमुत्पाद : जब भव-जाल से मुक्त होने पर चित्त करुणा समन्वित-होकर साधना केलिए अग्रसर होता है तो उसे साधना का समुत्पाद, महारम्भ, चित्त का महोदय, साधक का महोत्साह कहा जाता है।[३] इस समुदित तथा करुणा-समन्वित 'चित्त' को सिद्धों ने पृथ्वी, रत्नाकर, चिंतामणि, नौका, मेघ आदि के रूपकों से अभिव्यक्त किया है।[४] चित्तवृत्तियो के शान्त होने को 'शीतल रजनी का उदय' कहा है। यह 'रजनी' प्रज्ञा या शून्य की रजनी मानी गई है। जिस मे महोष्णीश कमल का खिलना वताया गया है।[५] यही दशा बोधिचित्त समुत्पाद की है।

(४) चित्त शुद्धि : 'प्रज्ञोपाय' की स्थिति तक पहुँचने केलिए चित्त शुद्धि का होना आवश्यक है। सिद्ध सरहपाद का कहना है कि 'महासुख' की अवस्था प्राप्त करने केलिए चित्त-शुद्धि आवश्यक है।[६] मूपक रूप चित्त को, साधना मार्ग पर प्रवृत्त करके करुणा या

किया गया है। भगवान् वज्रधर अपनी शक्ति भगवती प्रज्ञा (नैरात्मा, वज्रवाराही, वज्रधात्वीश्वरी) के साथ रहते हैं। हेरुक अपनी शक्ति वज्रवैरोचिनी के आलिगन में आवद्ध हैं।...इसी को प्रज्ञोपाय साधना भी कहा गया है।'
'हिन्दी साहित्य कोश' (प्रथम खण्ड), पृ० ६१०तथा 'ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स', पृ० २३

१. 'चाण्डालकुलसम्भूतां डोम्बिका वा विशेषतः।
जुगुप्सितां कुलोत्पन्नां सेवयन् सिद्धि माप्नुयात्॥
स्त्रीन्द्रियं च यथापद्मं वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा॥' 'ज्ञानसिद्धि'
२. 'दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिध्यति।
सर्वकामोपभोगास्तु सेवयश्चाशु सिध्यति॥' 'गुह्य समाज तन्त्र', पृ० २७
३. 'महोत्साह महारम्भा महार्थाय महोदया।' 'महायान् सूत्रालंकार', पृ० १४
४. वही, श्लोक १५-२०, पृ० ७६
५. 'बौद्धगान और दोहा', पृ० ४२
६. 'बागची दोहाकोष', पृ० ३७

उपाय की स्थिति में पहुँचाकर गजेन्द्र की स्थिति मे पहुँचाना होता है । यही चित्त प्रज्ञोपाय की सिद्धि के पश्चात् वज्रचित्त अथवा सहजचित्त हो जाता है ।[1]

(५) पिण्ड रहस्य : सिद्धाचार्यो ने साधना-सिद्धि केलिए शरीर को विशेप महत्त्व दिया है । 'शरीर माद्यम् खलु धर्म साधनम्' कालिदास की यह उक्ति यहाँ चरितार्थ होती है । सिद्धो ने अपने विशेष धर्म की सिद्धि केलिए, चित्तवृत्ति के निरोध केलिए शरीर को प्रमुख माना है । 'पिण्ड के भीतर ही ब्रह्माण्ड निवास करता है', सिद्धो मे यह धारणा बलवती रही है । सिद्ध सरहपाद का कहना है कि 'देह के समान कोई तीर्थ न मैंने सुना न देखा ।'[2] 'घर स्थित वस्तु को बाहर पूछना मूर्खता है ।'[3] काण्हपा का कहना है कि 'शरीर पर्वत के समान सम-विपम है, उसकी कन्दरा मे सारा जगत् विनष्ट होकर शून्य मे विलीन होजाता है ।'[4]

(६) महासुख 'महासुख' की अवस्था सिद्धो केलिए साधना की चरम-अवस्था है । इसे चरमावस्था, सहजज्ञान, अनुत्तरज्ञान, अनुत्तर सिद्धि आदि नामो से जाना जाता है । सम्पूर्ण साधनाएँ इस अवस्था की प्राप्ति केलिए माध्यम है ।[5] इस अवस्था की अनुभूति अतिसूक्ष्म होती है, जिसकी अभिव्यक्ति सिद्धो ने प्रतीको, रूपको तथा विरोध गर्भित असम्बद्ध कथनो के माध्यम से की है जैसे, 'शून्य महिला को ग्रहण कर विलास करना ।'[6]

सिद्धों की उलटवाँसियो के कुछ प्रयोग पूर्व-परम्परा की पुष्टि केलिए सिद्धो[*] द्वारा सध्या-भाषा मे रचित कुछ उलटवाँसियो के उदाहरण और प्रयोक्ता विशेष की प्रयोग सम्बन्धी दक्षता तथा रचना की मात्रा का सकेत यहाँ प्रस्तुत है :—

(१) कुक्करीपाद[*] . सध्या-भापा या उलटवाँसी शैली मे लिखे गये चर्या गीतो मे मात्रा और प्रभाव दोनो की दृष्टि से कुक्करीपाद का नाम उल्लेखनीय है । आपने विभिन्न

---

१. 'सिद्धो ने यह कहा है कि चित्त-साधना का आधार है । जब तक इसमे सहज सम्बोधि नही जगती, तब तक वह चचल रहता है, मूपक के समान काल मे प्रवेश कर जाता है । जब यह नैरात्म्य ज्ञान के प्रति जाग्रत होकर करुणा या उपाय से समन्वित होजाता है, तब वह उस गजेन्द्र की भाँति होजाता है, जो नलिनी वन मे विहार करता है ।' डॉ० धर्मवीर भारती, 'हिन्दी साहित्य कोश' (प्रथम भाग), पृ० ५१९

२. 'दोहाकोष गीति' (हिन्दी छाया), पृ० २३

३ 'घर अच्छइ बाहिरे पुच्छइ', 'बागची दोहा कोष', पृ० १२१

४ वही, काण्हपा, दोहा सख्या ४-६

५ 'बागची दोहा कोष', पृ० ४८

६. 'महासुहे विलसन्ति शबरो लइआ सुणमेहेली ।' 'चर्यागीतिकोष', पृ० १६२

* टिप्पणी—इन सिद्धो का पृथक्-पृथक् आविर्भाव काल का निश्चय न होने के कारण यहाँ इनका क्रम 'चर्यागीति कोप' के क्रम के अनुसार ही दिया गया है

* टिप्पणी—सभी बौद्ध-सिद्धो के नाम के आगे अन्त मे 'पा' आता है । यह आदरार्थ सस्कृतरूप 'पाद' है । इन चर्यागीतो का वाच्यार्थ और सकेतार्थ डॉ० प्रबोधचन्द्र

रूपको, उदाहरणो तथा विरोधगर्भित असम्बद्ध कथनो के द्वारा साधना-मार्ग की कठिनाइयो और 'सहजानन्द' अथवा 'महासुख' की अवस्था का वर्णन किया है। प्रतीको का चयन सामाजिक और प्राकृतिक (पशु-पक्षी जगत्, जड प्रकृति) दोनो ही धरातलो से किया गया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

'दुलि दुहि पिटा धरण न जाअ। रुखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ॥
अङ्गण घरपण सुन भो विआती। कानेट चौरी निल अधराती॥ ध्रुवपद॥
सुसुरा निद गेल वहुड़ी जागअ। कानेटचोरे निल का गइ मागअ॥
दिवसइ वहुड़ी काउइ डरे भाअ। राति भइले कामरू जाअ॥
अइसन चर्या कुक्कुरीपाएँ गाइड़। कोड़ि माझे एक हिअहिं समाइड़॥'[1]

अर्थात् 'कच्छपी अपने पृष्ठ भाग से दुही जाती है, परन्तु उसको ग्रहण नही किया जाता। कुम्भीर (मगर) के द्वारा वृक्ष की इमली खाई जाती है। अरे, यह विज्ञप्ति सुनो—घर मे प्रवेश करो और उस घर मे चोरी की वस्तु 'कर्णपीठ' को अर्धरात्रि के समय ले जाओ। ससुर के गहन निद्रा मे हो जाने पर वधू जागती रहती है। ऐसी अवस्था मे यदि चोर के द्वारा कर्णाभूषण ले जाया गया तो उसको लौटा के लिए किससे प्रार्थना करे। दिन मे तो वधू कौए के भय से भी डरती है, पर रात्रि मे सम्पूर्ण प्राणियो को काम-रूपता प्रदान करती है। इस प्रकार की चर्या कुक्करीपाद के द्वारा गाई गई है, पर, करोडो मे से कोई विरला ही इसे समझ पाता है।' 'कोडि माझँ एक हिअहि समाइड', चर्या की यह अन्तिम पक्ति 'कहै कवीर कोइ विरला बूझै' जैसी सन्त-उलटवाँसियो की अन्तिम पंक्ति की मूलरूप कही जा सकती है। उक्त चर्या का सकेतार्थ दुलि, पिटा, रुख, तेन्तलि, कुम्भीर, कानेट, ससुरा, वहुड़ी, दिवस, काउइ, राति, कामरू आदि प्रतीको के पीछे निहित है। प्रयोक्ता का इस चर्या के द्वारा भव-दशा को वताना, साधक को साधना-पथ पर अग्रसर करना और परमसुख की अवस्था की ओर संकेत करना है। तात्पर्य है—कच्छपी रूप सहस्रार चक्र का दोहन कर्णमुद्रा द्वारा सम्भव है और उसी से आनन्द की अनुभूति होती है। अवधूति-मार्ग से जाकर साधक का पतन नही होता। इस अवस्था की उपलब्धि सव केलिए सहज नही है। कुम्भक प्राणायाम के द्वारा ही कायारूप तैन्तलि वृक्ष का संयमन और तत्पश्चात् चित्त का नि स्वभावी-करण सम्भव है। इसके लिए सर्वप्रथम 'व्युत्थान वात' को 'प्रेक्षागृह' मे प्रवेश कराना चाहिये। अर्थात् इन्द्रिय-संयम के द्वारा चित्तवृत्ति की शुद्धि और वज्रोपदेश से समरसावस्था की प्राप्ति रूप 'आवृतिका गृह' मे अधिष्ठान कराना चाहिए। और चतुर्थी की संध्या को कर्णाभूषण रूप 'सहजानन्द' की प्राप्ति (चोरी) करनी चाहिए। साधनावस्था मे श्वसुर रूप श्वसनक्रिया योगनिद्रा मे लय हो जाती है और अनादि भव-विकल्प से परिशुद्ध होकर अवधूति रूपी योगिनी (वधू) अहर्निशि जागरण करती है। उस अवस्था मे कर्णाभूषण रूप प्राप्ति के फलस्वरूप अन्तमुखी साधक स्वस्थ चित्त की अनुभूति करता है। और उस

'' वागची द्वारा दिये गए संस्कृत रूपान्तर और अंग्रेजी पाद टिप्पणियो के आधार पर किया गया है।

१. 'चर्यागीति कोष.' पृ० ६

अमूल, भास्वर रत्नकी प्राप्ति होने पर उसे दसो दिशाओ मे कही याचना की आवश्यकता नही रहती। अवधूति शुक्र रूप से त्रैलोक्य का सृजन करती है, परन्तु इस सृष्टि मे वह कामरूप काल से संत्रस्त रहती है। जब यह अवधूति पचस्कन्ध आदि से नैर्मल्य प्राप्त कर लेती है, तो स्वय भी उसी महासुख चक्र मे, निर्विकल्प होकर, प्रवेश कर लेती है।

(२) गुण्डरीपाद —सग्रहीत चर्याओ मे आपकी चर्याओ की सख्या कम है। परन्तु जितनी भी है उनमे सध्या-भाषा अथवा उलटवाँसी शैली मे लिखित रहस्यात्मक पदों का प्राधान्य देखने को मिलता है। एक उदाहरण·—

'तिअड्डा चापी जोइणि अङ्कवाली। कमल कुलिश घाण्ट करहूँ बिआली॥
जोइन तँइ बिनु रवणीहिं न जीवमि। तो मुह चुम्बी कमलरस पीबमि॥ध्रु॰॥
सासु घरे घालि कोञ्चा ताल। चान्दसुज बेणि पखा फाल॥
भणइ गुण्डरी अम्मे कुन्दुरे वीरा। नरअ नारी माझें उभिल उभिल॥'[1]

अर्थात् 'त्रिवृत्त आकार को चापित करके योगिनी अँकवार (साधनात्मक दशा) देती है। तत्पश्चात् 'कमल कुलिश' का घर्षण करके 'विकाल'* को प्राप्त होती है। हे योगिनी, तेरे बिना मैं क्षण-भर भी जीवित न रहूँगा। तेरे मुख को चुम्बित करके कमल रस का पान करूँगा। सासुलि को ताला-कुजी के द्वारा घर मे अवरुद्ध करके, चन्द्र-सूर्य दोनो के पक्षो को विदीर्ण करके अवस्थित होना चाहिए। गुण्डरीपाद कहते है कि मैं द्वीन्द्रि समापत्ति के द्वारा वीर हूँ। इसी प्रकार स्त्री-पुरुषो के बीच अपनी चीर अर्थात् प्रतिष्ठा स्थापित करनी चाहिए।' इस शाब्दिक अर्थ के पीछे सिद्धो की साधना-पद्धति निहित है। तिअड्डा=तीन योगनाडियाँ (ललना, रसना, अवधूति) अथवा 'ट्रंगिल ऑफ दि फीमेल औरगन' को चापि =निराभासित अथवा परिशुद्ध करके, कमलकुलिश रूप सिद्धि चिह्नो का सयोग कराके। काल की सीमा का अतिक्रमण करके महामुद्रा अवस्था का साक्षात् करना और महासुख की अनुभूति करना। साधना की उस अवस्था मे साधक नैरात्मा रूप योगिनी के बिना क्षण भर भी प्राण-वायु का ग्रहण करने मे असमर्थ है। इस अवस्था मे साधक सहजानन्द रूप उष्णीश कमल रस का सेवन अर्थात् बोधिचित्त अवस्था की अनुभूति करता है। साधनावस्था मे, कायावज्र के द्वारा अपने को स्थिर चित्त करके, 'वज्रजाप' से श्वास रूप सास का अवरोध करके, चन्द्र-सूर्य रूप इडा-पिंगला नाडियो की सीमा का अतिक्रमण करके, चित्तवज्र को दृढ करने के लिए, वाक्वज्र को स्थिर कर 'सास' को सहजानन्द की भावना से सुमेरु-शिखर रूप गृह मे ले जाकर, मणिमूल द्वार से प्रवेश कराना योगी का लक्ष्य है। गुण्डरीपाद कहते हैं कि मैं इन्द्रिय सयम करने मे वीर हूँ। स्त्री-पुरुषो के बीच इसी प्रक्रिया से अपनी प्रतिष्ठा-पताका को स्थिर करना चाहिए।

(३) भुसुकपाद . मात्रा में आपके चर्यागीतो की सख्या पर्याप्त है। इन मे बहुविधि सध्या भाषा-शैली का प्रयोग हुआ है। साधनात्मक बिम्बो को सफल बनाने के लिए आपने प्रतीकाश्रित रूपकबन्धो का सम्यक् अवलम्बन लिया है। दो उदाहरण प्रस्तुत है —

---

१. 'चर्यागीति कोष.', पृ० १२
* 'समयउत्क्रान्त सध्या' (टाइमलेस ईवनिंग)

'अपणामांसें हरिण वैरी । खणह न छाड़अ भुसुकअहेरी ॥ध्रुव॥
तिण न च्छुपइ हरिणा पिवइ न पाणीं । हरिणा हरिणीर निलअ न जाणीं ॥
हरिणी बोलअ सुण हरिणा तो । ए वन च्छाड़ी होहु भान्तो ॥
तरसँन्ते हरिणार खुर न दीसइँ । भुसुकु भणइ मूढ हिअहिं न पइसइ ॥'[1]

अर्थात् 'अपने मास के लिए हरिण स्वय शत्रु होता है । भुसुकपाद आखेटक होनेके कारण क्षणभर भी उसका परित्याग नही करता । हरिण तृण-जल आदि छूता तक नही । हरिण हरिणी का गृह भी नही जानता । हरिणी कहती है, 'हे हरिण, तू इस वन का परित्याग कर दे । त्रास के कारण हरिण के खुर भी दिखाई नही देते । भुसुकपाद का कहना है कि इस कथन का मन्तव्य मूर्ख के मन मे ग्रहण नही हो पाता ।' इस चर्यापद मे मास, हरिण, हरिणी, अहेरी निलअ, वन आदि पद सांकेतिक हैं, जिनका अर्थ इन्द्रिय-विषय, चंचलचित्त, ज्ञानमुद्रा, साधक, पवन-निलय, काया पक्ष मे लगता है । प्रयोक्ता का उद्देश्य, चित्त-वृत्ति के संयमन, साधना-मार्ग का अभ्यास तथा नैरात्म्य भाव को लेकर महासुख रूप कमल-वन मे निवास कराने का, उपदेश देना है ।

'निसि अन्धारी मुसा अचारा । अमिअ भखअ मुसा करअ अहारा ॥
मार रे जोइआ मुसा पवणा । जेण (ण) तुटअ अवणा-गवणा ॥ध्रुव॥
भव-विन्दारअ मुसा खणअ गाती । चन्चल मुसा कलिआँ नाशक थाती ॥
काला मुसा उहण वाण । गअणे उठि करअ अमिअ पाण ॥
तव से मुसा उन्चल पान्चल । सद्‌गुरु वोहे करह सो निच्चल ॥
जबे मुसा अचार तुटअ । भुसुकु भणअ तबे वान्धन फिटअ ॥'[2]

अर्थात् 'अन्धेरी रात्रि मे मूषक आचरण करता है । अमृत का भक्षण करके मूषक अपना आहार करता है । अरे योगी, इस मूषक को पवन से मार, क्योंकि यह आवागमन को अवरुद्ध नही करता है । भव-विदारक मूषक ग्रन्थि को कुतर देता है । चचल मूषक धरोहर का नाशक है । काल-मूषक के कोई वर्ण नही है । अतः आकाश मे उठाकर अमृत का पान करो । तव वह मूषक आँचड-पाँचड अर्थात् बेचैन दिखाई देगा, सत् गुरु के अनुशासन से तव उसे निश्चल करो । जब मूषक अपने आचरण से उपरमित होजायेगा तव, भुसुकपाद कहते हैं कि 'सम्पूर्ण बन्धन नष्ट हो जायेंगे ।' इस गीत मे भव-बन्धन को काटने और महासुख की अवस्था प्राप्त करने केलिए उपदेश है । निशा (अज्ञानावस्था), मूषक (चचलचित्त), आचरण (साधनाभ्यास), अमृत (सात्विक अवस्था), भव (संसार), गाती (त्रिगुण की ग्रन्थि), वान्धन फिटअ (मोक्ष) आदि प्रयोग सांकेतिक हैं ।

(४) कान्हूपाद :—आपके गीतों मे उपदेशात्मक प्रवृत्ति अधिक है । सन्ध्या-भाषा-शैली मे लिखे गये विभिन्न रूपकों के द्वारा आपने विभिन्न साधनावस्थाओं का वर्णन किया

---

१. 'चर्यागीति कोष:', पृ० १६
२. वही, पृ० ७१

है। आपका प्रतीक-चयन प्रकृति के व्यापक धरातल पर आधारित है। गूढार्थ प्रतीतिमूलक एक रूपक प्रस्तुत है :—

'नगर बाहिरे रे डोम्बि तोहारि कुडिआ। छोइ छोइ जाहि सो वाह्मण नाड़िया ॥
आलो डोम्बि तोए समकरिबे मो साङ्ग। निधिन काह्ण कापालि जोइ लाङ्ग ॥
एक सौ पदुमा चौषठी पाखुड़ी। तहि चढि नाचअ डोम्बी बापुड़ी ॥
हालो डोम्बी तो पूछमिसदभावे। आइससि जासि डोम्बि काहरि नावें ॥
तान्ति विकणअ डोम्बी अवर ना चांगेड़ा। तोहोर अन्तरे छाडि नड़ पेड़ा ॥
सरोवर भाञ्जिअ डोम्बी खाअ मोलाण। मारमि डोम्बी लेमि पराण ॥'[1]

अर्थात् 'अरे डोम्बी, तेरी कुटिया नगर के बाहर है। उस ब्राह्मण वटुक के निकट शनै. शनै जाओ। हे डोम्बी, तेरे साथ मे सहवास करूँगा। मैं लज्जा रहित, कृष्ण कापालिक योगी हूँ। एक पद्म है, जिसमे चौसठ पखुडियाँ हैं, वहाँ चढकर डोम्बी-नृत्य करती है। हे डोम्बी, मैं तुझ से सत्‌भाव पूर्वक पूछता हूँ कि तू किस नौका के द्वारा आती जाती है। तन्त्री को विकीर्ण करने के पश्चात् तुम्हारे लिए दूसरा पुष्प-भाजन नही है, क्योकि तुमने नडपेटक=मृणालसूत्र को भी छोड दिया है। सरोवर को खाने के बाद डोम्बी=मृणाल को खाती है। मैं डोम्बी को मारकर प्राणो के द्वारा ग्रहण करूँगा।' इसमे डोम्बी-परिशुद्धा अवधूती, नैरात्मा=सुरति अथवा चित्तैकाग्रता है। चचरा चित रूप ब्राह्मण वटुक विरमानन्द के स्पर्श से नैरातम भाव को प्राप्त होता है। नगर से दूर कुटिया=रूपादि विषयसमूह से वहिर्मुख, शरीर सीमा से दूर समाधि रूप कुटिया। पद्म=निर्वाण-चक्र रूप पद्म जिसमें चौसठ पंखुडियाँ मानी गई है। उस पर महाह्लाद से प्रेरित होकर डोम्बी नैरात्मा का नृत्य करना माना गया है। अन्तिम पंक्ति के द्वारा साधक का कहना है कि गुरू परम्परा से विहीन, कायारूप पुष्कर को खानेवाली और शुक्र रूप से बोधिचित्त रूप मृणाल को नष्ट करने वाली अपरिशुद्धा डोम्बी (नैरात्मा) को मारूँगा, अर्थात् वाणीको नैरात्म्य भाव की करूँगा।

(५) कृष्णाचार्यपाद :—आपके चर्यागीतो की संख्या अधिक है, जिनमे साधना के व्यवहारिक पक्ष पर ही अधिक बल दिया गया है। उलटवाँसी शैली मे लिखी गयी आपकी चर्या का एक अंश यहाँ प्रस्तुत है —

'नाड़ि शक्ति दिढ धरिअ खाटे। अनहा डमरू बाजइ बीरनादे ॥
काह्न कपाली योगी पइठ अचारे। देह नअरी विहरइ एकारे ॥ ध्रुव ॥
आलि कालि घण्टा नेउर चरणे। रवि शशि कुण्डल किउ आभरणे ॥
मारिअ सासु नणन्द घरे शाली। माअ मारिआ काह्न भइल कबाली ॥'[2]

अर्थात् 'नाडी-शक्ति को दृढ करके खाटपर रखकर वीरनाद वाला अनहद डमरू वजाना चाहिए। योगी काह्न कापालिक आचरण मे प्रविष्ट होगया है। वह देह-नगरी मे एकनिष्ठ होकर

---

१. 'चर्यागीतिकोष' पृ० ३३
चर्यागीति कोष, पृ० ३८

विहार करता है, उसके चरणों में अलंकार रूप में घंटा-नूपुर शोभित हैं और कुण्डलों के रूप में सूर्य-चन्द्र विराजमान हैं। सास और माता को मार कर, नन्द और साली को घर मे मार कर काह्णा (कृष्णाचार्यपाद) कापालिक होगया है।' इसमे नाद, अनहद, डमरु, घण्टा, नेउर, सासु, ननन्द, शाली, माअ आदि शब्द सांकेतिक हैं। नाडी-विशिष्ट बत्तीस नाड़ियों के लिए, नाद = [illegible], शून्यता के लिए, वीरनाद अनाहत नाद के लिए, आभरण रूप चन्द्र-सूर्य = इडा-पिंगला योग नाडियो के एकीकरण के लिए, सास-माँ, प्राणवायु और माया के लिए, ननन्द-साली-नाना विकारों के लिए प्रयुक्त हैं। इनका अवरोध करके कृष्णाचार्य कापालिक होगया है। इस प्रकार के अवरोध से चित्त-वृत्ति निःस्वभाव की होजाती है। उस समय योगी अविद्या-माया की सीमा को पार करके वज्रकापालिक होकर घूमता है।

(६) डोम्बीपाद : इनकी बहुत कम चर्यायें उपलब्ध हैं। जो भी हैं, उनकी कथन-शैली संकेत प्रधान ही है। एक उदाहरण देखिए :—

'गंगाजउना माझें रे वहइ नाइ। तहिं बुड़िली मातङ्गी पोइआ लीले पार करेइ ॥
बाव्हपेहु आलपकन्ते माङ्गे पिठत फाच्छी बान्धि।
गअण दुखोलें सिञ्चहुं पाणी न पइसइ सान्धि ॥ ध्रुव ॥
चन्दसूज्ज दुइ चका सिठि संहार पुलिन्दा।
वामदाहिण दुइ माग न चेवइ वाहतु छन्दा ॥
कवड़ी न लेइ वोड़ी न लेइ सुच्छड़े पार करइ।
जो रथे चड़िला वाहवा न जाइ कुले कुलें बुड़इ ॥''[1]

अर्थात् 'गंगा-यमुना के बीच में नौका संतरित होरही है। उसमे डूबकर मातंग पोतिका लीला-पूर्वक पार उतरती है। इस नौका की पांच बल्लियां (केडुआल = केनिपात) हैं जो मंगिनी (नौका, 'मङ्गोमङ्गिनीपोप.' हेमचन्द) के ऊपरी भाग से सीढ़ी का काम करते हैं, वहाँ आकाश को सिंचिनी (दुखोलें = सींचने का पात्र) द्वारा सिंचन करो, अथवा वहाँ से पानी उलीचो, जिससे वह सन्धि मे प्रविष्ट न होजाय। चन्द्र और सूर्य ये दोनो सृष्टि और संहार के मस्तूल (पोलिन्द) हैं, इन्हे वाम-दक्षिण मार्ग मे, जो दिखाई नही देते है, स्वच्छंदता पूर्वक लेजाना चाहिए। यह मातंगी कौड़ी आदि प्रतिफल पार कराने के रूप मे, कुछ भी नही लेती प्रत्युत स्वेच्छा से ही पार कर देती है। जो रथ पर चढ़कर संतरित नही होता है, वह किनारे-किनारे डूब जाता है।' इसमे गंगा-यमुना इड़ा-पिंगला नाड़ियों का, नौका सहजानन्द प्रमत्त डोम्बी नैरात्मा का, चन्द्र-सूर्य प्रज्ञाज्ञान और अद्वयज्ञान का, पुलिन्द तटस्थता के (ये तीनो सृष्टि और संहार के हेतु है) प्रतीक है। दक्षिण-वाम मार्ग को न देखकर स्वच्छन्दता पूर्वक अग्रसर होना, यह कथन परम्परित मार्ग का व्यतिक्रम कराने का सूचक है। सहजानद प्रमत्त नैरात्मा रूप नौका, सासारिक नौका के समान, प्रतिफल के रूप मे साधक को पार उतारने का कुछ नही लेती और स्वेच्छा मे ही ससार-सागर से पार उतार देती है। जो नैरात्मधर्म से बहिर्मुखी हैं, वे कूलरूप शरीर मे ही (अज्ञानवश) डूबे रहते हैं है।

---

१. 'चर्यागीतिकोष.', पृ० ४७

(७) सरहपाद —आप मूलत रहस्यवादी विचारक है। आपके सिद्धात सहजयानी विचारधारा को पुष्ट करते है। आपकी रचना मे विरोधमूलक वक्र-कथन के द्वारा विशेष चमत्कार आया है। प्रस्तुत कथन के द्वारा आप कहना यह चाहते है कि चित्त स्वभावत. विशुद्ध होता है पर सासारिक बन्धनो मे वासना के कारण इतस्तत दौडता है और वासना आदि से मुक्त होने पर स्थिर हो जाता है, परन्तु इस बात को उलटबाँसी शैली मे इस प्रकार कहा है —

'बद्धो धावइ दस दिसाहि, मुक्को णिच्चल ट्ठअ।'[1]

सरहपाद की उलटबाँसियो ने हिंदी-साहित्य की उलटबाँसियो को प्रभावित किया है।[2] अन्य सिद्धो के समान सरह का भी कहना है —

'चंद-सुज्ज घसि घालइ घोट्टइ। सो आणुत्तर एत्थु पइट्ठइ ॥
एव्वहि सबल जाण णिगूढो। सहज सहावे ण जाणिअ मूढो ॥'[3]

अर्थात् 'जो साधक चन्द्र-सूर्य रूप इडा-पिंगला को साधनाभ्यास द्वारा साधता है, वही अनुत्तर अवस्था को प्राप्त हो पाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान निगूढ रहता है, अपने सहज-स्वभाव के कारण मूढ लोग उसे समझ नही पाते है। साकेतिक शब्दावली मे, वाच्य रूप मे शृ गार भावना प्रधान उनका निम्न पद* सध्याभाषा शैली का अच्छा उदाहरण है—

'ऊँचा-ऊँचा पावत तहिं वसइ सबरी बाली।
मोरङ्गी पिच्छि प (हि) रहि सबरी गिवत गुजरी माला।
ऊमत सबरो पागल सबरो, मा कर गुली-गुहाडा।
तोहारि णिअ घरिणी सहज सुन्दरी ॥ ध्रु व ॥

---

* टिप्पणी—राहुल साकृत्यायन ने सरहपाद आदि सिद्धो का आविर्भाव काल ८वी-९वी शताब्दी के बीच का माना है। इसके लिए द्रष्टव्य है 'दोहाकोश' भूमिका-भाग

१ 'दोहाकोश', भूमिका, पृ० २४

२ 'सरह ने अपनी कविताओ मे कुछ नई मान्यताएँ स्थापित की है, जिनका पता उनसे पहले नही मिलता, यद्यपि उनका अस्तित्व लोक-काव्य मे रहा होगा। यही मान्यताएँ गोरख, कबीर, नानक, दादू आदि सभी सतो मे पाई जाती है। यही आगे चलकर सत काव्य की कसौटी बन गईं। इसमे व्यग्योक्तियाँ-उलटबाँसियाँ भी शामिल है।' 'दोहाकोश', भूमिका, पृ० २३-२४

३ 'दोहाकोश'—गीति मूल, पृ० १०

* टिप्पणी—उदाहृत पद को राहुल जी ने सरहकृत माना है (देखिए 'दोहाकोश' भूमिका, पृ० २४-२५) परन्तु इसी पद को 'चर्यागीति कोष' (पृ० ९२) मे सिद्धशबरपाद की चर्या के रूप मे सग्रहीत किया गया है। आगे शबरपाद का एक अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत किया जायेगा।

णाणा तरुवर मौलिल रे, गअणत लागेलि डाली।
एकेली सबरी ए वन हिण्डइ, कर्ण कुण्डल वज्रधारी।
तिअ धाउ खाट पडिला सबरो, महासुहे सेज छाइली।
सबरो भुजङ्ग णइरामणि दारी, पेह्म (रा) राति पोहाइली।
हिअ ताँबोला महासुहे कापुर खाई।
सुन निरामणि कण्ठे लइआ महासुहे राति पोहाई।
गुरु वाक पुञ्छआ विन्ध णिअ मणे बाणें।
एके शर-सन्धानें विन्धह, विन्धह परम णिवाणे।
उमत सबरो गरुआ रोषे,
गिरिवर सिहर सन्धि पइसन्ते, सबरो लोड़िब कइसे।"[1]

अर्थात् 'ऊँचे-ऊँचे पर्वत पर शबर-बालिका निवास करती है। उस के सिर पर मयूर-पंख और ग्रीवा में गुंजा की माला सुशोभित है। उसका प्रिय शबर प्रेम में उन्मत्त है। वह उससे कहती है—ओ शबर, तू शोर-गुल न कर, क्योंकि तेरी स्वयं की गृहणी सहज सुन्दरी है। उस पर्वत पर गगन स्पर्शी शाखाओं वाले नाना प्रकार के वृक्ष प्रफुल्लित हो रहे हैं। वह शबर-बालिका, कर्णाभूषण कुण्डल वज्र धारण करके, इस वन में अकेली ही भ्रमण कर रही है। उसकी ओर दौड़ते-दौड़ते शबर महासुख रूप खाट पर पड़ गया और भुजंग-शबर तथा वेश्या-नैरात्मा को देखते देखते प्रभात होगया। हृदय-ताम्बूल को महासुख-कपूर के साथ खाकर भुजंग-शबर ने वेश्या-नैरात्मा का आलिंगन किया और उसी महासुख की अनुभूति में प्रभात होगया। इस प्रकार गुरु से पूछकर परमपद रूप निर्वाण को प्राप्त करे। गुरु के वचन रूप एक ही बाण से विद्ध होकर साधक परमपद निर्वाण से आलग्न होजाता है। गुरू निर्देशन से पर्वत-शिखर की सन्धि में प्रविष्ट हुआ उन्मत्त शबर कैसे लौट सकता है? अर्थात् नहीं लौट सकता।' इसमें शबरी-बाला के रूप में सहजावस्था का वर्णन है, जिसकी प्राप्ति अति उत्कण्ठित शबररूप साधक के द्वारा, कठिनाई अथवा साधनाभ्यास से की जाती है।

(८) ढेण्ढणपाद :—संत-साहित्य के प्रसंग में जहाँ भी उलटबाँसी का थोड़ा-बहुत विवेचन हुआ है, वहाँ ढेण्ढणपाद की उलटबाँसी को पूर्व परम्परा के रूप में उद्धृत किया गया है।* डॉ० शशिभूषणदास ने ढेण्ढणपाद की उलटबाँसी का उदाहरण देते हुए स्पष्ट कहा है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं में चर्यापदों से लेकर वर्तमानकाल तक रहस्यपूर्ण

---

१. 'दोहाकोश' भूमिका, पृ० २४-२५ से उद्धृत।

* 'बलद बिआएल गविया बाँझे। पिटा दुहिए एतिना साँझे॥
निति निति सिआला सिहे सम जुझअ। ढेण्ढण पाएर गीत विरले बुझअ॥'
—ढेण्ढणपाद

'बैल बियाइ गाइ भई बाँझ। बछरा दूहै तीन्यूं साँझ॥
नित उठि स्याल स्यघ सूं झूझै। कहै कबीर कोई बिरला बूझै॥'—कबीर

उलटवाँसी के ढग की, निगूढ़शैली की परम्परा मिलती है, जिनमे धार्मिक सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति हुई है।[1] विरोधाश्रित उलटवाँसी का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है —

'टालट मोर घर नाहि पड़वेशी। हाड़ीत भात नाहि निति आवेशी।
बेङ्गस साप बड्हिल जाअ। दुहिल' दुधु कि घेण्टे समाअ॥
वलद विआअल गविआ बाँझे। पिटा दुहिअइ एतिणा साँझे॥
जो सो बुधी सोध निबुधी। जो सो चोर सोइ साधी॥
निति निति सिआला सिहे सम जुझअ। ढेण्ढणपाएर गीत विरले बुझअ॥'[2]

अर्थात् 'नगर मे मेरा घर है, जहाँ मेरा कोई प्रतिवेशी नही है। हण्डिका मे ओदन (भात) न होने पर भी (अतिथि) नित्यप्रति खाने को आते हैं। मण्डूक ने सर्प को खण्ड-खण्ड कर दिया है। दुहा हुआ दुग्ध किस प्रकार स्तन वृन्त मे प्रविष्ट हो सकता है। वलीवर्द प्रसूति धर्म को ग्रहण करता है और गाय वन्ध्या है। पृष्ठ भाग से सध्या-पर्यन्त दोहन क्रिया होती है। जो बुद्धिमान है, वही मूर्ख है और जो चोर है वही साधु है। शृगाल नित्य प्रति उठकर सिंह मे जूझता है। ढेण्ढणापाद के इस गीत को कोई विरला ही समझ पाता है।'

अन्तिम पक्ति प्रतिद्वन्द्वी को गीत का अर्थोद्बोधन कराने केलिए चुनौती का स्वर लिये हुए है। इस गीत मे 'नगर' काय-वाक् चित्त मे उत्पन्न दोपो से रहित स्थिति मे निवास का प्रतीक है। इस दशा मे पहुँचे हुए साधक का कोई भी प्रतिवेशी अथवा प्रतिद्वन्द्वी नही रहता। 'हण्डिका' साधक की काया, 'भात' राग युक्त चित्त का प्रतीक है। अर्थात् शरीर रूप हाँडी मे भात रूप रागात्मक चित्त के न होने पर भी अपने-अपने विपयो मे आलग्न इन्द्रियरूप अतिथि नित्यप्रति आते हैं, परन्तु उन्हे निराश होकर ही जाना पड़ता है। अंग शून्यत्व अथवा प्रभास्वर रूप वेङ्गस (विगताङ्ग यस्य स व्यङ्ग मण्डूक) ने सशयरूप सर्प के खण्ड-खण्ड कर दिये हैं। कर्म-मुद्रा प्रसग से जो बोधिचित्त रूप दुग्ध का दोहन हुआ है, वह महासुख चक्र मे प्रवेश करादे तो आश्चर्य इसमे कैसा ? अथवा बोधिचित्त अवस्था मे जो अनुभूति रूप दुग्ध का दोहन हुआ है, वह शरीर रूप पात्र मे किस प्रकार समा सकता है। 'बल ददातीति वलद' के आधार पर जो बोधिचित्त रूप वज्रत्व अवस्था की प्रसूति करे, यही वृषभ का प्रसूति कर्म है। नैरात्मावस्था मे सम्पूर्ण इन्द्रियाँ निष्क्रियत्व पा लेती है, यही योगी केलिए गाय का वध्या होना है। 'पिटा' यहाँ कुलिशत्व अथवा वज्रत्व का सूचक है, उससे निरन्तर नि स्वाभावीकरण रूप दुग्ध दुहा जाता है। अर्थात् वज्रावस्था सार्वकालिक नि स्वाभावीकरण की अवस्था है। 'जो बुद्धिमान होता है वह मूर्ख होता है' का अभिप्राय आत्म परिचय से है। योग की प्रारम्भिक अवस्था मे जो बुद्धि होती है, वह सविकल्पक

---

१. 'दि मोस्ट रिमार्केबिल फैक्ट इज़ दैट दिस यूज़ ऑफ दि एनिगमैटिक स्टाइल हैज़ इट्स अनब्रोकिन हिस्ट्री इन दि मोड्रन इण्डियन लिटरेचर्स फ्रोम दि टाइम ऑफ दि चर्यापदाज डाउन टु दि प्रिजेण्ट टाइम। ऐसोटेरिक पोइट्स ऑफ ऑल पीरियड्स हैव यूज्ड सच एक्सट्रीमली ऐपिग्रेमैटिक एण्ड ऐनिगमैटिक स्टाइल इन गिविंग एक्सप्रेशन टु देअर रिलीजस डोक्ट्रिन्स।' 'ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स', पृ० ४१६

२. 'चर्यागीतिकोष ', पृ० १०८

होने से पूर्णज्ञान की अवरोधक है और परमार्थज्ञान अर्थात् शून्यमय होने पर जो बुद्धि होती है लोक मे वह बुद्धिहीनता की द्योतक मानी जाती है। इसप्रकार सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक दशा की प्राप्ति कराता है। कहा भी है—'यदिद सनिमित्तसुख तदेव महता निमित्त परिहीणमिति।' चित्त को यहाँ 'चोर' बताया है। जब वह अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख हो जाता है तब वह साधु बन जाता है। मरण से भयभीत चित्त शृगाल के समान दीन और भीरू स्वभाव का होता है, परन्तु साधनाभ्यास से वही विशुद्ध होकर युगनद्ध की अवस्था के प्रति स्पर्धाशील हो जाता है। इस प्रकार डेण्ढणपाद की इस चर्या के आदेश को कोई विशुद्ध चित्त वाला ही समझ पाता है। अर्थात् महासत्त्व की अवस्था सर्वग्राह्य नही है।

(६) धामपाद.—आपकी बहुत कम चर्यायें उपलब्ध है, परन्तु जो भी हैं, उनमे साकेतिक प्रयोगो के द्वारा साधनात्मक अनुभूतियो को सम्यक् अभिव्यक्ति मिली है। एक उदाहरण प्रस्तुत है —

'कमलकुलिश माझें भवइ लेली। समताजोएँ जलिल चण्डाली॥
डाह डोम्बी घरे लागेलि आगि (णी)। ससहर लइ सिञ्चहुँ पाणी॥ ध्रुव॥
नउ खर जाला धूम न दिसइ। मेरु शिखर लइ गअण पइसइ॥
दाढ़इ हरिहर बाह्म भडारा। दाढइ णवगुण शासन पाड़ा॥
भणइ धाम फुड़ लेहु रे जाणी। पञ्च नाले उठे गेल पाणी॥'[1]

अर्थात् 'भव को ग्रहण करके कमलकुलिश के मध्य मे, समता योग के द्वारा, चाण्डाली जल रही है। जलने वाले डोम्बिका-गृह मे अग्नि प्रज्ज्वलित है, अतः शशक को ग्रहण करके उसे पानी से सीचो। न तो तीक्ष्ण अग्नि-ज्वाला ही हैं और न धूम ही दिखाई देता है। मेरु-शिखर को ग्रहण करके वह डोम्बी गगन मे प्रवेश करती है। वह अग्नि-ज्वाला ब्रह्मा-विष्णु-महेश के भण्डार को जलाती हैं। इससे नवगुण प्रधान शासन पुर भी जलता है। धामपाद स्पष्ट कहते है कि अरे, यह जान लो कि पच नलिकाओ से पानी बहने लगा है।' इस प्रकार बड़ी विचित्र हैं यह अग्नि और उसका प्रभाव। वक्ता के मन्तव्य को वाच्य अपनी सीमा बाँध मे नही पा रहा है।

उक्त गीत मे चाण्डाली का दाहन, प्रज्ञोपाय अवस्था मे महासुख राग की अग्नि से उद्दीप्त होने का सूचक है। और कमलकुलिश वज्रत्व-अवस्था का प्रतीक है। इस प्रकार 'डोम्बी' परिशुद्धा अवधूति है और 'अग्नि' महासुख राग। महासुखराग के दाह वाली अग्नि डोम्बी रूप परिशुद्धा अवधूति के घर मे लगी है, जिससे सम्पूर्ण इन्द्रियो के विषय जलकर भस्म हो गए हैं। 'शशक' यहाँ परिशुद्ध बोधि चित्त का प्रतीक है। गुरु की कृपा से और इस विशिष्ट चित्त के माध्यम से उस विशेष अग्नि का सिंचन अर्थात् पोषण अभिधेय है। वह अग्नि इतनी विचित्र स्वरूप और प्रभाव वाली है कि उसकी न तो तीक्ष्ण ज्वाला ही दिखाई देती है और न धूम ही। साधना द्वारा मेरुदण्ड के ऊर्ध्व रूप सुमेरु पर्वत को ग्रहण करके, भावाभाव को दग्ध करके चाण्डाली गगन रूप महासुख चक्र में प्रवेश

१. 'चर्यागीत कोष.', पृ० १५४

करती है। वह 'महासुखरागानल' ब्रह्मा-विष्णु-महेश के भण्डार को नष्ट करदेती है। अर्थात् साधना की उस अवस्था मे हरि=मूत्रनाडी, हर=शुक्रनाडी, ब्राह्म=पिंडनाडी को नष्ट कर देती है। अर्थात् योगी तत्तत् नाडियो की क्रियाओ से मुक्त हो जाता है। इस अग्नि से नवगुणो का शासन समाप्त हो जाता है। अर्थात् शरीर के नवद्वारो का शासन समाप्त हो जाता है। धामपाद का कहना हे कि इस प्रकार समता योग और कुलिश-संयोग से जो सहजानन्द प्राप्त होता है, वह अमृतरस पाँच नलिओ के जल-प्रवाह के समान होता है। अथवा पचज्ञानेन्द्रियाँ, विषय-रस के स्थान पर, आनन्द-रस को स्रवित करती है। 'हरिहर ब्राह्म भंडार' ससार का भी द्योतक है।

(१०) शवरपाद—बौद्ध-चर्याओं मे 'शबर' शब्द का बाहुल्य देखने को मिलता है, जो सर्वत्र साधक का प्रतीक है। 'चर्यागीति कोष' मे शवरपाद नामक सिद्ध की कुछ चर्याओ का संग्रह है, जिनमे प्रतीकात्मक शब्दावली के बाहुल्य से अद्भुत प्रधान विरोध-मूलक शैली को प्रश्रय मिला है। उनमे से एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—

'छाड़ छाड़ माआ मोहा विषम दुन्दोली।
महासुहे विलसन्ति शवरो लइआ सुणमेहेली॥ ध्रुव॥
हेरि से मेरि तइला बाड़ीं खसममे समतूला।
सुकड ए से रे कपासु फुटिला॥
तइला वाड़िर पासेंर जोह्ना वाड़ी उएला।
फिटेलि अन्धारि रे आकाश फुलिआ॥
चारिवासे भाइला रे दिआ चञ्चाली।
ताँहि तोलि शवरो डाह कएला कान्दइ सगुण शिआली॥
मारिल भवमत्ता रे दहदिहे दिधलि बली।
हेर से सबर निरवण भइला फिटिलि सवराली॥"[1]

अर्थात् 'माया-मोह रूप विषम द्वन्द्व को छोडो। शून्य महिला को ग्रहण करके शबर महासुख मे क्रीडा कर रहा हे। खसम के समान मेरी तृतीय बाडी को देखकर यह शुक्लवर्णी कपास प्रकट हुई है। उस तृतीय बाडी के पीछे अथवा पार्श्व मे ज्योत्स्ना उदित हुई है। इससे अन्धकार का ध्वस हो गया है और आकाश पुष्पित हुआ है। चार दिनो मे ही भाववती ने चचाली देदी है। वही पर सन्तुलन करके शबर दाह उत्पन्न करता है, जिससे पक्षी और शृगाल क्रन्दन करते हैं। भव मत्तो को मारकर दस-दिशाओ मे बलि दो। उस शबर को देखकर सर्वभूत निवृत्त हो गये है और उन्होने शबरत्व का परित्याग कर दिया है।'

इस विचित्र कथन मे साधनावस्था की अभिव्यक्ति हुई है। इसमे शबर साधक का, शून्य महिला नैरात्मज्ञान मुद्रा का, तृतीय बाडी अवधूतिमार्ग का, खसम प्रभास्वर तुल्यता का, कपास शून्यका, ज्योत्स्ना ज्ञान-मण्डल से उद्भूत प्रभा का, अन्धकार क्लेशों का, आकाश शून्यावस्था का, चारिवास चतुरानन्द का, चञ्चाली चचलवृत्ति का, शकुनि-शृगाल आदि

१ 'चर्यागतिकोष.,' पृ० १६२

इन्द्रिय-मन आदि का, शवमत्ता भव-निमग्न चित्त का और शबरत्व साधनावस्था के सूचक है।

नवनाथों की परम्परा : सामान्यतः सहयानी सिद्धाचार्यों को 'सिद्ध' तथा नाथ-योगियों को 'नाथ' संज्ञा से जाना जाता है। 'गोरक्ष सिद्धांतसग्रह' के अनुसार मार्ग प्रवर्त्तक इन नाथों के नाम हैं—नागार्जुन, जड भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्षनाथ, चर्पटनाथ, जलधरनाथ, मलयार्जुन। इनमें नागार्जुन, चर्पट, जलंधर आदि सिद्धों की परम्परा में भी हैं।[1] इन नाथों में सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व गोरखनाथ[*] का है। आपकी प्रामाणिक रचनाएँ 'गोरख-बानी' नाम से डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल के सम्पादकत्व मे प्रकाशित हुई हैं। अन्य नाथो की वाणियो का कोई प्रामाणिक संकलन उपलब्ध नही हुआ। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कुछ नाथ योगियों की रचनाओं का सकलन 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' नाम से किया है। इसमे चौबीस नाथो की रचनाएँ संग्रहीत है, परन्तु उनके आविर्भाव काल का निर्धारण और उनकी रचनाओ की भाषा की प्रामाणिकता संदिग्ध है।[2] ऐसी परिस्थिति मे सगृहीत उलटवाँसी पदो का क्रम पुस्तक मे सग्रहीत रचनाओं के आधार पर ही रखा गया है।

नाथ-परम्परा मे लिखित और प्रचलित उलटवाँसियो ने, हिन्दी-साहित्य के, निर्गुणी संतो द्वारा रचित उलटवाँसियो को विषय और शैली दोनो ही क्षेत्रो मे पर्याप्त सामग्री प्रदान की है।[3] सन्तो के उलटवाँसी-पदो की कुछ पक्तियो के कथन तो रूपान्तर मात्र प्रतीत होते है। उदाहरण के लिए गोरखनाथ और कबीर की कुछ पक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

१. देखिए—आचार्य शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' पृ० १४

* टिप्पणी—डॉ० रांगेय राघव ने अपने शोध प्रबन्ध 'गोरखनाथ और उनका युग' मे गोरखनाथ का समय अनेक तथ्यों के आधार पर दशवी का उत्तरार्द्ध और ग्यारहवी शताब्दी का प्रारम्भ माना है। वही यहाँ भी मान्य है।

२ 'प्रस्तुत संग्रह मे अपेक्षाकृत अधिक नाथसिद्धो की रचनाएँ सम्पादित हैं। इनके रचयिता नाथ-सिद्धो की कुल सख्या २४ है।...इन रचनाओं के प्रकाशन मे रचयिता नाथ-सिद्धो की संख्या के साथ ही रचनाओं की वृद्धि हुई है, परन्तु प्राप्त रचनाओं की वृद्धि के साथ ही उनकी प्रामाणिकता मे कोई वृद्धि नही हुई है। प्राप्त सामग्री के आधार पर पूर्ण विश्वास के साथ यह नही कहा जा सकता कि ये रचनाएँ उन्ही सिद्धो की हैं जिनके नाम से वे प्रचलित और प्रचारित हैं। .. जितनी पोथियाँ प्रकाशित की जा रही है उनकी भाषा कहीं-कहीं १५-१६वीं के बाद की है।' रुद्रकाशिकेय (प्रधान-संपादक, बिड़ला ग्रथ-माला)' 'नाथ-सिद्धों की बानियाँ', परिचय, पृ० ६-७

३. 'नाथ संप्रदाय की आचरनिष्ठा, विवेक सम्पन्नता, अन्धविश्वासों को तोड़ने की उग्रता एवं परम्परागत कर्मकाडो की निरर्थकता आदि सन्त सम्प्रदाय मे सीधी चली आई हैं। यहाँ तक कि उलटवाँसियों की कुतूहल जनक शैली भी सन्तों को नाथ सम्प्रदाय मे ही प्राप्त हुई है। अनेक प्रसंगो और उनकी अभिव्यक्ति में भी साम्य है।' 'हिन्दी-साहित्य' (द्वितीय खण्ड), पृ० २०४

'नाथ बोलै अमृतवानी, बरसैगी कवली भीजैगा पानी ।' ('गोरख-बानी', पृ० १४१)

'धरती वरसै अबर भीजै, बूझै विरला कोई ।' ('कबीर ग्रथावली', पृ० १४२)

अथवा 'कबीर की यहु वानी, बरसैंगी कंवली भीजैगा पानी ।'

'बीज बिन निसपती मूल बिन विरषा पान फूल बिन फलिया ।'

(गो० वा०, पृ० १०८)

'बीज विन अकुर पेड विन तरवर बिन साखा तरवर फलिया'। (क० ग्र०,पृ० १४०)

'बाझ केरा बालूडा' (गो० बा०, पृ० १०८)

'बाझ का पूत बाप बिन जाया' (क० ग्र०, पृ० १४०)

'चीट्या परवत ढोल्या रे अवधू' (गो० बा०, पृ० १५४)

'चीटी परवत ऊपण्या लै राख्यौ चौडै' (क० ग्र०, पृ० १४१)

'डूगरि मछा जलि सुसा' (गो० वा०, पृ० ११२)

'ऊचै टीवै मछ बसत है, ससा बसै जलमाँही ।' (क० ग०, पृ० १४०)

जिस कारण से सहजयानी सिद्धो ने सध्याभापा शैली को, अपने विचारो की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम बनाया, लगभग वही कारण नाथ-योगियों के है । वे हैं—साधनात्मक रहस्य की अभिव्यक्ति और उसकी रक्षा । उलटवाँसी शैली मे रचित नाथ-योगियो के अनेक पदो मे साधनात्मक रहस्य को ही निगूढ रखा गया है ।[1] परन्तु इतना निश्चित है कि जिन प्रतीक-प्रयोगों के माध्यम से सहजयानी सिद्ध सध्या-भाषा मे रचित अपनी अनुभूतियो को उलटवाँसियो के रूप मे रूपायित करते थे, उनमे और नाथो के प्रतीक-प्रयोगो मे अर्थ-सकोच और अर्थ-विस्तार दोनो की प्रक्रिया देखने को मिलती है । इसका एक कारण यह है कि नाथो मे तान्त्रिक पद्धतियों का उतना आग्रह नही है, जितना कि सिद्धो मे । दृष्टिकोण के परिवर्तन के साथ ही नाथों मे कुछ नये प्रतीक-प्रयोग भी समाविष्ट हुए हैं ।

नाथ-यगियो मे हठयोगी विचारधारा का आगह रहा है । अत चित्तवृत्ति के निरोध के लिए अष्टाग योग की प्रक्रिया का प्रवेश हुआ और साधना-चक्र से नारी का वहिष्कार हुआ । यही कारण है कि नाथ-परम्परा मे शृगार-प्रधान वाच्य वाले रूपक-बन्धो की पद-रचना का अभाव है और इसीलिए डोम्बी, मातगी, शवर, छिनाली, ललना, रसना, महिला, अवधूति आदि प्रयोग नाथो की उलटवाँसियो मे देखने को नही मिलते । साथ ही

---

१. 'बिकौज आफ दिस उलटा नेचर आफ दि साधना, दि लैंग्वेज आफ दि सौंग्स इन व्हिच दि सीक्रेट आफ दि साधना इज कौच्ड्, इज ऑलसो जनरली आफ ए उलटा नेचर, और एक्स्ट्रीमली पैराडौक्सीकल एण्ड एनिगमैटिक' 'ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स', पृ० २३१

नाद-बिन्दु प्रक्रिया,[1] मनोमारण[2], आत्मचिन्तन[3] का स्वर प्रधान हो गया है। नाथों के द्वारा विपरीत-मार्ग की स्थापना का दृष्टिकोण यह था कि सीधे मार्ग या भव-धारा के अनुकूल चलने से जीवन के मूल स्रोत अर्थात् ईश्वर से सभी प्राणी दूर होते चले जा रहे हैं और इस धारा-क्रम से विपरीत चलने पर अथवा विपरीत क्रम की व्यवस्था करने पर ही हम आदि उद्गम तक पहुँच सकते हैं। 'गोरक्षा सिद्धान्त संग्रह'[4] के आधार पर आचार्य हजारीप्रसाद जी ने लिखा है कि नाथ-पंथी पुत्रक्रम की अपेक्षा शिष्यक्रम को प्रधानता देते हैं और सामाजिक व्यवस्थाओं को विपरीतक्रम से स्वीकार करते हैं, क्योंकि श्रेष्ठ की प्रतिष्ठा पहले होनी चाहिए। इसलिए योगी लोग दुनिया से उलटी बात कहने के अभ्यासी हो गए थे।[5] इस विपरीत कथन के मूल में आगमपंथ से विपरीत चलने तथा अपनी साधना-रहस्य को गुप्त रखने की प्रवृत्ति प्रधान थी।[6] इस उलटी स्थापना के सम्बन्ध में गोरखनाथ का स्पष्ट कथन है कि 'गुरु के अभाव में पृथ्वी प्रलय के गर्त में समाविष्ट हो जाती, इसलिए हमने ईश्वर (शिव) को चेला के रूप में और मत्स्येन्द्रनाथ को नाती के रूप में कहकर उलटी स्थापना स्थापित की है।[7] परवर्ती सन्तों की उलटबाँसियों के विकसित स्वरूप केलिए इन नाथों के उलटबाँसी-पद पूर्व-रूप कहे जा सकते हैं। यहाँ प्रमुख नाथों की उलटबाँसियों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

(१) **गोरखनाथ**:—उलटबाँसी प्रयोग में गोरखनाथ का स्थान प्रतिपाद्य और प्रतिपादन दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इनकी अनेक उलटबाँसी प्रधान उक्तियों को कबीर आदि सन्तों ने ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिया है। लोक प्रसिद्धि में आपकी उलटबाँसियाँ 'गोरख-धन्धा' नाम से जानी जाती हैं।[8] गोरखनाथ की उलटबाँसियाँ 'सबदी' और 'पद' दोनों में ही उपलब्ध होती हैं। 'सबदी' छन्द में लिखी उलटबाँसियाँ अधिक व्याख्या की अपेक्षा रखती हैं। कोई-कोई तो पहेली जैसी लगती हैं। जैसे,—

---

१. देखिए 'गोरख-बानी' पृ० १६ तथा ६८ २. वही, पृ० ११८-२०
३. वही, पृ० १३५-३६.
४. 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह', पृ० ५८-५९
५. 'कबीर' (योगपरक रूपक और उलटबाँसियाँ), पृ० ८०
६. 'विमुखे आगम पन्थ नाक्षिचे गोपते। चलिले विमुख पन्थे सिद्धि सर्वमते ॥
सम्मुखेर सब पथ विमुखकरिया। पलटि विमुख पन्थे जाइब चलिया ॥' 'ज्ञान-सग्रह'
'गुरु मीननाथ रे उलटा धाग। कुकुर मुरे बान नुकाइया उगार तले बाटा ॥'
'गोरक्षाविजय' की भूमिका में उद्धृत (ऑब्स्क्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २३१ में)
७. 'अवधू ईश्वर हमारे चेला भणीजे मछीन्द्र बोलिये नाती।
निगुरी पिरथी परलै जाती ताथैं हम उल्टी थापना थापी ॥' 'गोरख-बानी', पृ० ५०
८. ऐनिगमाज आर फाउण्ड एवण्डेण्टली इन दि नाथ लिटरेचर आॅल ओवर इण्डिया। दीज़ एनिगमाज आॅफ गोरख आर स्टिल नाउ पॉपुलर एज़ गोरख धन्धा आॅर दि पज़िल्स आॅफ गोरख। इट इज़ सैड इन दि गोरक्ष-विजय (पृ० १४४) 'देयर इज़ नो वाटर इन दि पॉण्ड, यट साइ इज़ इट दैट दि बैंक्स आर ओवरफ्लडेड ? देयर

वसती न सुन्यं सुन्यं न वसती अगम अगोचर ऐसा ।
गगन-सिखर महि बालक बोलै ताका नांव धरहुगे कैसा ॥"

पदों में लिखित उलटवांसियों में लय और राग तत्त्व की प्रधानता है । 'टेक' वाली पंक्ति में कोई बात सिद्धान्त रूप में या सारांश में कही हुई रहती है । इनके अतिरिक्त 'प्राण-सकली', 'आत्म बोध', 'ग्यान तिलक' आदि रचनाओं में भी अनेक उलटवांसी पद मिलते हैं । सब मिलाकर सौ के लगभग सबदी और तीस के लगभग पद हैं, जिनमें उलटवांसी तत्त्वों के सम्यक्-दर्शन होते हैं । इन उलटवांसी-पदों का शब्द-भण्डार संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के शब्दों तथा अनेक लोक-प्रयोगों से सम्पन्न है । नमूने के तौर पर यहाँ गोरखनाथ के दो उदाहरण संकेतार्थ सहित प्रस्तुत हैं,* जिनमें उनकी प्रयोग सम्बन्धी प्रकृति-प्रवृत्ति के दर्शन किये जा सकते हैं.—

(१) 'अमावस के घरि झिलिमिलि चंदा, पूंनिम के घरि सूर ।
नाद के घरि ब्यंद गरजै, बाजंत अनहद तूरं ॥'[२]

अर्थात् 'अमावस्या के घर में चन्द्र ज्योत्स्ना छिटक रही है । पूर्णिमा सूर्य-प्रकाश से दीपित है । नाद के घर विन्दु की गर्जना हो रही है और बिना बजाये ही तूर्य शब्द हो रहा है ।' इसमें धर्म-विरोध दृष्ट है, क्योंकि अमावस्या और पूर्णिमा का कथन उनके धर्म 'अन्धकार' और चन्द्र की स्थिति के विरुद्ध है । प्रयोक्ता का मन्तव्य इस 'सबदी' के द्वारा साधक की विशेष साधनावस्था की ओर है । भव-धारा में बहे जाते हुए जीवों का अमृत तत्त्व (जो सहस्रारस्थ चन्द्र द्वारा स्रवित होता है, मूलाधारस्थ सूर्य द्वारा सोख लिया जाता है) विनष्ट होता रहता है । उस अमृत से वंचित रहना ही 'अमावस्या' द्वारा संकेतित है । सामान्यावस्था में जहाँ चन्द्रमा के रहते हुए भी अमावस्या थी, क्योंकि वह अपने धर्म से जीव को प्रभावित नहीं कर रहा था । साधनाभ्यास में योगी ने सूर्य को चन्द्र-रस ग्रहण करने से वंचित कर दिया है, यही अमावस्या के घर चन्द्रमा का झिलमिलाना है । साधक इडा-पिंगला नाड़ियों का संयोग कराता है । यही चन्द्र-सूर्य संयोग भी है । अतः 'पूंनिम कै घरि सूर'[३] कहने का अभिप्राय है कि साधक ने पिंगला मार्ग से सूर्य को चन्द्र में मिला दिया है । इस अवस्था में पहुँचकर साधक 'नाद' में विन्दु (वीर्य) को समाविष्ट कर देता है । तभी समाधि-काल में अनाहतनाद सुनाई देने लगता है । दूसरा उदाहरण :—

इज़ नो एग इन दि नैस्ट, हाउ इज़ इट दैन दैट दि यंग-वंस ऑफ दि वर्ड्स आर फ्लाइंग एबव ? देअर इज़ नो मैन इन दि सिटी, बट एवी हाउस हैज इट्स रूफ । दि ब्लाइण्ड मेन इज़ सेलिंग एण्ड दि डीफ मेन वाइज़ ।'

'ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स', पृ० ४२०

१. 'गोरख-बानी', पृ० १

* टिप्पणी—गोरखनाथ के उलटवांसी पदों की व्याख्या केलिए 'गोरख-बानी' की व्याख्या से सहायता ली गई है ।

२. 'गोरख-बानी', पृ० २०

३. 'अवधू ईडा मारग चन्द्र भणीजै, प्यंगुला मारग भान ।' 'गोरख-बानी', पृ० ३२

(२) 'चलि रे अविला कोयल मौरी । धरती उलटि गगन कूं दौरी ।।टेक।।
गईयाँ वपड़ी सिंघ नै घेरै । मृतक पसू सूद्र कूं उचरै ।।
काटै ससत्र पूजैं देव । भूप करै करसा की सेव ।।
तलि करि ढकणी ऊपरि झाल । न छीजैगा महारस वंचेगा काल ।।
दीपक वालि उजाला कीया । गोरख कै सिरि परवत दिया ।।'[1]

अर्थात् 'अरे आम्र वृक्ष ! तू चल, कोकिला मंजरी युक्त होगई है । पृथ्वी (अपने स्वभाव के विरुद्ध) आकाश की ओर दौडने लगी है । सिंह को विचारी गायो ने घेर लिया है । मृतक पशु शूद्र के प्रति उच्चकरण करने लगा है । शस्त्र काटा जारहा है । और देवता पूजा कर रहा है । राजा प्रजा की सेवा मे प्रवृत्त हो गया है । ऐसी अवस्था मे ढकनी नीचे की ओर और झाल ऊपर की ओर करना चाहिए । इससे अमृत-रस नि शेष नहीं होगा और काल की सीमा का अतिक्रमण हो सकेगा । गोरखनाथ ने दीपक प्रज्ज्वलित करके प्रकाश किया है और अपने सिर पर पर्वत उठाया है ।'

संकेतार्थ :—अविला=आम (मायाकृत रचना) । कोयल=कोकिला (मनसा या सूक्ष्म मनोवृत्ति) । मौरी=मंजरीयुक्त हुई (आनन्द की अवस्था) । धरती=पृथ्वी (कुण्डलिनी) । गगन=आकाश (ब्रह्मरन्ध्र) । गईयाँ=गउएँ (इन्द्रियाँ) । सिंघ=सिंह (मृगराज अर्थात् इन्द्रियों का राजा-मन) । मृतक पसू=(जीवन-मुक्त अथवा मरजीवा) । सूद्र / शूद्र=चर्मकार, मृतक पशुओ को किनारे लगाने वाला (पशु रूप जीवो को किनारे लगाने वाला अर्थात् यमराज) । करसा=प्रजा (इन्द्रियाँ) । ढकनी=ढक्कन (शिरोभाग) । झाल=ज्वाला (ऊर्ध्व-मुख कुण्डलिनी) । महारस=अमृत (ब्रह्मानन्द) । वंचेगा=वंचित होगा । काल=मृत्यु । दीपक=(ब्रह्मज्योति) । वालि=जलाकर । सिर परवत दिया=मुहावरा-सिर पर पर्वत उठाना, अर्थात् पर्वत के समान दुर्वह कार्य-भार को संभालना ।

सांकेतिक व्याख्या :—सिद्धि-अवस्था मे पहुँचते ही साधक की कायाकल्प हो जाती है और वह लोक-व्यवहार को विपरीत दृष्टिकोण मे देखने लगता है । यही उसके लिए धरती उलटी दिखाई देना है । वसन्त मे मंजरी-मण्डित आम्रतरुओ को देखकर कोकिला कुहुकने लगती है । यह कुहुकना उसकी आनन्दित मनोदशा का सूचक है । साधक की आनन्दित मनोदशा को अभिव्यक्त करते हुए गोरखनाथ कहते हैं कि सिद्धि अवस्था मे साधक की चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी होजाती है और कोकिला रूप मनसा या सूक्ष्म मनोवृत्ति आनन्दोपभोग केलिए, वाह्य आकर्षण रूप मंजरित आम्रवृक्षो की ओर नही दौड़ती, प्रत्युत स्वयं मे ही आनन्द की अनुभूति करती है, क्योकि उस समय उसका स्वभाव आनन्दमय, ब्रह्ममय ही होता है । यही कोकिला रूप मनसा का मंजरित होना है । इस अवस्था मे मन रूप आम्र वृक्ष की विकल्पात्मक प्रवृत्तियाँ भी, अन्तर्मुखी होने के कारण सुखानुभव करने लगती हैं । इस अवस्था में धरती रूप मूलाधार निवासिनी अधोमुखी कुण्डलिनी गगनरूप ब्रह्मरन्ध्र की ओर अग्रसर होने लगती है । मन का (अहं के साथ) वाह्य विषयो मे प्रवृत्त होना ही सिंहत्व है और इन्द्रियाँ भी उसी के अनुकूल होकर विचरण करती रहती हैं । इसमे आध्यात्मिक

---

१. 'गोरख-बानी', पृ० १५२-५३

मार्ग और उसकी सात्विक प्रवृत्तियो का अवरोध होता रहता है। यही सिंह के द्वारा गायो का घेरा जाना है। परन्तु इस कथन मे चमत्कार तभी आसकता है, जब कहा जाय कि गायो ने सिंह को घेर लिया है। तब अर्थ होगा साधनाजन्य सात्विक प्रवृत्तियो रूप गायो के फलस्वरूप बाह्यविषयो मे विचरने वाला मनरूप सिंह अन्तर्मुखी होगया है। शैवमत के अनुसार सामान्य जीव पशु कोटि मे आते है। जीव भव-दशा मे यमराज रूप शूद्र के द्वारा मृत्यु के घाट उतारे जाते है। परन्तु साधनाभ्यास के फलस्वरूप साधक 'जीवनमुक्ति' की दशा को प्राप्त कर लेता है। उस समय 'मरजीवा' होकर वह मृत्यु की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है।[1] यही अवस्था मृतक के द्वारा शूद्र रूप यमराज के प्रति कथन करना है। सिद्धि अवस्था में पहुँचकर साधक केलिए किसी भी देवादि की पूजा-अर्चा करना अपेक्षित नही रहता, क्योंकि सिद्धि-अवस्था स्वय ही ब्रह्ममय है। अत. देवता ही उसकी पूजा मे निरत हो जाते है। 'करणी से कारण भी मिट जाता है'[2] इसीलिए सिद्धि की अवस्था मे पहुँचने पर, अनुपयोगी होने के कारण शस्त्ररूप साधन स्वय ही नष्ट होने लगते है। अन्त:प्रेरित मनरूप भूप मनसारूप प्रजा की सेवा मे निरत होजाता है। साधक योगाभ्यास जन्य ज्वाला रूप कुण्डलिनी को ऊर्ध्वस्थ तथा शीर्षासन आदि के रूप मे ढक्कन रूप शिरोभाग को नीचे की ओर करता है। इसी का यहाँ उपदेश है। इस विपरीत करणी से महारस, अमृततत्त्व क्षय को प्राप्त नही होता और उस योगी के ऊपर काल की शक्तियाँ सीमित होजाती है। इस प्रकार गोरखनाथ ने ज्ञान-ज्योति को प्रज्ज्वलित कराने का उपदेश तो दिया ही है, स्वय भी ज्ञान-दीपक दीपित किया है। परन्तु यह कार्य पर्वत-भार के समान दुष्कर एव दुर्वह है, क्योंकि सर्वसामान्य को ज्ञान के प्रकाश में लाना कठिन ही है।

विशेष :—

(१) उक्त पद विषय की दृष्टि से उपदेशात्मक है तथा सिद्धि-अवस्था मे चित्तवृत्ति की दशा को बतलाता है।

(२) प्रथम पक्ति साधक की सुखानुभूतिजन्य मस्तमौला प्रकृति की व्यजना करने मे समर्थ है।

(३) शैली की दृष्टि से प्रस्तुत पद विरोध मूलक है, जिसमे प्रकृति-विरोध तथा धर्म-विरोध दृष्ट है। और उलटवाँसी तत्त्वो के निर्वाह की दृष्टि से पूर्णपद उलटवाँसी है।

(४) प्राणो की शून्य पदवी अथवा सिद्धि अवस्था होने पर काल का अतिक्रमण हो जाता है। यह हठयोग प्रतिपादित है।

(५) 'सिरपर पर्वत देना' मुहावरा है, जिसके प्रयोग के कारण अन्तिम पक्ति पहेलीवत् हो गई है, साथ ही उसकी व्यजना-शक्ति बढ़ गई है। पद मे गेयत्व भी पर्याप्त है।

---

१ 'करणी विपरीताख्या वाज्रोली शक्तिचालनम्।
इदहि मुद्रादशक जरामरणनाशनम्॥' 'हठयोगप्रदीपिका', ३।७

२. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० २००

गोरखनाथ की उलटवाँसियों की सामान्य प्रवृत्ति : 'गोरख-बानी' मे 'सबदी' रूप मे जो उलटवाँसियाँ मिलती है, उनमें व्याख्या की अपेक्षा अधिक दिखाई देती है। उनके लिए हठयोग शास्त्रीय शब्दावली का सम्यक् परिचय होना आवश्यक है। जबकि पदो के रूप मे रचित उलटवाँसियों का कलेवर बडा होने के कारण उनमें अर्थगाम्भीर्य अधिक है। पदो मे रचित उलटवाँसियो मे गीति तत्त्व तथा भाव-व्यंजना के अवसर अधिक दिखाई देते है। इसका एक कारण यह भी है कि पदो मे रूपक तत्त्व का निर्वाह सहज ही हो जाता है।

विषय की दृष्टि से गोरख की उलटवाँसियो मे उपदेश प्रधानता, परीक्षा सम्बन्धी तथा सिद्धि अवस्थाजन्य अनुभूतियो की अभिव्यक्ति ही अधिक हैं। इनमे विरोधमूलकता के कारण कौतूहल-सृष्टि मे अभिवृद्धि हुई है। उलटवाँसियो की रूपरचना के लिए आपने योगशास्त्रीय रूढ शब्दों के अतिरिक्त, प्रकृति के व्यापक धरातल से प्रतीको का चयन किया है।

भाषा मे लोक-प्रयोग अथवा आचलिकता के आजाने से उनमे लोक-जीवन का दर्शन होता है। अनेक प्रकार के दृष्टान्त, लोकोक्तियाँ, मुहावरे आदि के प्रयोग, प्रयोक्ता के मन्तव्य को स्पष्ट करने मे सहायक हुए हैं। कही-कही उलटवाँसी-पद की प्रथम या अन्तिम पंक्ति मे प्रयोक्ता का चुनौतीपूर्ण स्वर भी मुखरित दिखाई देता है। अतः कहा जा सकता है कि अपने स्वरूप मे गोरखनाथ की उलटवाँसियाँ परवर्ती प्रयोक्ताओ के लिए सुदृढ़ पूर्वपीठिका हैं। गोरख की उलटवाँसियों को समझने के लिए निम्नलिखित प्रतीक शब्द और उनके साकेतिक अर्थों की सूची सहायक होगी।

शब्द	संकेतार्थ	शब्द	संकेतार्थ
अगीठी	मनसा, जीवात्मा	अहूठपटण	शरीर
अंवर, अतीत, अगम	शून्य, ब्रह्मरन्ध्र	आकास	ब्रहरन्ध्र, शून्य, ब्रह्म
		आवलियो	मनसा, आत्मा
		ऊँट	मन, अहंकार, काया, श्वास-प्रश्वास
अरध	मूलाधार, अधोगामी शुक्र	कली	जीवन या यौवन की प्रारम्भिक अवस्था
असवार	चेतन		
कामधेनु	आध्यात्मिक अनुभूति	जमना	पिंगला
कामलि	काया	ज्वाला	ऊर्ध्वगमित कुण्डलिनी
कामिनी	कामना	जोगिण	प्रबुद्ध मनसा
काग	काल, मन	झाल	विरहाग्नि
कुत्ता	मन	डुकरिया	माया, वासना
कुंजर	मन	डोकरी	आत्मा (जीव)

शब्द	संकेतार्थ	शब्द	संकेतार्थ
कूई	अधोमुख कूप, ब्रह्म-कमल	डीबी	कुडलिनी, मनसा
केदार	ब्रह्मद्वार	डूंगरि (पहाड़ी)	मेरुशिखर, सहस्रार-चक्र, मेरुदण्ड का ऊपर भाग
कौआ	मन	डोरी	सुरति, समाधि
कोयला	मन, विषय	ठौर	ससार
कोयल	वाणी, मनसा	तत्त्व	ईश्वर विचार
कथा	काया	तत वेलि	आत्मा
कावरू	काया	तेल	आयु
कूकर	मन	त्रिभुवन	त्रिगुणात्मक शरीर
षाट	षटचक्र	थेगली	काया
षीर	अमृत	थूंटा	मन
गगन	सहस्रारचक्र, ब्रह्म	दसमद्वार	ब्रह्मरन्ध्र
गरूड़	मन	दसवे	उन्मनी अवस्था
गगनसिषर	मेरुदण्ड का ऊर्ध्वभाग, ब्रह्मरन्ध्र	दीपक	ब्रह्म-ज्योति
गगन गाय	मनसा	दीया	जीवन
गजिन्द्र	मन	दूध	सत्वगुण, तीर्थ
घट-भांडा	शरीर	देवी	कुण्डलिनी
घाटी	द्वार, मार्ग	थेनि	मनसा आत्मा
चन्दवा	अमृत, वीर्य	नगर	शरीर
चीता	सात्विकचित्त, आत्मतत्त्व	नाद	शब्द
चाबुक	चित्त	नीझर झरिया	अमृत की वर्षा
चिंतामणि	प्रबुद्ध मनसा, चित्त	निबोली	मायामूल
चीटी	मनसा	नाला	नाडी
चूल्ही	चित्त	नौबछडा	नवद्वार, नौ इन्द्रियाँ (पाँच कर्मेन्द्रियाँ या ज्ञानेन्दियाँ और मन, बुद्धि चित्त और अहकार)
चोर	मन, विषय, काम, ससार		
छीरू	इन्द्रिय	पडरवा	मन
जल	विंदु, माया, ससार	पारा	विंदु
पाताल	स्वाधिष्ठान या मूलाधार चक्र	भण्डार	ब्रह्मसुख
पारथी	मन	भुयगम	मन, श्वसन-क्रिया

शब्द	संकेतार्थ	शब्द	संकेतार्थ
पाणी	बिंदु, प्राण, रामरस	मछ	मन
पंचदेव	पचेन्द्रियाँ	मछली	मनसा
पीपल	ब्रह्म	मूल	वीर्य, आदि पुरुष
पुरुष	शिव, ब्रह्मरन्ध्र	मोती	ज्ञान
पूर्णिमा	अमृत	मगरी	माया
पछिम	पिछड़ी हुई बुद्धि	मृघला	इन्द्रिय समूह, मनोरथ
पाँच ग्वालिया	पचेन्द्रियाँ	मृग	मन
पणिदारी	कुण्डलिनी	मंढा (मत्स्य)	मन
फूल	यौवन, जीवन, कामना	मट्ठा	मायिक वस्तु
बटक	प्राण	मूंसा	मन, सूक्ष्मतया अन्तर्मुखी मन
बक	सुरति	माणिक	जीवन, कैवल्य
बहुरा-राहु	मूलाधारस्थ सूर्य	रहट	रटणि
बाघ	ज्ञान	रुडिया	आत्मा
बाघिणी	स्त्री	लगाम	लगन, संयम
बेटो	ज्ञान	लोह	ब्रह्मरन्ध्र
बांझ	माया, आत्मा, निष्क्रिय-बुद्धि	लोंड	माया
बिल्ली	माया, कुबुद्धि	लक्कड	सांसारिक जीव
बनिज	अभ्यास, आवागमन	व्यन्द	बिंदु
बछरा	इन्द्रिय	विमल जल	अमृत
बाप	वपु, शरीर	शिवपुरी	ब्रह्मरन्ध्र
बांवन	वीर मन	शून्य	,,
बैसदर	ज्ञानाग्नि	शक्ति	कुण्डलिनी
बिरौलै	विचार	शूद्र, शिशुपाल	काल
बाज	मृत्यु	सास	श्वास, सुरति
बाडी	काया	सुस्सा	मन, माया
		सूल	विरह
बाझ का पूत	ज्ञान	सूई	सुरति
		समुद्र	ब्रह्म, गुरु
बारह बछरा	सूर्य की बारह कलाएँ	सिचांणी	काल, शब्द
		सींगी	सुरति, लगन
बुगुला	काल, मन, माया	हंस	प्राण, आत्मा
		हीरा	ब्रह्मतत्त्व, निरंजन
ब्रह्मकुंड	ब्रह्मद्वार	हस्ती	मन
		हाटी	माया

(२) चौरंगी नाथ .—इनके विषय मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'चौरगीनाथ तिब्बती परपरा मे गोरक्षनाथ के गुरुभाई माने गए है। इस सग्रह मे उनकी 'प्राण-सकली' नामक रचना प्रकाशित की जारही है। इससे पता चलता है कि ये राजा सालवाहन के पुत्र मच्छन्द्रनाथ के शिष्य और गोरखनाथ के गुरु भाई थे। चौरगीनाथ की प्राण सकली की भाषा आरंभ मे पूर्वी है जो बाद मे चलकर राजस्थानी मिश्रित हो जाती है।'[1] संग्रहीत 'प्राण संकली' गद्यात्मक है। इसके अतिरिक्त एकपद भी संग्रहीत है। इनमे उलटवाँसी शैली की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। देखिए—

'अंगनि सैति अंगनि जालिबा। पानी सैती सोषिबा पानी ॥
बाई सेती बाइ फैरिबा। तब आकास मुषि बोलिबा बाँणीं ॥
माली लो भल मालो लो। सींचै सहज कियारी।
उनमनी कला एक पुहुप निपाया। आवागमन निवारी ॥'[2]

(३) चर्पट या चरपटीनाथ.—इनका समय गोरखनाथ से कुछ बाद का है। सिद्ध-परम्परा मे इनका नाम प्रचलित है। आचार्य द्विवेदी का कहना है कि तिब्बती परम्परा मे इन्हे मीनपा का गुरु तथा नाथ परम्परा मे इन्हे गोरखनाथ का शिष्य कहा गया है। एक पद मे इन्होने अपने को गोपीचद का गुरु भाई कहा है। इनकी बानियो से ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारम्भ मे ये रसेश्वर सम्प्रदाय से सम्बन्धित रहे होगे और बाद मे गोरख के प्रभाव में आकर नाथ सम्प्रदाय मे आगये होगे।[3] सग्रहीत बानियो के पढने से ज्ञात होता है कि इनके कथन मे उलटवाँसी तत्त्व को निर्वाहित करने की सम्यक् प्रवृत्ति देखने को मिलती है —

'जटा बिटंबन आंगं छार। मोटी कंथा बहु विस्तार ॥
विचित्र बांनी अंगा चंगा। बँटुवा सीवै बहुविध रंगा ॥'[4]

'विचित्र बानी' से किसी सिद्ध अथवा नाथ की विचित्र अयवा अटपटी उलटवाँसी कथन की ओर सकेत है। इसी प्रकार 'वायु के सयमन के द्वारा ही योगी का उत्थान होता है। अन्यथा भूँकते हुए गधा रूप मन को विषय रूप चोर अपहृत कर लेते है।'[5] चरपट के निम्नकथन मे रसेश्वरवादी होने का सकेत मिलता है—

'सरसा ही सुहागा सो देह धमाल। अम्बर बेल सो खरलहिं डाल ॥
खरल करै जब बासर तीनि। गर परसादी होय महीन ॥'[6]

---

१. 'नाथ-सिद्धो की बानियाँ', भूमिका पृ० २०
२ वही, भूमिका, पृ० ४८
३ 'नाथ-सिद्धो की बानियाँ', पृ० २१
४. वही, पृ० २७
५. 'कथनी बदनी बलि करि जाव। बंधि सकहु तौ वधौं बाव ॥
चरपट कहै पवन की डोर। भूंकत गदहा ले गयौ चौर ॥' वहीं, पृ० ३२
६. वही, पृ० ३५,

(४) जालंधरी पाव :—ये सिद्ध कृष्णपाद (काणेरी) के गुरू माने गए है। राजा गोपीचन्द की माता मयनावती इनकी शिष्या थी। माता के कहने से ही गोपीचन्द ने इनसे दीक्षा ली थी। आचार्य द्विवेदी का कहना है कि ये नवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे।[1] उलटवाँसी शैली में लिखित एक उदाहरण प्रस्तुत है—

'सुनि मण्डल मैं मन का वासा। तहाँ परम जोति प्रकासा ॥
आपै पूछै आपै कहै। सतगुरु मिलै तो परमपद लहै ॥
एक अचंभा ऐसा हुआ। गागरि माँहि उसारवा कूवा ॥
बोछी लेज पहूँचै नाँहीं। लोक पयासा मरि-मरि जाहीं ॥'[2]

प्रथम दो पंक्तियो में 'शून्यवाम' का उपदेश और अन्तिम दो मे कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने का वर्णन है।

(५) काणरी :—'योगि संप्रदायाविष्कृति' के आधार पर आचार्य द्विवेदी ने कृष्णपाद कान्हुपा, कानफा, काणेरी आदि नामो को एक ही माना है। दीर्घ ईकारान्त होने के कारण कुछ लोग इन्हें स्त्री सिद्ध मानते हैं। इसीलिए कही सती काणेरी और कही काणेरीपाव नाम से इनकी वानियाँ मिलती हैं। ये जलन्धर पाद के शिष्य और गोरखनाथ के समसामयिक थे। कान्हपा नाम से चर्यापदो मे इनके गीत मिलते है। परन्तु यहाँ उनका एक परवर्ती पद प्रस्तुत है, जिसमे उन्होने सिद्धि अवस्था का वर्णन और उपदेश किया है—

'द्योसै चंदा रातै सूर। गगन मण्डल में बाजे तूर ॥
सति का सवद कणेरी कहै। परम हंस काहे न रहै ॥'[3]

उक्त नाथ-योगियो की वानियो के अतिरिक्त कुछ ऐसे नाथो की वाणी भी संग्रहीत हैं, जिनके आविर्भाव कालके सम्बन्ध मे कुछ भी निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता। इनमें एक भरथरी का नाम आता है। ये संस्कृत काव्य रचना करने वाले भर्तृहरि नही हैं, वरन् इनकी भाषा से इनका काल चौदहवी शताब्दी का प्रतीत होता है। एक पद मे उलटवाँसी शैली का प्रयोग देखा जा सकता है—

'नउ द्वार जड़ि ले कपाट। दसवैं द्वारै सिध करि वाट ॥
एक लष चंदा दोइ लष भाँण। वेधणा मृघ गगन अस्थान ॥
वेध्या मृघ न छाड़ै पास। भणंत भरथरी गोरष का दास ॥
पंच षंडा अधिक वलिवंडा, मनराइ मैमता गाजै।
विषय लहरि कंद्रप की उठै हो सिघ। तहाँ कूंण कूकै कूंण भाजै ॥'[4]

इसमें नउद्वार, कपाट, दसवाद्वार, चदा, मृघ, गगन स्थान, पचपंडा, कूकना आदि प्रतीकात्मक प्रयोग हैं जो मन के संयमन और योगाभ्यास का संकेत कराते हैं। इनके अतिरिक्त

१. 'नाथ-सिद्धो की वानियाँ', पृ० २२
२. 'नाथ-सिद्धो की वानियाँ', पृ० ५२
३. वही पृ० ११
४. 'नाथ-सिद्धों की वानियाँ', पृ० १००

गरीबनाथ की बहुत कम बानियाँ उपलब्ध है। इन्हे कबीर का समकालीन (१४वी का उत्तरार्द्ध) माना जाता है। इनकी उलटवाँसी शैली मे लिखित एक सबदी प्रस्तुत है—

'पाताल की मींडकी अकास जंत्र बावै ।
चन्द सूरिज मिलै गंग जमन गीत गावै ॥
सकल ब्रह्मंड उलटि अधर नाचै डीब ।
सति सति भाषत सिध गरीब ॥'[1]

इसमे सिद्धि-अवस्था अथवा कुण्डलिनी के ब्रह्माण्ड मे निवास का वर्णन है। हणवंत जी को भी कबीर से कुछ पूर्ववर्ती माना गया है। इनका उलटवाँसी शैली मे 'तत्त्ववेलि' वर्णन प्रस्तुत है—

'आकासा उड़ि चढै विहंगम, पीछै षोज न दरसै ।
बाल जती हणवंस यूं प्रणवै, कोई बिरला हरि पद परसे ॥
तत बेली लो तत बेली लो, अलष बिरष बिलंबेली ।
बाड़ी विरह बीज निज बाह्या, मगर्याहि जाइ रहेली ॥
अमी कुंड सो धोए बांध्या, अमरा फूल भरेली ।
चेतनि पांण ति प्यांउंन लागा, अंबर छेकि बघेली ।
पेड दिसा थैं पावक पोषै, सेली अमी पीवेंली ।
रूप रेष ताकै कछु नांही, बप बिन मृग चरेली ॥'[2]

सूफी विचारधारा का पूर्वयोग :

सूफी विचार-धारा का भी प्रभाव सत-साहित्य पर पडा है। जिन उलटवाँसियो मे भाव-विरह की स्थिति है अथवा पारिवारिक सम्बन्धो की प्रेषणीयता से रूपको की सृष्टि है, वहाँ यह प्रभाव झाँकता है। इस प्रकार सतो द्वारा रचित उलटवाँसियो पर हठयौगिक परम्परा का पूर्ण प्रभाव है, वही वष्णव विचारधारा और सूफीसाधना ने भी आशिक रूप मे प्रभाव डाला है। समासोक्ति तथा अन्योक्ति पद्धति मे वर्णित सूफियो की रहस्यात्मक प्रवृत्ति उलटवाँसी पद-रचना के निकट की है। दोनो मे ही प्रतीकात्मक साकेतिक शब्दो का उपयोग हुआ है। काथनिक असम्बद्धता भी रहती है। पिण्ड मे ब्रह्माड की कल्पना (चौदह भुवन जे तर उपराही। ते सब मानस के घटमाही) ने उनकी कथन-शैली को कौतूहल प्रधान बनाया है। उलटवाँसी पद की पक्ति ('पण्डित होइ सो भेद बतावै') के समान सूफी कवि जायसी ने अपने कथन के रहस्य को पण्डितो से पूछा है। ('मै एहि अरथ पडितन्ह बूझा। कहा कि हम किछु और न सूझा।') इसमे गर्वोक्ति का स्वर निहित है। इतना होने पर भी उलटवाँसी पदो मे जो विरोध-अभिधीत रहता है, वह सूफी-कथन शैली समासोक्ति अथवा अन्योक्ति मे देखने को नही मिलता। समासोक्ति शैली मे लिखा गया सिंहलगढ़ का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन, जो शरीर-रचना पर भी लागू होता है, असम्बद्धता प्रधान होते

---

१. 'नाथ-' सिद्धो की बानियाँ', पृ० १३
२. वही, पृ० १२४-२५

हुए भी उलटवाँसीके निकट का है उलटवाँसी नही है। सूफी रचना-शैली से उलटवाँसी पद-रचना प्रतीकादिचयन क्षेत्र मे सहयोग लेती रही है। उदाहरण केलिए —

'नौ पौरी तें गढ़ मँझिआरा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोतवारा॥
दसवें दुआर गुपुत इक ताका। अगम चढ़ाव बाट सुठि बांका॥
भेदे जाइ कोइ वह घाटी। जो लह भेद चढ़े सोइ चांटी॥
गढ़तर कुंड सुरंग तेहि भावा। तहँ वह पंथ, कहौं तोहि पावा॥
दसँम दुआर ताल कै लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा॥'[1]

इतना निश्चित है कि भाव-विरह मे लिखी गई उलटवाँसियो पर सूफी 'भावना' का प्रभाव अवश्य रहा है।



१. 'पद्मावत' सिंहलगढ़ वर्णन खण्ड

चतुर्थ अध्याय

उलटवाँसी पद—प्रतीक-योजना, आधार तथा विश्लेषण

प्रतीक शब्द :

'प्रतीयते प्रत्येति वा इति' के रूप मे प्रति+इ+अलीकादयश्चेति' ईकन् प्रत्ययेन साधु: अथवा प्रति+कन्, निपातन से दीर्घ होने पर प्रतीक शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसके अनेक प्रसगो में अनेक अर्थ है।[1] अवयव,[2] मुख, दर्शन,[3] प्रतिमा,[4] अग',[5] रूप,[6] सकेत,[7] उलटा-

---

१. 'आहुः प्रतीकमवयवमपघनमङ्ग' तथैकदेश च।
उल्वणमुद्धतमुद्भटमुत्कटमिति नातिनानार्थाः ।।' —हलायुध कोश
(अभिधान रत्नमाला, चतुर्थ खण्ड, श्लोक, ७४४)

२. 'विसानुनापृथिवी सस्र उर्वी पृथु प्रतीकमध्येधे अग्नि.।' —ऋग्वेद-सहिता, ७।३६।१
'तथाग्नि. पृथु विस्तीर्ण प्रतीक पृथिव्या अवयवम्।' (मत्र का सायण भाष्य)

३. 'यावन्मात्रमुषसो न प्रतीक सुपर्ण्यो३वसते मातरिश्व।'—ऋग्वेद-सहिता, १०।८८।१९
'प्रतीक मुखं प्रकाशाख्य दर्शन वा' (मत्र का सायण भाष्य)
'यो वै तामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन।' —बृहदारण्यकोपनिषद्, १।५।१
अर्थात् जो इस (अन्न) के अक्षयभाव को जानता है, वह मुख रूप प्रतीक के द्वारा अन्न भक्षण करता है।

४. 'स्रुचा प्रतीकमज्यते' —ऋग्वेद-सहिता, १०।११८।३
'तथा प्रतीक सर्वेषा देवाना पूर्वमेव स्रुचा घृतसहितया अज्यते सिच्यते' (सायण भाष्य)
'ऐक्सटीरियर सरफेस, आउटवर्ड फोर्म ऑर शेप' (मौनियर विलियम्स)

५. 'कीर्णारिजे साजिभूमिः समन्तादप्राणङ्गिः प्राणभाजा प्रतीकै.।'
—शिशुपालवध महाकाव्य, १८।७९
अर्थात् वह रणस्थली मृत प्राणियो के अग-प्रत्यगो द्वारा सब ओर से व्याप्त थी।

६. 'जीमूतस्येव भवति प्रतीक यद्वर्मी याति समदामुपस्थे' —ऋग्वेद-सहिता, ६।७५।१
'यदा अय राजा वर्मी कवची याति तदा लोहमयेन वर्मणा सनद्धस्य राज्ञ प्रतीक रूपं जीमूतस्येव मेघस्येव भवति।' (मत्र का सायण भाष्य)
'यस्य प्रतीकमाहुत घृतेन' —ऋग्वेद-सहिता, ७।८।१
'यस्य अग्ने प्रतीक रूप घृतेन आहुत भवति।' (मत्र का सायण भाष्य)

७. 'त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार' —बृहदारण्यकोपनिषद्, ६।२।३
अर्थात् 'वे (प्रश्न) ये थे, ऐसा कहकर उसने उन प्रश्नो के सकेत बतलाए।'

विलोम[1] आदि अर्थों में इस प्रतीक-शब्द की व्यवस्था मिलती है। प्रतीक-शब्द से यहाँ हमारा तात्पर्य उसके मूल अर्थ—रूप, प्रतिमा बिम्ब, सकेत, आदि से ही है, जो वक्ता के द्वारा श्रोता अथवा पाठक के मस्तिष्क मे सजीव होती है। इस अर्थ में 'शब्द' स्वयं प्रतीक ही है।[2] इस रूप में 'प्रतीक' शब्द चिह्न, आकृति, बिम्ब, किसी वस्तु या भाव का स्थानापन्न, संकेत, इंगित आदि अर्थों मे प्रयुक्त होता है।

प्रतीक-चयन की मानसिक प्रक्रिया :

प्रतीक के माध्यम से वस्तु अथवा घटना का स्थानापन्न मानसिक बिम्ब अथवा रूप ही अभिव्यक्ति पाता है। प्रतीक-सकेत के रूप में जो अभिव्यक्ति हमे देखने को मिलती है, वह वास्तविक तथ्य नही हुआ करती। उसके पीछे जो संकेतार्थ अथवा सकेतित पदार्थ रहता है उसी की सफल अभिव्यक्ति अथवा उसके निकटतम प्रभाव-साम्य को प्रयोक्ता प्रतीक द्वारा साकार रूप देना चाहता है।[3] अभिव्यक्ति से पूर्व प्रयोक्ता के मन मे एक प्रकार की प्रक्रिया होती रहती है, जिसमें चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ भी समन्वित रूप प्रदान करने मे अपना सहयोग प्रदान करती रहती है।[4] इस प्रकार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आधार पर बलवती हुई अनुभूति अभिव्यक्ति के लिए उच्छलित हो उठती है, तब प्रयोक्ता उस अमूर्त्त भाव को साकार रूप प्रदान करने केलिए मचल उठता है, ऐसी परिस्थिति मे वह अप्रस्तुत रूप प्रतीकों की शरण जाता है और यथासाध्य अपने भाव-विचारों का मूर्त्त विधान करता है। इस प्रकार 'किसी अन्य स्तर की समान रूप-वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु 'प्रतीक' बन जाती है। प्रतीक अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय

---

१. 'विलोम:, प्रतिकूले' 'हलायुधकोश:' 'प्रतीक—इमेज, कन्ट्रेरी, रिवर्स्‌ड, इनवर्टड, एडवर्स' आदि 'संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी' (मो०वि० तथा वी०एस० आप्टे)

२. 'दि वर्ड इज़ ए सिम्बल, एण्ड इट्स मीनिंग इज़ कन्स्टीट्यूटड बाइ दि आइडियाज, एण्ड इमोशन्स, ह्विच इट रेज़ेज़ इन दि माइण्ड ऑफ दि हीअरर।'
—सिम्बॉलिज्म—इट्स मीनिंग एण्ड इफैक्ट, पृ० २

३. 'सकेतो को विचार, भाव या अनुभूति समझने का भ्रम नही होना चाहिए। 'सकेत' पूर्ण तथ्य नही होते। सकेतो के पीछे सकेतित पदार्थ होना चाहिए। सकेत, संकेतित वस्तु के तात्विक स्वरूप को उपस्थित नही करता। केवल उसका आभास और सकेत ही उपस्थित करता है।'
—हिन्दी सूफी कवि और काव्य, पृ० २१४

४. 'जब किसी वस्तु को देखकर उससे परिचय प्राप्त किया जाता है, तो वह प्रारम्भ से ही कतिपय भावनाओ के साथ मिश्रित हो जाया करता है। यह मानसिक व्यापार, हमारे भीतर बिना हमारे किसी प्रयत्न के, आपसे आप हो जाया करता है। इस प्रक्रिया में आँखों के अतिरिक्त अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ भी काम करती हैं। ये इन्द्रियाँ पहले किसी वस्तु का एक प्रतिबिम्ब मात्र ग्रहण कर मानस-पटल तक पहुँचा देती है, जहाँ पर मन उनका एक न्यूनाधिक परिचित चित्र अपने ढग से निर्मित कर लेता है।'
—कबीर-साहित्य की परख, पृ० १३८-३६

का विधान मूर्त, दृश्य, श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है।'[1] प्रतीक के माध्यम से प्रयोक्ता के मस्तिष्क की सजीव झाँकी अथवा क्रियाशीलता मुखर हो उठती है, क्योंकि प्रतीक-चयन मे प्रयोक्ता के मानसिक बिम्ब के साथ-साथ प्रासंगिक वातावरण, तत्सम्बन्धी प्रसंगो तथा प्रयोक्ता के अनुभवो को अन्विति मिलती है।

इस प्रकार प्रतीको के रूप मे, सादृश्य के बल पर, प्रयोक्ता की मानसिक प्रक्रिया ही मूर्त्त रूप धारण करती है। परन्तु, इसी प्रकार की सादृश्य पर आधारित प्रक्रिया अप्रस्तुत विधान अथवा उपमान-प्रयोग में देखी भी जाती है। भावो को मूर्त्त रूप प्रदान करने के रूप मे, विशेष अनुभूति को प्रस्तुत मानकर, प्रतीक भी अप्रस्तुत है। सादृश्य-प्रधान होने के कारण, प्रतीक और उपमान दोनो को एक मानने का भ्रम हो सकता है। परन्तु 'उपमान' मे जहाँ अग-विशेष अथवा प्रभावाश का ही सादृश्य रहा है, वहाँ 'प्रतीक' मे वस्तु का बिम्ब, वातावरण की सजीवता, प्रसंगो की अन्विति आदि एक सजीव आकार धारण किये रहती है। इस प्रकार 'प्रतीक' का क्षेत्र 'उपमान' से कही अधिक व्यापक रहता है।[2]

प्रतीकों के कार्य :

अनुभूति की अभिव्यक्ति मे ही नही, विस्तृत समाज मे भी व्यक्ति से समिष्ट तक के व्यवहार का बहुत बडा अंश प्रतीको पर आश्रित है, क्योकि प्रतीकीकरण के रूप मे अपनी अनुभूति को सन्तुष्टि प्रदान करना मानव का सहज स्वभाव है। जिन विषयों को प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा समझा नहीं जा सकता, उन्हें प्रतीक, घनीभूत करके, मुखर कर देते है। व्यवहार मे अनेक प्रकार के प्रतीक देखने को मिलते है, जैसे वाणी से सम्बन्धित, सकेतो से सम्बन्धित, चिह्नो से सम्बन्धित, प्रतिमाओ से सम्बन्धित। इन सभी प्रतीको को दो वर्गो मे बाँटा जा सकता है—सदर्भीय और संघनित।[3] सघनित प्रतीको मे धार्मिक अनुष्ठानो की साकार भावना से सम्बन्धित तथा स्वप्न-शकुन आदि से सम्बन्धित विशेष आकार-प्रधान चिह्न आते है तथा सदर्भीय मे भाषा, लिपि आदि से सम्बन्धित चिह्न रहते है। इस प्रकार मानव-जीवन पूर्णत प्रतीको पर आधारित रहता है। यहाँ हमारा अभिप्राय साहित्य मे प्रयुक्त भाषा-प्रतीको से ही है।

मूलतः भाषा स्वय प्रतीकात्मक सयोजना है। भाषा अथवा साहित्य मे प्रयुक्त प्रतीक-

---

१. 'हिन्दी साहित्य कोश' प्रथम खण्ड, पृ० ४७१

२ 'सादृश्य दीख पड़ने के कारण इसे (प्रतीक को) कभी-कभी उपमानो का स्थान दे दिया जाता है जो उचित नही है, यह उससे कही अधिक व्यापक है। इसकी सहायता बहुधा ऐसे अवसरो पर ली जाती है, जब हमारी भाषा पगु और अशक्त-सी बनकर मौन धारण करने लगती है और जब अनुभवकर्त्ता के भाव, विविध भाव-शिला से चतुर्दिक् टकराने वाले स्रोतो की भाँति, फूट पड़ने केलिए मचलने-से लग जाते है।'

—कबीर-साहित्य की परख, पृ० १४२

३. देखिए—'हिन्दी साहित्य कोश', प्रथम खण्ड, पृ० ४७२

शब्दो का विशेष महत्त्व होता है।[1] प्रतीकों मे सान्निध्य से अधिक सारूप्य की भावना मुखर रहती है।

प्रतीक-योजना की प्राचीनता :

प्रतीकों का अस्तित्व मानव-जाति के अस्तित्व के साथ ही जुडा है, क्योकि व्यवहार में मानव थोड़े समय केलिए भी विना प्रतीक-प्रयोग के नही रह सकता।[2] लिखित रूप मे प्रतीकों का प्रयोग हमें वैदिक साहित्य मे सम्यक् रूप से देखने को मिलता है। ऋग्वेद में आया हुआ ब्रह्म-जीव की परिस्थिति को सूचित करने वाला 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (१।१६४।२०) मत्र, पक्षी और वृक्ष के रूपक से, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ही है। इन प्रतीको के द्वारा ब्रह्म, जीव और संसार की परिस्थिति का सम्पूर्ण वातावरण मुखर हो उठा है। अथर्ववेद (१४।२।६४) मे चक्रवाक-युगल के द्वारा दम्पती की विशेष परिस्थिति का चित्रण किया गया है। विभिन्न स्थानो पर गौ के प्रतीक द्वारा 'वाणी' का चित्रण किया गया है। उपनिषदों के अनेक रूपक प्रतीक शैली मे हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् (१।१०।१) मे संसार को वृक्ष वताया गया है। त्रिशंकु का वेदानुवचन है—'अहं वृक्षस्य रेरिवा' अर्थात् 'मैं (उच्छेद रूप संसार) वृक्ष का प्रेरक हूँ।' इसका भाष्य करते हुए आचार्य शङ्कर ने स्पष्टत· 'वृक्ष' को ससार वताते हुए लिखा है—'अह वृक्षस्योच्छेदात्मकस्य संसारवृक्षस्य रेरिवा प्रेरयिताऽन्तर्याम्यात्मना।' उपनिषदो मे 'हस' या 'पक्षी' को अप्रस्तुत बनाकर आत्मा का प्रस्तुत रूप मे वर्णन मिलता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि नवद्वार वाले देह-रूप पुर मे हंस (—रूप आत्मा) निवास करता है। वह कार्य-करण उपाधि मे हस है—

---

१. 'दि फक्शन ऑफ दीज एलीमेन्ट्स इज टु वी डेफ़ीनिट, मैनेजिएविल, रिप्रोड्यूसिविल एण्ड ऑलसो टु वी चार्ज्ड विद् देअर ओन इमोशनल एफ़ीकेसिटी, सिम्वौलिक ट्रान्सफरेन्स इन्वेस्ट्स देअर कोरिलेटिव मीनिंग्स विद् सम ऑर ओल ऑफ दीज ऐट्रीव्यूट्स ऑफ दि सिम्वल्स, एण्ड देअर बाइ लिफ्ट्स दि मीनिंग्स इन्टू एन इन्टे-न्सिटी ऑफ डेफीनिट इफैक्टिवनैस—एज एलीमेन्ट्स इन नॉलिज, इमोशन एण्ड परपज,—एन इफैक्टिवनैस व्हिच दि मीनिंग मे, ऑर मे नॉट, डिजर्व ऑन देअर ओन एकाउण्ट। दि ओब्जैक्ट ऑफ सिम्वॉलिज्म इज दि एनहैन्समेण्ट ऑफ दि इम्पौरटैन्स ऑफ ह्वाट इज सिम्वौलाइज्ड।'

—सिम्वौलिज्म-इट्स मीनिंग एण्ट इफैक्ट, पृ० ७४

(१. अ) जीवन के अन्तस्तल तक प्रवेश पाये हुए तथा सूक्ष्म दृष्टि वाले आत्मद्रष्टाओं की प्रतिभा द्वारा अनुभूत सत्य मानव-जाति के उपयोग मे तभी आते हैं, जब उन्हें गहरे रंगो में रंजित एवं पूर्ण सौन्दर्ययुक्त प्रतीकों के वने रूपकों का आश्रय मिल जाता है।'

—हिन्दी-काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय, पृ० ३९०

२. 'मैन काइण्ड, इट सीम्स, हैज टु फाइण्ट ए सिम्बल इन ऑर्डर टु एक्सप्रैस इटसैल्फ। इनडीड एक्सप्रैशन इज 'सिम्वॉलिज्म'। 'सिम्वॉलिज्म-इट्स मीनिंग एण्ड इफैक्ट' पृ० ७३

'नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते वहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥' (३।१८)

'नवद्वारे पुरे देही विज्ञानात्मा भूत्वा कार्यकरणोपाधिः सन्हसः परमात्मा हन्त्यविद्यात्मक कार्यमिति. ....'—शाङ्करभाष्य। इसी प्रकार रथ, रथी, सारथि, आदि प्रतीको द्वारा शरीर, आत्मा, बुद्धि और मन की स्थिति का रूपक प्रस्तुत किया है।[1] पुराणो मे देवताओ के विशेष वाहन ही देवताओ के प्रतीक बन गए, जैसे मूषक गणेश का, मयूर कार्तिकेय का, गरुड विष्णु का, आदि।

तन्त्र-युग तक आते-आते हम देखते है कि प्रतीक शैली को माध्यम बनाकर ही तांत्रिक क्रियाएँ सम्पन्न होने लगी थी।[2] तन्त्र-युग के इन प्रतीको ने सहजयानी बौद्ध सिद्धो के सध्या-भाषा मे लिखित चर्या-गीतो को बहुत अधिक प्रभावित किया है।

प्रतीको के प्रयोग की दृष्टि से चर्या-गीतो का युग समृद्ध है, क्योकि उस युग मे साधनापरक प्रत्येक बात प्रतीको के माध्यम से ही कही जाती थी। फलतः बौद्ध सिद्धो की बात दुरूह, अस्पष्ट, रहस्य-प्रधान तथा उनकी कथन-शैली अभिप्राय-गर्भित सध्या-भाषा-शैली के रूप मे प्रसिद्ध हुई। चर्यागीतो मे प्रयुक्त प्रतीको का अर्थ बिना समझे, उनकी बात का अर्थ समझना कठिन है। अत. अर्थ समझने केलिए सम्प्रदाय-विशेष मे दीक्षित होना आवश्यक हो गया था।[3] हिन्दी-साहित्य की उलटबाँसियो के समान ही सिद्धों के चर्यागीतो

---

१ 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथि विद्धि मन· प्रग्रहमेव च ॥' —कठोपनिषद्, १।३।३
'तत्रात्मानमृतप ससारिण रथिन रथस्वामिन विद्धि। शरीर रथमेव तु रथवद्धहय-स्थानीयैरिन्द्रियैराकृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य। बुद्धि तु अध्यवसायलक्षणा सारथि विद्धि।. .... मनः सकल्पविकल्पादिलक्षण प्रग्रह रशना विद्धि।'—शाङ्करभाष्य।

२. 'तारा तन्त्र', 'षोडशी तन्त्र', 'धूमावती तन्त्र', 'त्रिपुरसुन्दरी तन्त्र' आदि अनेक तन्त्र ऐसे है, जिनमे गुह्य साधना-पद्धति प्रतीकात्मक शैली मे वर्णित है। 'तन्त्रालोक' मे 'ए' प्रतीक के द्वारा इच्छा, ज्ञान, क्रिया का त्रिकोण वर्णित है। इसकेलिए द्रष्टव्य है तन्त्रो का विशेष सग्रह 'शाक्तप्रमोद'।

३ 'रहस्यवादियो ने प्रतीको का विपुल प्रयोग किया है। उनके साध्य और उनकी अनुभूति का स्वरूप भाषा मे अप्रेषणीय होने के कारण, इन दोनो विषयो के सम्बन्ध मे उन्होने जो कहा है वह प्रतीको के माध्यम से ही। इस कारण उनकी भाषा दुरूह 'सन्धा-भाषा' हो गई, जिसके प्रतीको का अर्थ जाने बिना कोई अदीक्षित व्यक्ति उसे समझ ही नही सकता। यही कारण है कि अनेक मर्मियो की अभि-व्यक्ति साधारण पाठक को उद्दाम प्रणय-अभिसार और उत्कट मिलन की अभिलाषा लगती है, उनकी उलटबाँसियाँ प्रलाप प्रतीत होती है।'
—'हिन्दी-साहित्य कोश' (प्रथम खण्ड), पृ० ४७२

में औपम्यमूलक तथा विरोधमूलक प्रतीको का प्रयोग होने लगा था।[1]

नाथ-युग में आकर प्रतीको का प्रयोग और बढ़ा। इस युग मे नाथपंथी योगियों की बानियों में 'वाम' अथवा 'वामा' साधना सम्बन्धी अनेक प्रतीक प्रचलन से हट गए और हठयोग-साधना के अनेक प्रतीको ने नाथो की अनुभूति का भार-वहन किया। जगत् की मायात्मक स्थिति तथा सिद्धि अवस्थाजन्य परिस्थिति को चित्रित करने में, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति बड़ी सफल हुई है।[2]

हिन्दी के परवर्ती कालों मे लिखित उलटबाँसियाँ, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप मे, जिस प्रकार अन्य बातों में प्रभावित हुई हैं,[3] उसी प्रकार प्रतीक-ग्रहण के रूप में, उन पर, पूर्व परम्परा का सम्यक् ऋण है। यहाँ तक आते-आते अनेक प्रतीक अपने प्रयोग में रूढ हो गए थे। सन्तों ने अनेक प्रतीकों की सृष्टि कल्पना तथा विभिन्न व्यवसायो के बल की है, उनके अनेक उलटबाँसी पदो के प्रतीक नए परिवेश मे प्रयुक्त हुए है। बहुतों का अर्थ-संकोच और अर्थ-विस्तार हुआ है। सिद्ध-नाथ परम्परा में प्रयुक्त प्रतीक, अपनी रहस्यात्मकता के कारण बहुत दुरूह हो गए थे, अतः जन-जीवन के अधिक निकट नहीं आ सके हैं। सन्तों की उलटबाँसियों में प्रयुक्त प्रतीक व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित होने के कारण लोक-जीवन में बहुत प्रचलित हुए है। इसीलिए अनेक उलटबाँसी-पद जन-जीवन की जिह्वा पर विराजमान रह सके है।

अभिव्यंजना की दृष्टि से, उलटबाँसी शैली में प्रयुक्त अनेक प्रतीक विशेष महत्त्व के हैं। यही कारण है कि उनका प्रयोग परिष्कृत काव्य में भी हुआ है। परन्तु, जैसे ही कोई विशेष प्रतीक व्यवहार में आता है, वह अपनी अभिव्यंजनात्मक शक्ति खो बैठता है। उदाहरण केलिए व्यवहार मे प्रयुक्त 'चर्खा' शब्द का वही अर्थ नही है, जिस अर्थ मे कवि श्री पन्त ने 'बापू' शीर्षक कविता में प्रयुक्त किया है और वहाँ भी वह अर्थ नही है जो कबीर के उलटबाँसी पद में इस प्रकार प्रयुक्त हुआ है—

चरखा जिनि जरै।

× × ×

सब जगही मरि जाइयौ, एक बढ़इया जिनि मरै।
सब रांडनि कौ साथ, चरखा को धरै॥[4]

---

१ 'इन प्रतीकों की दो प्रकार की योजनाएँ थीं—औपम्यमूलक और विरोधमूलक। औपम्यमूलक प्रतीक योजना मे विभिन्न रूपक प्रस्तुत किये जाते थे और विरोधमूलक मे उलटबाँसी-शैली का विकास हुआ।'—धर्मवीर भारती
('हिन्दी साहित्य कोश', पृ० ७९३ मे उद्धृत)

२. उदाहरण केलिए, 'गोरख-बानी', पद ५६,५७ द्रष्टव्य हैं।

३. 'हिन्दी-साहित्य' (द्वितीय खण्ड), पृ० २०४

४. 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० ९२

इसी प्रकार सूत, जुलाहा, वृक्ष, कामधेनु, मूषक, गगा-यमुना आदि अनेक प्रतीकात्मक शब्द हैं जिनका प्रयोग परिवेश विशेष मे भिन्न-भिन्न अर्थ मे हुआ है। उदाहरण केलिए कह सकते हैं कि अरण्यवासी वैदिक ऋषि, अपनी अभिव्यक्ति केलिए प्राकृतिक उपकरणो मे से प्रतीक चुनते थे। राज-दरबारो मे कवि-मच को सुशोभित करने वाले सस्कृत-कवियो ने अपने परिवेश से प्रतीको को चुना। पर्वतो और गुफाओ मे रहने वाले सिद्ध-नाथ योगियो ने पर्वत, अहेरी, शबरी, साँप, मेढक, गज, हरिणी, गगा-यमुना, आम्र-कोयल, चन्द्र-सूर्य आदि के द्वारा अपने विचारो को अभिव्यक्ति प्रदान की। सतो ने चरखा, सूत, जुलाहा, चूल्हा, तवा, मछली, बगुला, बिंदु-सिन्धु, स्यार-सिंह, गौ-सिंह, बकरी-सिंह, दीपक-बाती आदि प्रतीको के द्वारा जीवात्मा की विभिन्न परिस्थितियो को भाषा प्रदान की है। इन प्रतीको का ऐसा प्रभाव बढ़ा कि इनमे से अनेक प्रतीको को, छायावादी युग मे भावो को मूर्त्त रूप प्रदान करने केलिए प्रयुक्त किया गया है, परन्तु उन प्रयोगो मे, प्रयोक्ता के कौशल से, व्यजकता मे अभिवृद्धि हुई है। इस प्रकार प्रतीको के अर्थ-परिवर्तन[1] के कारण भाषा की अभि-व्यजना-शक्ति का विकास होता रहता है।

प्रतीको की सुबोधता और दुरूहता तत्सम्बन्धी विषय से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। साधना-क्षेत्र के प्रतीको का अर्थ-ग्रहण करना सहजलभ्य नही हुआ करता। विशिष्ट साधको तथा सम्प्रदाय विशेष मे दीक्षित व्यक्तियो केलिए वे प्रतीक सुलभ और जन-सामान्य को दुरूह प्रतीत होते हैं। भक्ति तथा प्रेम-सम्बन्धी प्रतीको के प्रति जन-रुचि सहज ही आकृष्ट दिखाई देती है।

उलटवाँसियों में प्रतीक-चयन :

उलटवाँसी पदो की शरीर-रचना प्रतीक-योजना पर निर्भर है। परन्तु, उलटवाँसी-शैली के प्रयोक्ताओ ने किसी न किसी साम्य अथवा औपम्य के आधार पर विभिन्न क्षेत्रो से प्रतीको को चुना है। इस औपम्य या साम्य के कारण उलटवाँसी शैली मे दुरूहता तो आई, परन्तु प्रयोक्ता की मानसिक स्थिति की सफल अभिव्यक्ति भी उनमे देखने को मिलती है। उलटवाँसियो मे जीवात्मा की विभिन्न परिस्थितियो को प्रस्तुत बनाकर, अप्रस्तुत रूप प्रतीको द्वारा अभिव्यक्ति हुई है। इस परिस्थिति-चित्रण केलिए प्रतीको मे अनेक प्रकार का साम्य अथवा औपम्य रहता है। यह साम्य इस प्रकार है :—

(क) **आदि-वर्ण-साम्य**—उलटवाँसियो मे अनेक प्रतीक शब्द ऐसे है, जिनका वर्ण्य-विषय और प्रतीक के नामो मे आदि वर्ण समान है। उदाहरणार्थ 'मन' ज्ञानेन्द्रिय केलिए मच्छ, मतग, मृग, मीन, मेढ़क आदि, 'चित्त' केलिए चकवा, चातक, चिडा, चूल्हा आदि;

---

१ 'यह (प्रतीक-विधान की) क्रिया भाषा मे निरन्तर होती रहती है। यह भाषा-विकास की अनिवार्य क्रिया है। शब्दो मे चमत्कार बढ़ता है और चामत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार-सृष्टि की समस्या बनी रहती है। वह शब्दो को निरन्तर नया सस्कार देता रहता है।'

—दूसरा तार-सप्तक, भूमिका, पृ० ११

'काया' केलिए कमली, कलसा, कथा आदि शब्द है। इस प्रकार के प्रतीक प्रायः ज्ञानेन्द्रिय अथवा ज्ञानेन्द्रियों केलिए प्रयुक्त हुए हैं।

(ख) **धर्म-साम्य**—'वस्तु' की वह विशेषता जो वस्तु में सर्वथा विद्यमान रहे, 'धर्म' है। अप्रस्तुत रूप प्रतीकों की योजना प्रस्तुत के चचलत्व, स्थैर्य, गुरुत्व, व्यापकता, गति आदि गुणो के आधार पर हुई है। जैसे मन केलिए 'भ्रमर' कहने मे उसकी इधर-उधर घूमने की प्रवृत्ति; 'गजेन्द्र' कहने मे उसकी मस्ती, बलाधिक्य आदि; 'गरुड़' कहने में उसकी गति; 'मीन', 'मृग' कहने मे उसके चचलत्व आदि धर्मो की प्रतीति होती है।

(ग) **क्रिया-साम्य**—अनेक प्रतीको की योजना क्रिया, स्वभाव आदि के साम्य पर हुई है। जैसे—'काया' को चरखा; 'जीवात्मा' को सुन्दरी, सुहागिन, 'बद्ध जीव' को स्यार, जुलाहा; 'इच्छा' को बगुली, 'मन' को मर्कट, बैल आदि कहा गया है। काया केलिए 'चरखा' प्रतीक का प्रयोग उसके निरन्तर क्रियाशील रहने, बन्धन के घेरे मे चक्कर काटते रहने की क्रिया को द्योतित करता है। प्रबुद्ध जीवात्मा केलिए सुन्दरी अथवा सुहागिन प्रयोग मे उसके स्वरूप का आकर्षण, उसके कार्यो की सात्विकता, सत्त्वगुण से प्रेरित होकर लोक-जीवन मे कार्य करने की बात प्रधान हैं। जिस प्रकार सुन्दरी (अथवा अपने को सुन्दर, मलरहित रखने वाली) अथवा सद्गुणो वाली स्त्री के प्रति उसका पति स्वयमेव आकृष्ट होता है वैसे ही ऐसे गुणो की प्रधानता वाली जीवात्मा के प्रति परमात्मा आकृष्ट होता है। बद्ध जीव को 'स्यार' कहने मे उसकी भीरुता, 'जुलाहा' कहने मे बन्धन केलिए आवरण की सृष्टि करने वाला; इच्छा को 'बगुली' कहने मे अपने विषय की प्राप्ति में सन्नद्ध रहने की क्रिया, मन को 'मर्कट' कहने मे सकल्प-विकल्प के रूप मे तोड़-फोड़ करना और 'बैल' कहने में कर्मों का बोझा ढोना आदि क्रियाएँ मुखरित हैं।

(घ) **लिंग-साम्य**—प्रतीक-योजना में लिंग-साम्य का अतिक्रमण प्रायः नही मिलता। जैसे 'मन' पुल्लिंग है, तो उसके किसी गुण-साम्य के आधार पर 'बिलाई', 'चीटी' आदि की प्रतीक-रूप मे योजना नहीं है। मतंग, मृग, मेढक, मर्कट आदि ही प्रतीक रूप में मिलते हैं। इसी प्रकार 'माया' स्त्रीलिंग केलिए नागिनि, बिलाई, कामधेनु आदि स्त्री-लिंग शब्दो का प्रयोग है। इसी प्रकार 'मनसा' केलिए सुरही, गायत्री, चील्ह, चोट्टी, 'दुविधा' केलिए द्रौपदी; 'बुद्धि' केलिए चीटी; 'कुडलिनी' केलिए भुजंगी, धरती, गागरि; 'शरीर' केलिए घट, महल, देवल आदि प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।

(ङ) **संख्या-साम्य**—जिन कर्मेन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रियों अथवा नाड़ियां, चक्रो, गुणो आदि की निश्चित सख्या प्रसिद्ध है, उन केलिए उतनी ही निश्चित संख्या को प्रधानता देते हुए प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। उदाहरण केलिए पंच कर्मेन्द्रियों अथवा ज्ञानेन्द्रियों केलिए 'पंच कुत्ती', पंचविकारों केलिए 'पचलरिका', 'पाँच कुत्ता', ज्ञानेन्द्रियो की पच्चीस प्रकृतियो केलिए 'पच्चीस कुत्ती'; तीन योग नाड़ियों अथवा त्रिकुटी आदि केलिए 'त्रिवेणी'; षट् चक्रो केलिए 'षट् कमल'; एक माया केलिए 'एक जेवड़ी', शरीर के नव छिद्रो केलिए नौ खिड़की, नवद्वारो वाला पुर, दस इन्द्रियाँ केलिए दस गज, एक मन के लिए 'एक नाइक' आदि संख्यावाचक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।

(च) **परिस्थिति अथवा रूपक-साम्य**—प्रत्येक प्रतीक के पीछे एक मानसिक बिम्ब झाँकता है। कतिपय प्रतीको मे धर्म, प्रकृति, क्रिया आदि किसी विशेष तत्त्व के स्थान पर रूपक के रूप मे सम्पूर्ण परिस्थिति ही मुखर हो उठती है। उदाहरण केलिए माया को कामधेनु; ससार को वृक्ष, बाजार, पीहर, प्रबुद्ध जीवात्मा को सुहागिनि; बद्ध जीवात्मा को राँड, कार्य-कारण शृ खला से मुक्त अथवा सात्त्विक बुद्धि को 'वन्ध्या गऊ' आदि कहा गया है। ऐसे प्रतीको मे उनकी परिस्थिति विशेष साकार होकर अभिव्यक्त हो उठती है।

(छ) **रूढ़ि-साम्य**—उलटवाँसी पदो के कुछ प्रतीक, उक्त विभिन्न प्रकार की समता न रहने पर भी, प्रयोग में रूढ हो गए है। ऐसे प्रतीको को रूढि अथवा परम्परा के आधार पर गृहीत कहा जा सकता है। प्रयोग-रूढि के कारण ही ऐसे प्रतीको को शास्त्रीय व्यवस्था के रूप मे व्यक्ति वाचक सज्ञा के रूप मे निश्चित मान लिया गया है। कुछ ऐसे प्रयोग है जो स्थूल साम्य के आधार पर, लोक-जीवन से आकर सम्प्रदाय मे रूढ़ हो गए है, जैसे हिंडोला, वसन्त, होली, पिचकारी, सावन, मण्डप, विवाह, गौना, हस, कैलाश, मानसरोवर, स्नान, गगा-यमुना, त्रिवेणी आदि। ऐसे शब्दो का प्रयोग दो रूपो मे होता है—एक तो रूढ़ प्रतीकों के रूप मे; दूसरा योगशास्त्रीय अथवा साम्प्रदायिक रूढि के रूप मे। यह निश्चित है कि बहुत से शब्द प्रचलन के कारण ही शास्त्र अथवा सम्प्रदाय मे रूढ़ हो जाते है, अर्थात् प्रयोग से ही इनका शास्त्र बनता है। धीरे-धीरे ऐसे शब्दो मे पारिभाषिकता का आग्रह बढ जाता है। ऐसे शब्दो का विवेचन अगले अध्याय मे किया गया है। इस अध्याय मे भी कुछ ऐसे शब्द आये है जिनका प्रयोग द्विरूपात्मक है, जैसे—'हस'। यह शब्द प्रतीक भी है और पारिभाषिक भी। जिन उलटवाँसी पदो मे इस शब्द का प्रयोग निर्मल अथवा उद्‌बुद्ध स्वभाव की जीवात्मा केलिए हुआ है, वहाँ यह प्रतीक है। परन्तु, श्वास-प्रश्वास के आवागमन के रूप मे रूढ हुई 'ह' और 'स' की ध्वनि योग-शास्त्र मे विशेष अर्थ की द्योतक है और सतो मे इसका बहुलता से प्रयोग हुआ है। ऐसे प्रतीक रूढि-साम्य वाले होते हैं और पारिभाषिक भी। इस अध्याय मे साकेतिक प्रतीको का ही विवेचन विश्लेषण है।

उलटवाँसियों में सांकेतिक प्रतीक :

यद्यपि, साकेतिक प्रतीको मे भी परम्परा का प्रभाव रहता है, पर साकेतिक प्रतीको के प्रयोग मे प्रयोक्ता का व्यक्तित्व ही अधिकाश मे प्रतिबिम्बित रहता है। गुण, क्रिया आदि के आधार पर, वर्ण्य-वस्तु का सकेत प्रदान करने मे समर्थ स्थूल एव सुपरिचित प्रतीको का चयन वह (प्रयोक्ता) अखिल सृष्टि (समाज एव प्रकृति) मे से करता है। ऐसे प्रतीको मे प्रयोक्ता का वैयक्तिक क्षेत्र अधिक कार्यशील रहता है, जिनमे उसकी कल्पना, कलेवरा होकर, सजीव हो उठती है। इसीलिए साकेतिक प्रतीक प्रतिभा और मौलिकता की एक कसौटी होते हैं। इन प्रतीको के पीछे साम्प्रदायिक भावना का पुष्ट होना अनिवार्य नही है। साथ ही, ऐसे प्रतीको मे यह निश्चित नही कि उनका एक ही अर्थ लिया जाय, क्योकि, ऐसे प्रतीक प्रत्यक्ष-ज्ञान की भाँति कोई सुनिश्चित अर्थ नही देते। इनसे, पदार्थ या विषय के सम्बन्ध मे, क्रिया, भावना और विश्वास को आनुमानिक निश्चय प्राप्त होता है, प्रत्यक्ष

ज्ञान जन्य अनुभूति की अभिव्यक्ति मे भी प्रतीकों का माध्यम आवश्यक है ।[1] उलटवाँसियों में परप्रत्यक्ष दशा को वाणी मे, सांकेतिक प्रतीको के माध्यम से, समेटने का प्रयत्न रहता है । अतः प्रतीको का सहारा लिए विना उलटवाँसी शैली एक पग भी आगे नही वढ पाती । यही कारण है कि प्रतीक-प्रयोग की दृष्टि से उलटवाँसी-पद समृद्ध है ।

'प्रस्तुत' और उनके लिए प्रयुक्त प्रतीक :

उलटवाँसी-पदो मे प्रयुक्त उन सभी प्रतीको की विस्तृत सूची यहाँ प्रस्तुत है, जो किसी न किसी रूप मे, प्रस्तुत विशेष केलिए, प्रयुक्त हुए हैं । उलटवाँसियों का वर्ण्य-विपय प्रमुख रूप से साधनात्मक अथवा वैचारिक-दशा से सम्वन्धित है और साधना का सम्वन्ध शरीर तथा उसमे विद्यमान अथवा अनुभवगम्य कुछ उपकरणो से रहता है, जिनसे साधक या विचारक जगत् तथा उनकी विशिष्ट अवस्थाओ अथवा समस्याओ पर विचार करता हैं । इन उपकरणों द्वारा ही परम तत्त्व का ज्ञान होता है । उलटवाँसी-पदो मे जीवन और जगत् के विभिन्न अंगो-परिस्थितियो का वर्णन प्रतीको के माध्यम से किया गया है । अत· उलटवाँसी शैली के प्रयोक्ता केलिए मूल रूप मे जीवन और जगत् का यह पक्ष ही 'प्रस्तुत' रूप मे रहता है और उपमान रूप में प्रयुक्त प्रतीक 'अप्रस्तुत' रूप में । उक्त प्रकार के प्रस्तुतो के साथ प्रतीक रूप में प्रयुक्त उनके अप्रस्तुतो का विवरण इस प्रकार है—

अमृतानन्द—अमीरस 'नीझर झरै अमीरस निकसै' (क० ग्रं०, पद १५५); चंदवा (अमृतस्राव) 'चालत चदवा पिसि पिसि पड़ै । वैठा ब्रह्म-अगनि परजलै' (गो०वा०, सवदी ४६) ; जल 'हरपि हरपि जल पीवै कवीर' (क० ग्रं०, पद १४०) , झर 'झर लागौ निस दिन इकसार' (सु० ग्रं० (द्वितीय खण्ड)[2] अंग २२) , नीर 'ऊपरि नीर लेज तलि-हारी' (क० ग्रं०, पद १४०), फूल (सहस्रार चक्र अथवा आनन्द) 'एक फूल सोलह करंडियाँ (कलाएँ), मालनि मन मे हरिप न माइ' (गो० वा०, पद २०); भोजन 'सुन्दर जीमत अति सुख पायौ अवकै भोजन कियौ अघाइ' (सु० ग्रं०, अग २२); मधुकरी 'दसवै द्वारि अवधू मधुकरी माँगै' (गो० वा०, पद ५३); महारस 'धरणि महारस खावा' (गो० वा०, पद ५६; क० ग्र०, पद १६२) ।

---

१. 'देअर इज वन ग्रेट डिफरेन्स विट्वीन सिम्वॉलिज्म एण्ड डाइरेक्ट नॉलिज । डाइरेक्ट ऐक्सपीरिएन्स इज इन्फ़ालिविल । ह्वाट् यू हैव ऐक्सपीरिएन्स्ड, यू हैव ऐक्सपीरिन्स्ड । वट सिम्वॉलिज्म इज वैरी फ़ालिविल, इन दि सैन्स दैट दट मे इण्ड्यूस ऐक्शन्स, फीलिंग्स, इमोशन्स, एण्ड विलीफ्स एवाउट थिंग्स व्हिच आर मेअर नोशन्स विदाउट दैट ऐग्जेम्प्लीकेशन इन दि वर्ल्ड ह्विच दि सिम्वालिज्म सीम्स अम टु प्रिसपोज । आइ शैल डिवलप दि थीसिस दैट सिम्वॉलिज्म इज एन एसैन्शिअल फैक्टर इन दि वे वी फक्शन एज दि रिजल्ट ऑफ अवर डाइरेक्ट नालिज ।' —सिम्वॉलिज्म—इटस मीनिंग एण्ड इफैक्ट, पृ० ७

२. टिप्पणी—'सुन्दर ग्रन्थावली' के 'द्वितीय खण्ड' में ही 'विपर्यय को अग' है । अत. शोध-प्रवन्ध में इसी खण्ड से उद्धरण दिए गए है ।

अज्ञान—कांटा (अज्ञान-भ्रम) 'सूलै काटा भागा' (गो० बा०, पद २०), जाड़न (जडता) 'जाड़न मरै सपैंदी सौरी' (क० बी०, रमैनी ७३), दादुल∠दादुर (भ्रम) 'एक ही दादुल खायी पाँच हूँ भुवगा' (क० बी०, शब्द १११); दुतिया (अज्ञान-भेद-बुद्धि) 'दुतिया गइ है भागि सुनो अव राँध परोसिन' (प० बा० (पहला भाग), पृ०७५); पड़बा 'गाड़ि पड़वा बांधिलै पूंटा' (गो० बा०, पद ४७); पावक (त्रयताप) 'पानी मह पावक बरै' (क०बी०, शब्द १११); पूत (भ्रम) "देखो पूत कलार का मद मैया को देय" (तु० श०श० (पहला भाग), पृ०३५), बदरिया (अज्ञान-घटा) 'उनइ बदरिया परिगौ संझा, अगुआ भूले वन-खड मंझा' (क० बी०, रमैनी १५); बिलूंटा (अज्ञान-भ्रम) 'भाई रे, चूंन विलूंटा खाई' (क० ग्र०, ८१); बैल (अविवेक) 'बैल करै पटवारी" (क० बी०, शब्द ९), भाई (अविवेक) 'भाइ के सँगै सासुर गवनी' (क० बी०, शब्द ६), भार (अज्ञान-जनित जन्म-मरण का बोझ) 'सुन्दर सिरतैं उतर्यौ भार' (सु० ग्र०, अग २२), भैसा (वंचक) 'कहँहि कबीर सुनहु हो सन्तो, भैसे न्याव निवेरी' (क० बी०, शब्द ९); मैंडुक∠मेढुक 'मेदुक सरप रहै एक सगैं' (क० बी०, शब्द ५२); मांस-मदिरा (मोह-ममता) 'मांस षाइ मदिरा पुनि पीवै ताहि मुक्ति को ससय नाहिं' (सु० ग्र०, अग २२), राति∠रात्रि—'दिवस मांहि हम देखी राति' (सु० ग्र०, अग २२); स्वान∠श्वान् (अविचार) 'स्यार खायो स्वाना' (क० बी०, शब्द १११); सासु (अविद्या) 'सासुहि सावत दीन्हा' (क० बी०, शब्द ६)।

अन्तःकरण—(मन, बुद्धि, चित्त और अहकार के समवाय को अन्त करण-चतुष्टय माना जाता है) 'स्यंघ बैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा लावै। 'उदरी बपुरी मगल गावै कछू-एक आनद सुनावै॥' (क० ग्र०, पद १२) इसमे चार स्यंघ=मन, घूंस=बुद्धि, उंदरी (चूहा)=चित्त, कछुआ=अहकार है। चौक 'चौक के रगि धर्यौ सगौ भाई (क० ग्र०, पद २२६, क० बी०, शब्द २५), चौका 'बिप्र रसोई करनै लागौ चौका भीतरि बैठौ आइ' (सु० ग्र०, अग २२), जनाचारि 'जनाचारि मिलि लगन सुधायौ' (क० बी०, शब्द ५४); कमल, घड़ा, कलस, गगन, आँगण, कुवाँ आदि (देखिए, 'हि० का० मे निर्गु० स०,' परिशिष्ट स० १)।

अन्तर्मुखी (उलटवासी) साधक—अन्ध∠अन्धा (वशी, अन्तर्दृष्टि वाला) 'देखै अन्ध तमासा' (क० बी०, शब्द २३, सु० ग्र०, अग २२), उल्लू (उलटा) 'राधास्वामी उल्टी गाई। उल्लू को सूर दिखाई॥, (सा० व० छ० वं० (दूसरा भाग) पृ० ४५४); गुंगा∠गूँगा=मूक 'गुगा ज्ञान विज्ञान प्रगासै' (क० बी०, शब्द २३): पंगा∠पगु, 'पगा मेर सुमेर उलघै (गो० वा०, पद १८, क० बी०, शब्द २३, सु० ग्र०, अंग २२), टूंटा, नकटा, बहिरा आदि (सु० ग्र०, अग २२), पशु-घातक (इन्द्रिय-वशी) 'निर्दय होइ तिरै पशु घातक दयावंत बूड़ै भवमांहि' (सु० ग्रं० अग २२), पच्छिउँ गंगा वहना=अन्तर्मुखी प्रवृत्ति होना 'पच्छिउँ गगा वहै पानी है जोर का' (प० वा०, (भाग दूसरा), पृ० ७८); भुनगा (तमोगुण-रहित) 'भुनगे ने धरन तुलाई' (सा० वा० छ० व० (दूसरा भाग), पृ० ४५३); मूरख∠मूर्ख 'मूरष होइ सु अर्थ हि पावै' (सु० ग्र०, अग २२), 'मूरख से चतुरा हारा' (सा० ब० छं० बं० (दूसरा भाग) पृ० ४५४); मूसा (अन्तर्मुखी जीवन

वाला) 'मूसा के सबद-बिलइया नासैं' (गो० बा०, पद ४७); सिल∠शिला (माया-जल से अप्रभावित) 'लाकड़ डूबै सिल तिरै' (गो० बा०, पद २०); सोता∠सुपुप्त 'सोते ने जमा कमाई। जगते ने माल गँवाई' (सा० व० छं० वं० (दूसरा भाग), पृ० ५७)।

अहंकार—गरम∠गर्म 'गरम रहा बिनु पानी' (क० बी०, शब्द १); ज्येठ∠ज्येष्ठ 'जेठ के तरसि डरौं रे' (क० ग्रं०, पद २३०); पर्वत∠पर्वत 'परवत ऊपरि लोक डूबि मूवा' (क० ग्र०, पद १७६), 'पर्वत उड़ै रुई थिर बैठी' (सु० ग्रं०, अग २२); पिता 'पिता बिनां मूवा छोरु (अज्ञान) लो' (गो० बा०, पद २१); पील=हाथी 'पपील ने पील गिरवा' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १२५); बगलौं=(बगुले) 'गगन मछलड़ी बगलाँ ग्रास्यौं' (गो० बा०, पद ६०), बाप 'माइ बाप तजि धी उमटानी' (सु० ग्रं०, अंग २२), मेर∠सुमेर 'तिल मैं मेर समांनां (क० ग्रं०, पद १७४, क० बी०, शब्द २३; सु० ग्र०, अग २२) 'बिन ही हाथ सुमेर हि तोल' (सु० ग्रं०, अंग २२); सरप∠सर्प (अहकार या संशय) 'मेंढुक सरप रहैं एक संगै' (क० बी०, शब्द ५२), 'सरप मरै बावी उठि नाचै' (गो० बा०, ग्यान तिलक-४)

आत्मा—अंगार 'बवरिण बवनी रहि गई बुझि गए अंगार' (क० ग्रं०, (काल की अंग), साखी २१), खूंटा (आत्म-तन्त्र) 'तिहि वेन थैं इच्छया पूगी पाकड़ि खूंटै बावी' (क० ग्र०, पद १५२); जीवता 'जीवता कै तनि मूंवा बिछायवा' (गो० बा०, सबदी १६४), जेठी धीय 'जेठी धीय सासुरे पठवौं ज्यूं बहुरि न आवै फेरी' (क० ग्रं०, पद २२), पहरू—पहरेदार (साक्षी) 'सहर जरै पहरू सुख सोवै' (क० बी०, शब्द ५८); बुंद7बिन्दु=अंग 'बुंदहि मांहि समुद समानौं' (सु० ग्रं०, अग २२), राजा 'सुन्दर राजहि कियौ जुहार' (सु० ग्रं०, अग २२, सवैया २६); लुहार (आत्मतत्त्व-प्राण) 'अहरणि रह्या ठमूकडा, जब उठि चले लुहार' (क० ग्र० (काल की अग), साखी २१); साह 'साह को रक्षा करने लागौ चोर' (सु० ग्रं०, अंग २२); हंस 'सूखै सरवर उड़ि गए हसा' (क० ग्रं०, पद ३६७), हंसिणी, हंसीन 'हंसन का इक देस जहां हंसनी बियानी' (तु० शब्दा० (पहला भाग) पृ० २६); अर्जुन, अजनी, खग, बाँझ, बादशाह, प्रजापति, सती, सुन्दरी आदि (देखिए, हि० का० में नि० सं०, परिशिष्ट १)।

इच्छा-कामना-मनसा—कोयल (मनसा, सत्त्ववृत्ति) 'चलि रे अविला कोयल गोरी (गो० बा०, पद ५६); खाट (सत्त्ववृत्ति) 'सोवनिहार के ऊपर खाटा' (क० बी०, रमैनी ७३); गायत्री 'इच्छा रूपि नारि अवतरी, तास नाम गाइत्री धरी' (वही, रमैनी २); घटा (कामना-भावना) 'उनयौ मेघ घटा चहुँ दिस तें' (सु० ग्र०, अग २२); चील्ह (कामना-बहिर्वृत्ति) 'मास पसारि चील्ह रखवारी' (क० ग्रं०, पद ८०); छेरी (इच्छा-कामना) 'छेरी बाघर ग्याया', छेरी बाघहि ब्याह होत है मंगल गावहि गाई (क० बी०, शब्द ५२, ५५), जोरू (इच्छा-बहिर्वृत्ति) 'पसम पर्यो जोरू के पीछे कह्यो न मानै सौंडी राँड' (सु० ग्रं०, अग २२, सवैया २७); 'डाइनि (कामना)' 'जरप चढ़्यो डाइनि कै ऊपरि नीठि' (सु० ग्रं० अग २२, सवैया ८); धोबिन (इच्छा) 'कहै धोबिन कै मासा'

(प० बा० (भाग तीसरा) पृ० ६५), **नाइकनी** (मनसा) 'नाइकनी पुनि हरपत डोलै' (सु० ग्र०, अग २२), **नदी** (इच्छा-प्रवाह) 'वहती नदी भाव भरि माझी, सूरजि देषि पछांही' (गो० वा०, ग्यानतिलक-२६), **नारी** (इच्छा-कामना) 'पाँच ढोटा एक नारी' (क० वी०, शब्द ३), 'चचल पुरिप विचषन नारी' (क० ग्र०, पद ८०); **बकरी** 'बकरी विघार खायौ' (क० ग०, पद १६०), **बीजली**∠विद्युत (उग्र कामना) 'कासा पर्यौ बीजली ऊपर' (सु०ग्र०, अग २२); **भूष** (इच्छा-वृत्ति) 'तो हू भूष न भागी तेरी तूँ गिलि वैठी सारी माड' (सु०ग्र०, अग २२), **मछरी** (मनसा-प्रवुद्ध वृत्ति) 'मछरी अग्नि माँहि सुख पायौ' (सु०ग्र०, अग २२); **मांखी** (अहवृत्ति) 'उड़ि माखी तरिवर ते लागी, बोलै एकै वानी' (क०बी०, शब्द १), **माषी** (इच्छा-कामना) 'मकडी घरि मोषी छछिहारी' (क०ग्र०, पद ८०), **मीन** (सत्त्ववृत्ति) 'रजसि मीन देखि वहु पानी' (क०ग्र०, पद ८६) तरग, सक्ती, डीवी, जोगिनी, मालिन, कलाली, मजारी, बगुली, चोट्टी' आदि (देखिए, हि० का० मे नि० स०, परिशिष्ट १)।

काल—'स्यंघ∠सिंह 'स्यंघ रहै वन घेरे' (क०ग्र०, पद ६) (यहाँ 'बन' का अर्थ ससार लिया जाय, तब 'सिंह' का अर्थ काल होगा और यदि वन का अर्थ शरीर लिया जाय, तो सिंह का अर्थ बहिर्मुखी प्रवल 'मन' होगा।); 'निति उठि स्याल स्यघ सू झूझै' (क० ग्र०, पद ८०) (यहाँ 'स्यंघ' का अर्थ काल-तत्त्व से है।)

कुण्डलिनी—**उलटी-गंग** (ऊर्ध्वमुखी कुडलिनी, अन्तर्मुखी वृत्ति) 'उलटी-गग समुद्रहि सोखै' (क०वी, शब्द २; क०ग्र०, पद १६२), **गंग, गंगा** 'चाँद और सुरज बिच गग धाई' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ७); 'पाताल की गगा ब्रह्माड चढाइबा' (गो० बा०, सवदी २), **गंडरी** (मेढकी) 'कहै कवीर सुनहु रे सतो गडरी परबत खावा' (क० ग्र०, पद १२), **धरणि, धरती** 'धरती बरसै अबर भीजै', 'कहै कवीर ते बिरला जोगी, धरणि महारस-चाष्या' (क०ग्र०, पद १६२), **पषि**∠**पखि**∠**पक्षिणी** 'पषि उडाणी गगन कू' (वही, परचा को अग, साखी २०), **पनिहारि, पनिहारी,** पणिहारी 'आकासै मुखि औधा कुवा, पाताले पनिहारि' (क०ग्र०, (परचा को अग), साखी ४५), 'अवधू गागर कधै पाणी-हारी'; 'तलि गागरि ऊपर पनिहारी' (गो०बा०, पद २५, ४७), **बस्ती** (वशवर्ती कुडलिनी) 'जंगल मे वस्ती व्याई' (सा० ब० छ० ब०, (दूसरा भाग), पृ० ४५३), **भुवंगम**∠**भुजगी** (कुटिलागी कुडलिनी) 'ऐसा भुवगम जोगी करै। धरती सोषै अबर भरै' (गो० बानी, आत्मबोध ३); **मछरी, मछली, मंछा** (कुडलिनी, वृत्ति) 'गगा पाछे को वही मछरी चढी पहार' (प०बा० (पहला भाग) पृ० ७४), 'द्वारे डगर फाडि फाटक को मछरी पकरि धरै' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ११२), 'जल की मछली तरुवर ब्याई' (क०ग्र०, पद ११), 'मंछा वसे पहाड़ी' (वही, पद १०), **लेज**∠**लेजु**∠**रज्जु** 'ऊपरि नीर लेज तलिहारी' (वही, पद १४०), **सांपिनी** (सुषुप्त-कुडलिनी) 'पियत इक सांपिनी धार धारा' (प०वा० (दूसरा भाग), पृ० २६); **सुरही** (सुपुम्ना) 'ज्यूँ ज्यूँ भुयगम आवै जाइ, सुरही घरि नही गरड रहाइ' (गो० बा०, सवदी १८८); **हौंमा पंछी** (स्वर्ग की एक चिड़िया का नाम, आकाश मे रहने वाला पक्षी विशेष) 'लखि अकास इक हौमा पछी, रहत गगन के माँही जी'

(तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १००); भुजंगी, ईश्वरी, अरुधन्ती, शक्ति आदि देखिए—

'कुटिलांगी कुडलिनी भुजगी शक्तिरीश्वरी।
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचका: ॥' (ह०प्र० ३।१०४)

गन्तव्य—नगरि∠नगर 'ऊघट चले सु नगरि पहूँते, वाट चले ते लूटे।' (क०ग्रं०, पद १७५); वेगमपुर 'वेगमपुर तहाँ गम नही, लह सतगुर तें भेव।' (नि० सं०, संत सेवादास जी की बानी, पृ० १८३)

गुरु—घोवी (दोष-प्रक्षालन करने वाला) 'घोवी को नहिं देइ घरहिं मे आप छुड़ावै' (प०बा० (पहला भाग), पृ० ८०); पारथि∠पार्थ 'पारथि वाना मेलै' (क०बी०, शब्द ५२); वढ़ई 'वढ़ई चरपा भल्यौ संवार्‌यौ' (सु० ग्रं०, अग २२); रँगरेज 'ऐरी रँगरेज मिले कोइ चतुर रँगइया' (तु० शब्दा० (भाग दूसरा), पृ० २६८); सिकलीगर, साहु, सुनार, चंदन, चिंतामणि, पारस, वैद्य, भृङ्गी' आदि (देखिए, हि० का० में नि० सं०, परिशिष्ट १)।

चित्त और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ—कागा∠काक (कुटिल चित्त प्रधान) जीव 'कागा कापर घोवन लागे' (क० बी०, शब्द ५५); चकवा (प्रबुद्ध चित्त) 'चकवा वैसि अंगारे निगलै' (क० ग्रं०, पद १२; क० बी०, शब्द १०१; तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३५); चरखा, चरपा∠चक्र (फिरने वाला चित्त) 'वढ़ई चरपा भलौ सवार्‌यौं' (सु० ग्र०, अं० २२); चात्रिग∠चातक अथवा चित्रा नक्षत्र (एकाग्र चित्त) 'चात्रिग मैं चौमासा बोल्यै' (गो० बा०, ग्यानतिलक १७); चीता 'हरिन खायो चीता' (क० ग्र०, पद १६०), क० बी०, शब्द १११); चूल्ह, चूल्हा (उद्दीप्त चित्त) 'मछरी चढ़ी पहार चूल्ह में फन्दा लावा' (प० बा० (पहला भाग), पृ० ७४, ८४), 'मगरी परि चूल्हा घूवाइ' (गो० बा०, पद ४७, सु० ग्रं०, अंग २२); पत्र (सत्त्वगुण-प्रधान चित्त) 'पत्र माँहि झोली गहि रापै' (सु० ग्र०, अंग २२); माँखी (मलिन चित्त-वृत्ति) 'माँखी मूँड मुडावन लागै' (क० बी०, शब्द ५५); शिष्य (सत्त्वगुण-प्रधान चित्त) 'शिष्य गुरहि उपदेशन लागो' (सु० ग्र०, अग २२); हाली∠हल (साधक का चित्त) 'हाली भीतरि पेंत निदाणो' (गो० बा०, ग्यान-तिलक १६), 'हाली मांहे निपज्यो पेत' (सु० ग्रं०, अग २२); हींग 'हींग लगाइस भात मे भूल गई है नार' (प० बा० (पहला भाग), पृ० १०५)। 'चिड़ा, चोर, चकरी' आदि (देखिये, हि० का० में नि० सं०, परिशिष्ट १)।

जीवात्मा और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ—अवला 'मैं अवला तिरि-न सकूँ गहूँ किस विधि तीर '(नि० सं०, संत तुरसीदास की वानी, पृ० १५३); कउवा, (चेष्टावान् जीव), काक, कागा, 'कउवा की डाली पीपल्ल वासै' (गो० वा०, पद ४७), 'अमाजैंमी रोटली कागा लै जाइला' (वही, पद ३४), 'काक कवीस्वर विप्र जेते ते सब दौरि ग-र्हि जांहि' (सु० ग्रं०, (अग २२), सवैया ३०); कानो 'यह अचरज हम देखिया कानी काजर देइ' (प० बा० (पहला भाग), पृ० १०७); कामिनि 'कामिनि जलै अंगीठी तापै'

गो० बा०, पद ४७); षसम (ब्रह्म-स्वभाव का जीव) 'षसम पर्यौ जोरू कै पीछे कह्यौं न मानै भौडी राड' (सु० ग्र, अग २२, सवैया २७); चेला (सत्त्वगुण-प्रधान जीव) 'चेला के गुर लागै पाइ' (क० ग्र०, पद ११), जुलाहा 'जग जीतै जाइ जुलाहा' (क० ग्रं०, पद १६३; क़० बी०, रमैनी २८), तमोलिन विटिया (विचारवान् जीवात्मा) 'बैठी तमोलिन विटिया हो, कतरै बँगला पान (प० बा०(तीसरा भाग), पृ० ६८) दुलहा, दुलहिनि, 'मौर के माथे दुलहा कीन्हौ' (क० बी०, शब्द २५); 'दुलहिनि सजी बरात लै सुरति सेहरा बाँधि' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ११२); देव (चेतन) 'देव चढ्यौ पाती के ऊपर' (सु० ग्र ०, अग २२), धी (प्रबुद्ध जीवात्मा) 'माइ बाप तजि धी उमदानी' (वही, अग २२); धुबिया (रजक, रजोगुण प्रधान जीव) 'धुबिया रहै पियासा जल बिच' (प०बा०(तीसरा भाग), पृ० ३५); (पहला भाग पृ०३), नलिनी 'काहे री नलिनी तू कुमिलानी' (क०ग्र०, पद ६४); नाहर (प्रबुद्ध चेतना) 'गाय तौ नाहर खायो' (क० बी० शब्द ११२); पनिहारी (प्रयत्नशील जीवात्मा) 'ऊपर नीर लेज तलिहारी, कैसे नीर भरै पनिहारी' (क० ग्र०, पद १४०), पिता (जीव) 'मात पिता दोउ जने पूत ने बैठ खटोली' (सा० ब० छ० व०, (दूसरा भाग), पृ० ४५५); पुत, पुत्र, पूत (अविचारी जीव) 'माय घरै पुत धियसग जाई (क० बी०, शब्द १००), 'पुत्र भइल महँतारी' (क० बी०, शब्द ६), पूत (ब्रह्मांश, प्रबुद्ध जीव) 'पहले पूत पीछै भई माइ' (क० ग्र०, पद ११), 'हमहिं बाप हरिपूत हमारा' (क० बी०, शब्द १००), पौवणहारा=पकाने वाला (कर्म करने वाला जीव) 'पोवणहारा कौ रोरी खाइ' (गो०बा०, पद ४७), फुलवा 'फुलवा भार न ले सकै, कहै सखिन सौ रोय' (क० बी०, रमैनी १५), फूहरि (भूली जीवात्मा) 'लहँगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै, (प० बा०, (पहला भाग), पृ० ८०); बच्छा, बछरुआ 'बच्छा वड़ा अयान जान रहै ताकी लारा' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३४), 'गैया पियै बछरुवहिं दुहिया' (क० बी०, शब्द-३१); बटाऊ 'हारी बाट बटाऊ जीत्या' (क० ग्र०, पद १७६), बनकि=वणिक 'बनकि भुलइया चरवुर फेरे' (क० बी०, शब्द ५५), बहनोई (मायाबद्ध जीव, जिसका परिणय माया से हो गया है और माया तथा ईश्वर का अस्तित्व साथ-साथ होता है अतः भेद-बुद्धि के कारण, ब्रह्म स्वरूप जीव) 'हम बहनोई राम मोर सारा' (क० बी०, शब्द १००); बाघ 'छेरी बाघहिं ब्याह होत है' (वही, शब्द ५५), बाप (ईश्वर अस जीव अविनासी) बिस्वा∠वेश्या 'बिस्वा किये सिंगार है बैठी बीच बजार' (प० बा० (पहला भाग), पृ० १७), 'एकअचम्भा देखिया बिटिया जाये बाप' (क० ग्र०, पद १३); बेटी 'बेटी अपनी मा गहि षाई' (सु० ग्र०, अग २२); बैल, काला बैल (भारवाही जीवात्मा) 'बैल उलटि नाइक को लाधौ (वही, अग २२), (तमोगुण प्रधान जीव) 'जुग-जुग देखौ खेत मे काला बैल जुताय' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३४), भौंरा∠भ्रमर (चचल जीवात्मा) मारौ स्रमणी जगाईल्यौ भौरा' (गो० बा०, पद ४५); मराल (जीव) 'ता सुत भयौ मराल काग की बोलै बानी' (तु० शब्दा० (पहला भाग) पृ० २६), मालनि (विचारवान् जीवात्मा) 'मालनि मन मे हरिष न माइ' (गो० बा०, पद २०), मुसाफिर 'पानी का को देइ प्यास से मुवा मुसाफिर' (प० बा० (पहला भाग), पृ० ८०); मंजार∠मार्जार (निर्भय जीवात्मा) 'मूसै तो मजार खायौ' (क० बी०, शब्द ११), रढिया (प्रबुद्ध जीवात्मा) 'एक जु रढिया रढती आई। बहू ब्याई सासू जाई' (गो० बा०, पद ४७); राजा (रजोगुण-

प्रधान जीवात्मा, अमित जीव) 'राजा फिरै विपति कौ मार्‌यौ घर घर टुकरा मागै भीष' (सु०ग्रं० (अग २२), सवैया २५), रंक 'राजा (मन) करै रक की सेत्र' (वही, अंग २२); रांड (भूली जीवात्मा 'खसम निपैंतौ आंगणि सूतो रांड न देई भेव' (क० ग्र०, पद ८१) लाकड़ (माया से प्रभावित जीव) 'लाकड़ डूवै सिल तिरै' (गो० वा०, पद २०); समधी (चेतन) 'मँडवक चारन समधी दीन्हौं' (क० वी०, शब्द २५), ससा (प्रवुद्ध जीव) ससा सर मारै' (क० ग्रं०, पद १६१), (वद्धजीव) 'ससा वसै जलमाही' (वही, पद १७६), सारस, सारिक, शुक, कोकिल, हंस आदि (देखिए, सु० ग्र० (अग २२), सवैया ३०), सिंघ 'हस्ती सिंघहि खाय' (क० वी०, रमैनी ७३ तथा शब्द २, २३); सुवटा 'सुवटा डरपत रहु मेरे भाई (क० ग्र०, पद ६७); सुसिल्यो∠शशक (गो० वा०, पद २०), सुहागिनि 'विरली सुहागिनि कंत पियारा' (क० ग्र०, पद ३७१); सूवा 'पढ्या गुण्या सूवा विलाई पाया' (गो० वा०, सवदी, १६६) 'सोवनिहार 'सोवनिहार के ऊपर खाटा' (क० वी०, रमैनी ७३), स्याल (प्रवुद्ध तथा भीरु जीवात्मा) 'नित उठि स्याल स्यघ सू झूझै (क० ग्र० पद ८०, १६० तथा ३४६), हंस, हंसा, हंसिणी 'हस चढ्यौ ब्रह्मा के ऊपर' (सु० ग्र०, अग २२) हसा (क० ग्र० (परचा कौ अग), साखी ४५), हसिणी 'सरवर तटि हसणीं तिसाई' (क० ग्र०, पद २६८)।

मरजीवा— मड़ा∠मृतक 'एक अचमा देखिया, मड़ा काल कौ खाइ' (क० ग्र० (जीव मृतक कौ अग), साखी ४); मरजीवा (जीवन्मुक्त) 'मरजीवा ह्वै जाय लाल को तुरत निकारै' (प० वा० (भाग पहला), पृ० ५३), मुक्ता 'त्रिभुवन मुकता डोलै' (क० वी०, शब्द २३); मृतक 'मृतक पसू सूद्र कू उचरै' (गो० वा०, पद ५६ तथा सु० ग्र० अग २२); हंसा 'ताकापाणी को हंसा पीवै, विरला आदि विचारि' (क० ग्रं० (परचा कौ अग), साखी ४५)।

ज्ञान—अगनि∠अग्नि 'अगनि जु लागी नीर मे कदू जलिया झारि' (क०ग्र० (ग्यान विरह कौ अग), साखी ५), 'पाणी मे अगनि जरै' (वही, पद १६० १६१), 'पानी जरै पुकारै निश दिन ताकौं अग्नि वुझावै आइ' (सु० ग्रं० (अग २२) सवैया २६); अहेरा 'संतनि एक अहेरा लावा' (क० ग्र०, पद ३५३), कांसा (ज्ञान-गाम्भीर्य) 'कासा पर्‌यो वीजली ऊपर' (सु० ग्रं०, अंग २२); केवट 'माँझ न मरै केवट रहै तीर' (क० वी०, शब्द ५१), पिचडी7खिचड़ी (पवित्रता-रूप जल, विवेक-रूप चावल तथा वैराग्य-रूप मूंग) 'पचड़ी मांहे हडिया राधी' (सु० ग्र०, अग २२), गरुड (ज्ञान-गति) 'गरुड़ चट्‌यौ पुनि हरि (सत्त्वगुण) की पीठि' (वही, अग २२); घीव∠घृत 'पानी मथि करि घीव निकार्‌यौ' (वही, अंग २२), चोर (आत्म-ज्ञान, जो अब तक छिपा पड़ा था) 'दूकिलै कूकर भूकिलै चोर' (गो० वा०, पद ४७); (नाम स्मरण, 'नारायणो नाम नराणा प्रसिद्ध चोर: कथितः पृथिव्याम्') 'साह की रक्षा करनै लागी चोर' (सु० ग्र० (अंग २२), सवैया २४); ज्वाला 'जल मे पैसि जगावै ज्वाला' (नि०मं०, तुरसीदास जी की वानी, पृ० १४४); तवा (तत्त्व ज्ञान) 'रोटी ऊपर तवा चढ़ाई' (सु० ग्रं०, अग २२); तिल (सूक्ष्म ज्ञान) 'तिल में मेर समाना' (क०ग्रं०, पद १७४; दिवस 'रजनी मांहि दिवस हम देख्यौं' (सु०ग्रं०, अंग २२); दीपक 'दीपक वालि उजाला कीया' (गो० वा०, पद ५६);

'दीपक जरै जरै नहिं बाति' (सु०ग्रं०, अग २२), (प० बा० (भाग पहला,) पृ० ७५); **धूप** (ब्रह्म-ज्ञान) 'सुन्दर धूप माँहि सीतलता' (सु० ग्र०, अग २२), **पावक** 'पावक-माहि पुहुप प्रकास' (क०ग्र०, पद ३२९), **पाँच भुजग** (ज्ञान के पाँच पहलू-ज्ञान, विवेक, वैराग्य, शम, दम) 'एक ही दादुल खायौ पाँचहू भुवगा' (क०बी०, शब्द १११), **पीपल** (ब्रह्म-ज्ञान) 'कउवा की डाली पीपल वासै' (गो०बा०, पद ४७); **पुत्र-पूत** 'माता (विद्या) पुत्र वियाही' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३६), 'बाझ का पूत बाप विन जाया' (क० ग्र०, पद १५८), **फुलवा** 'फुलवा के छुवत भवँर मरिजाय' (क० बी०, शब्द ३६), **बछड़ा∠वत्स** (ब्रह्मानुभव) 'बाघौ बाघौ बछरा पीश्रो पीर' (गो०बा०, पद ५१), **बढ़इया, बढ़ई** (विवेक, गुरु) 'सब जग ही मर जाइयो एक बडइया जिनि मरै' (क०ग्र०, पद १३), 'बढई चरषा भलौ सवार्‌यौ' (सु० ग्र०, अग २२); **बाघला∠**'बाघ गावड़ी के मुष मे बाघला विवाइला (गो० बा०, पद ३४), **बाप-पिता** 'धी घर व्याह बाप ने कीन्हा' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३६), 'पिता बिना मूवा छोरू लो' (गो० बा०, पद २१), **बालूड़ा∠बालक** 'बाझ केरा बालूडा' (गो०बा०, पद १८), **बेटा** 'बाझ का बेटा' 'बाझै बेटा जनमियू नेगे पुरिषन दीठौ' (वही, पद २०), 'राज करै बाझ कै बेटा' (नि०स०, सत सेवादास जी की बानी, पृ० १९५), **बैसंदर∠वैश्वानर** (ब्रह्माग्नि) 'बिचि बैसदर थरहर कापे' (गो० बा०, पद ४७), 'बैसदर लै सीचे' (क० ग्र०, पद १७६), **भाई** (बुद्धि का भाई ज्ञान), 'भाई परौ भलौ हितकारी सब कुटम्ब कौ कियौ नास' (सु० ग्र०, अग २२); **माषण∠माखन∠मक्खन∠ग्रक्षरण)** 'छाछि छाणि पिडता पीवी सिघा माषण पाया' (गो०बा०, सबदी १९६); **मतीरा∠तर्बूज** 'गङ्गा तीर मतीरा श्रवधू फिरि फिरि बणिजा कीजै' (गो० बा०, पद १०), **मनिक∠माणिक्य** 'मानिक पाया फैरि लुकाया' (गो०बा०, सबदी १२), **मोती** 'जेहि सरवर बिच मोतिया चुगत होते, बहु विधि केरि कराय' (क०बी०, शब्द ३३), **लड़िका** 'लड़िका चूल्हे मे लुका ढूंढत फिरै पहार' (प० बा० (पहला भाग), पृ० ८४), **लौंन∠लवण** 'मीठौ लाग्यौ एक वह लौंन' (सु०ग्र०, अग २२), **सपेदी** (सात्विकता) 'जाड़न मरै सपेदी सौरी' (क०बी०, रमैनी ७३), **सिंघ∠सिंह** 'एक अचम्भा देखा रे भाई, ठाढा सिंघ चरावै गाई' (क० ग्र०, पद ११) **सूर** 'पानी माँहि ते उपज्यौ सूर' (सु० ग्र०, श्रंग २२), **सूल∠शूल** 'सूलै काटा भागा' (गो० बा०, पद २०), **सोना∠स्वर्ण** (ज्ञान जप-स्मरण) 'सोना तावै पकरि सुनार' (सु० ग्र०, अग २२), **हीरा** 'तौ हीरै हीरा कैसे वैधै' (क०ग्र०, पद २०२), तत्त, उजास, चन्द्रमा, सूरज आदि (देखिए, हि० का० मे नि० स०, परिशिष्ट १)।

त्रिकूटी—अम्बर (ब्रह्मरन्ध्र) 'धरती सोषै अम्बर भरै' (गो० बा०, आत्मबोध ३); **उलटा कूवा** (त्रिकुटी स्थान, ब्रह्म रन्ध्र, हसकूप) 'उलटा कूवा गगन मे तिस मे जरै चिराग' (प० बा० (पहला भाग), पृ० ७०), **कँवलकूप** (ब्रह्मरन्ध्र) (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १००); **कुइयाँ** 'हमारे देसवा उरध मुख कुइयाँ' (वही, पृ० १३४); **त्रिवेणी∠तिरवैनी** 'जोगी अजपा जपै तिरवैणी के घाटी' (गो० बा०, पद २४; प० बा० (भाग २), पृ० ७८) **गगनमण्डल** 'गगनमण्डल मे गाय बियाई कागद दही जमाया' (गो० बा०, सबदी १९६); **त्रिस्थान** 'त्रिस्थान अन्तर मृगछाला' (क० ग्र०, पद १५३); **पौलि, सिंघ पौरि,**

सिंह द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) 'सुसिल्याँ पीली न भाई' (गो० बा०, पद २०); 'सिव पीलि के पार झार नित उठि उठि आवै' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३०); लोह 'ताते लोहैं सोषिया पाँणी' (गो० बा०, सब्दी १०५); सुनिद्वार∠शून्यद्वार 'गगन मंडल मे सुनिद्वार' (वही, सबदी १७६)।

द्विविधा-दुर्मति—नँनद (दुर्मति) 'सासु नँनद मिलि अदल चलाई' (क० बी०, शब्द १००); नंनद-भउजि 'नँनद भउजि परिपच रचौ है' (क० बी०, शब्द ६); बिल्ली 'बिल्ली घर मे दासी' (क० बी०, शब्द ९); 'बिलइया 'मूसा खेवट नाव बिलइया' (क० ग्र०, पद ८०); मिनकी 'मुर्गा मिनकी मूँ लड़ै' (वही, पद १६१); 'कागली, कुदाली, कुहू, द्रोपदी 'आदि (देखिए, हि० का० मे नि० स०, परिशिष्ट १)।

ध्यान—कमठ दृष्टि 'कमठ द्रष्टि जो लावई सो ध्यानी परमान' (प० बा० (पहला भाग), पृ० ३८); धनकि∠धनुष 'उलटै धनकि पारधी मार्यो' (क० ग्र०, पद १६२); नैन्हों तार (सूक्ष्मध्यान) 'नैन्हों तार न टूटै कबहूँ' (सु० ग्र०, अग २२); बगु = बगुला 'बगु में ताल समाई' (गो० बा०, ग्यान तिलक १६)।

निवृत्ति—रजनी (निवृत्ति अवस्था) 'रजनी माँहि दिवस हम देष्याँ' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया ११); रूई (सात्विक वृत्ति) 'पर्वत उड़ै रूई थिर बैठी' (वही, अग २२, सवैया १०)।

पंच इन्द्रियाँ—कुटुम्ब (इन्द्रिय समुदाय) 'कीयो सब कुटुम्ब संहार' (सु० ग्र०, अग २२); गाइ, गैया, गोरू, 'पंच बरन दस दुहिये गाइ' (क० ग्र०, पद ५३; क० बी०, शब्द ५५) गैया 'गैया पियै बछरावहि दुहिया' (क० बी०, शब्द ३१), गैया (वाणी रूप इन्द्रिय) 'भाईरे गैया एक बिरचि दियौ है, गैया भार अभार भौ भारी' (क० बी०, शब्द २८), 'जाति बिहूँनाँ लाल ग्वालिया अहनिस चारी गोरू लौ' (गो० बा०, पद २१), ढोर (पशु रूप इन्द्रियाँ) 'काढै बणी पुकारै ढोर' (गो० बी०, पद ४७); नौ गाई (पंच इन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहकार रूप अन्तःकरण चतुष्टय) 'सहज गोरपनाथ बणिज कराई, पंच बदल नौ गाई' (गो० बा०, पद १५), पशु 'निर्दय होइ तिरै पशु घातक' (सु० ग्रं०, अंग २२), पंच कटार 'पंच कटार है भीतरि निमम करि बेहाल रै' (गो० बा०, सबदी २३६); पंच पनिहारी 'उघर्यो कूप घाट भयाँ भारी चली निरास पंच पनिहारी' (क० ग्रं०, पद १४०), पंच भवंगा (वही, पद १६०), पंच सखी 'पंच सखी मिलि मगन गावै' (क० ग्रं०, पद ८१, १६३; क० बी०, रमैनी १५), पंच संगाती 'पच सगाती मिलि पेलैं नव पद्दा' (गो० बा, पद ५३); पाँच मृग 'या जगल में पाँचो म्रगा' (क० ग्रं०, पद ३५३); बछरा (आश्रित इन्द्रियाँ) 'बछरा दूहै तीन्यू सांझ' (क० ग्र०, पद ८०, १६१), बरात (इन्द्रिय-समूह) 'भातै उलटि बरातिहि ग्मायो' (क० बी०, शब्द ३५); मृगनि 'मारी बहुरि मृगनि की डार' (सु० ग्र०, अंग २२, सवैया २६); हरनै (मन अथवा इन्द्रियाँ) 'हरनै खायो चीता' (क० बी०, शब्द १११)।

पंच-विकार—(काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर) चेला (विकार) 'सो वह भिक्षा चेलाहि पाह' (सु० ग्र०, अग २२); चोर, पंच चोर 'चोरन पकडा साह-साह ने पहिरी चोनी' (गा० व० छ० व० (दूसरा भाग), पृ० ४५६), 'पच चोर सगी लाइ दिए हैं' (क० ग्र०, पद ३०८) छागर∠छागल (विकार, ग्रहवृत्ति) 'छागर भये किसाने' (क० बी०, शब्द ५५), पहराइत=पहरादेने वाले 'पहराइत घर मुस्यो' (सु० ग्र०, अग २२); पाइक पांच 'पाइक पांच पहरवा राष्या' (नि० स०, हरिदासजी की बानी, पृ० १३१); पंच किसान 'पधू मोर किसाना' (क० ग्र०, पद १४), पंच कुटम्ब 'पच कुटम्ब मिलि झूलन लागे' (वही, पद ६); पंच ग्वालिया 'पच ग्वालियाँ को मारण आई' (गो० बा०, पद ५१), पच जना 'पच जनां मिलि मडप छायो' (क० ग्रं०, पद २३६); पंच ढोटा 'पांच ढोटा एक नारी' (क० बी०, शब्द ३); पच दुहेवा 'एक गाइ नौ बछडा पच दुहेवा जाइ' (गो० बा०, पद २०); पंचनि 'इन पचनि मिलि लूटी हूँ, कुसग आहि बदेगा' (क० ग्र०, पद १४), पंच बलद 'सहज गोरपनाथ वणिज कराई पच बलद नौ गाई' (गो० बा०, पद १५); पंच बाहक 'पच बाहक जब न्यद्रा प्रगट्या पोढ्या पौलि पगार' (गो० बा०, पद १०); पंच भइया 'पंचूं भइया भये सनमुखा तब यहु पान करीला' (क० ग्र०, पद १०६), पंच सुवटा 'पंच सुवटा आइ बैठे उदै भई बनराइ' (वही, पद १६०), बनजारे 'नाइक एक बनजारे पांच' (क०ग्रं०, पद ३८३); बैल पचीस (पच विकारो की पच्चीस प्रकृतियाँ) 'बैल पचीस को सग साथ' (वही, पद ३८३), लरिका, पच लरिका 'ये लरिका पयू जीवें खुराइ' (क० ग्रं०, पद २१), 'पचू लरिका पटिक करि' (वही, गुरु सिप हेरा को अग, साखी ४); सिकार∠शिकार=सावज जगल जगल मे फिरो घर मे रहै सिकार' (प० बा० (पहला भाग), पृ० ३५, सु० ग्र० २२); धौरा-रवावी बैल तथा कोआ, गधा, भैंसा के रूप मे (पच विकार) 'धौल मदलिया बैल-रवाबी, कऊवा ताल बजावै। पहरि चोलना गादह नाचै, भैंसा निरति करावै' (क० ग्र०, पद १२)।

परमात्मा (ईश्वर)—कुल (पूर्ण) 'कुल प्रगट्यो कुल घाल्यो खोइ' (क० ग्र०, पद ३२६), खसम (ब्रह्म)'खसम निपूती आगणि सूतो' (वही, पद ८१), दूलह (जीवात्मा का पति) 'पूरि सुहाग भयो विन दूलह' (वही, पद २२६), नणद का भइया (ईश्वर) 'कातोगी हजरी का सूत नणद के भइया की सो' (क० ग्र०, पद १३); नणद के वीर 'मोहि लै चलि नणद के वीर अपने देसा' (वही, पद १४), निरजन 'अजन अलप निरजन सार' (वही, पद ३३७), परवत∠ पर्वत (ईश्वर-जीव) 'तिहि पानी दुइ परवत बूडे, दरिया लहर समानी' (क० बी०, शब्द १), पिता (ईश्वर) 'पिता के सँगै भई है बावरी, कन्या रहति कुमारी' (वही, शब्द ६); पिया 'सगो भईया लै सलि चढि हूँ तब ह्वै हूँ पियहि पियारी' (क० ग्र०, पद २३०), पुरुष (ईश्वर) 'नारी एक पुरुप दुइ जाया, बूझहु पडित ज्ञानी' (क० बी०, शब्द १), पुरुष (ब्रह्म) 'तार्थे भई पुरिषा थे नारी' (क० ग्र०, पद २३१), भरतार 'सतगुरु गुरू बताइया, पूरिवला भरतार' (क० ग्र०, पीव पिछाण की अग, साखी ३); मादरिया∠मदारी, मादरिया ग्रिह=मदारी का गृह अर्थात् हृदय अथवा ससार 'मादरिया ग्रिह बैठी जाई' (क० बी०, शब्द १००); मांखा (पति-ईश्वर) 'बहि माखी (वृत्ति) के माँखा नाही, गरभ रहा बिन पानी' (क० बी०, शब्द १), मूल

(आदिपुरुष-परमात्मा) 'मूल गह्याँ फल पावा' (क० ग्रं०, पद १६२); ससुर (ईश्वर) 'सासु की दुखी ससुर की प्यारी' (वही, पद २३०)।

प्रकृति—पाती (प्रपंच) 'देव चढ़्यौ पाती के ऊपर जरप चढ़्यौ डाडनि परि नीठि' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ८); 'भूली मालिनि पाती तोड़ै' (क० ग्रं०, पद १९८)।

प्रवृत्ति—दिवस (कार्यशीलता, रजोगुण) 'दिवस माँहि हम देषी राति' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ११); जरनि (त्रय ताप) 'कबहूँ जरनि फेरि नहिं उपजै सुन्दर सुख मे रहे समाइ' (वही, अंग २२, सवैया २६)।

बहिर्मुखी वृत्ति—जगते=जागरणशील, जगत्-मुख 'जगते ने माल गँवाई' (सा० व० छ० वं० (दूसरा भाग), पृ० ८५७); बिलैया (अविचारी की बहिर्मुखी वृत्ति) 'बिलैया स्वान बियाही' (क० बी०, शब्द ५०)।

बुद्धि और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ—कन्या (अपरिपक्व बुद्धि) 'घर घर फिरै कुमारी कन्या जनैं-जनैं सौं करती संग' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया २०); कीरी (सूक्ष्म बुद्धि) 'कुंजर कों कीरी गिलि बैठी' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ३); गाइ 'बैल बियाइ गाइ भई बांझ' (क० ग्रं० ८०, १६० तथा गो० बा०, पद २०); गावडी∠गाइ (सात्विक बुद्धि) 'गावडी के मुष में बाघला बिवाइला' (गो० बा०, पद ३४); च्यंत∠चिन्तामणि (विमल बुद्धि) 'उपजी च्यंत च्यंत मिटि गई' (क० ग्रं०, पद ३२९); चींटी (सूक्ष्म बुद्धि) 'चींटी परवत ऊषण्यां ले राख्यौ चोड़ै' (क० ग्रं०, पद १६१, क० बी०, शब्द ५२,१०१); जोरू 'जोरू बड़ी बिचार चार से लखै न पारी' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३५); धी (ज्ञान जन्य बुद्धि) 'पर धी कों राषे घर माहिं' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया १८; तु० शब्दा (पहला भाग); पृ० १३६), 'धीय (असद्‌बुद्धि) 'माय धरै पुत धिय संग जाई' (क० बी०, शब्द १००); पतिवरता∠पतिव्रता (एकनिष्ठ बुद्धि), बेस्या∠वेश्या (भटकने वाली बुद्धि) 'बेस्या नु तो भई पतिवरता एक पुरुष कै लागी अंग' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया २०); पपीलिका, पपील∠पिपीलिका (सूक्ष्म बुद्धि) 'पाव न टिकै पपीलका नांगन लावे बैल' (क० ग्रं०, सूषिम मारग को अंग, साखी ७), 'पपील नैं पील गिरावा' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३५); बटेर=छोटी चिड़िया (सूक्ष्म बुद्धि) 'बटेर बाज जीता' (क० ग्रं०, पद १६०), बहिनी∠भगिनी=बहिन (बहन करने वाली बुद्धि) 'भैया भाव ब्याह बहिनी संग' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३६); बहू∠वधू (एकनिष्ठ बुद्धि) 'बहू बिचारी वड वपनावरि जाके कहे चलत है सास' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया १७); बंध्या, बांझ (निष्क्रिय बुद्धि) 'बंध्या पुत्र पंगु हकु जायो' (वही, अंग २२, सवैया ६); 'बांझ का पूत बाप बिन जाया' (क० ग्रं०, पद १५८, गो० बा०, पद १८); भंवरी∠भ्रमरी 'भवरी बोलै अति उदास' (क० ग्रं०, पद ३८८); भैंसि∠भैंस (तामसिक बुद्धि) 'दीन्हीं दूझै भैंसि बिरोलैं' (गो० बा०, पद ६०); मछलड़ी∠मछली (चैतन्यवृत्ति) 'गगन मछलड़ी बगरो राख्यो (वही, पद ६०); मालिनि 'भूली मालिनि

पाती तोटे' (क० ग्र०, पद १६८); मीन मीन मगर झगडा कही तुलसी तरक उपाध। मगर ग्रव माने नही मीन वचन विख्यात' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १०६), लकरी (नय अथवा शुष्क-निष्क्रिय बुद्धि) 'लकरी वढई को गहि छीले' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया ६); राई (सूक्ष्म बुद्धि)'राई माहि समानो मेर' (वही, अग २२, सवैया ४), समधी (समत्वबुद्धि, समत्व बुद्धि वाला) 'समधी के संग नाही आई, सहज भई घरवारी' (क० बी०, शब्द ६), 'भयो वियाह चली विनु दूलह बाट जात समधी समुझाई' (वही, शब्द ५४); सूई∠सूचिका 'गुरु प्रसादि सूई के नाके हस्ती आवै जाही' (क० ग्र०, पद १०)।

ब्रह्म, ब्रह्म-तत्त्व, ब्रह्म—अग्नि मथन (ब्रह्म विचार) 'अग्नि मथन करि लकरी काटी' (सु० ग्रं०, अग २२, सवैया १४); अंगीठी (ब्रह्माग्नि) 'वाफ न निकसै बूंद न ढलवै, सहज अगीठी भरि भरि राखै' (गो० बा०, ग्यान तिलक ४६); आकास की धेनु (ब्रह्मानुभूति, समाधी जन्य अनुभूति) 'आकास की धेनु बछा जाया' (गो० बा०, पद ५१), कुंभार (ब्रह्मा) 'वहु विधि भाडे घडै कुंभार' (क० ग्र०, पद ५३, १०५); कांमध्येनि∠कामधेनु=(ब्रह्मानुभूति) 'एक कामध्येनि वारि सिधि के गगन सिपर लै बांधी' (गो० बा०, सवदी २०७), खसम (ब्रह्म) 'खसम निपूती आंगणि सूतो' (क० ग्र०, पद ८१); घाट (आध्यात्मिक जीवन) 'सोवै टुकरिया ठोरे घाट' (गो० बा०, पद ४७); गगन-गाइ (ब्रह्मानुभूति, समाधि) 'गोरष लो गोपाल लो गगन गाइ दुहि पीवै लो' (गो० बा०, पद २१), गाय 'गगन मंडल मे गाइ वियाई' (वही, सवदी १६६); गावत्री∠गायत्री (ब्रह्मानुभूति) 'ऐसी गावत्री घर वारि हमारै, गगन मडल मे लावी लो' (गो० बानी, पद २१); जल (ब्रह्मतत्त्व) 'फूटा कुभ जल जलहि माना' (क० ग्र०, पद ४४, ११२), 'मारी मारी स्रपनी निरमल जल पैठी' (गो० बा०, पद ४५ तथा प० वा० (भाग तीसरा), पृ० ६५), दूध 'पच वरन दस दुहिए गाइ, एक दूध देखौ पतिया' (क० ग्र०, पद ५३), पानी 'पानी माँहि तुविका बूडी' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया ४); पानी (प्रेम तत्त्व) 'कमल माहि ते पानी उपज्यो' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया ७), वरी=वट वृक्ष (ब्रह्म ज्ञान) 'सौदा कियो पुनि घर को लेपा कियो वरीतर बैठि' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया २३), बहू, बहुड़ी (ब्रह्मानुभूति) 'वहू विवाई सासू जाई' (गो० बा०, पद ४७), 'सासूडी पालनडै वहुडी हिंडोलै' (वही, पद ६०), बाप 'हमहि वाप हरि पूत हमारा' (क० वी०, शब्द १००), भिक्षा (ब्रह्मज्ञान का सग्रह) 'भिक्षा करै बहुत करि ताको सो वह भिक्षा चेलहि पाइ' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया १५); रोटी∠रोटली 'अभा जैसी रोटली कागा (चेष्टावान् साधक) लै जाइला' (गो० बा०, पद ३४), बिम्ब 'जल मे विम्ब प्रकासै' (क० ग्र०, पद १६२), समुद्र 'बुदहि माहि समुद्र समानौ' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया ४); सास (ब्रह्म सत्ता) 'वहू विवाई सासू जाई' (गो० बा०, पद ४७); सीतलता (ब्रह्मानन्द) 'सूर माहि सीतलता उपजी, सीतलता मे सुख भरपूर' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया ७)।

मन एवं उसकी विभिन्न अवस्थाएँ—अबिला∠आम्र (बहिर्मुखी मन)

'चलि रे अविला कोयल मौरी' (गो० वा०, पद ५६ तथा ६०), ऊँट (अहकारी मन) 'ऊँट प्रनालै वहि गयौ' (वही, पद २०, ४७), कउवा 'कउआ धुन मधुरी बोलै' (सा० व० छं० वं० (दूसरा भाग), पृ० ४५३); कलार (मदिरा बनाने वाला, मन) 'देखौ पूत कलार का मद मैया को देय' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३५), कुत्ता (अविवेकी मन) 'कुत्ता कू लै गई बिलाई' (क० ग्र०, पद ११), 'कुत्ता हांडी फँसि मुवा दोस परोसिक देय' (प० वा० (पहला भाग), पृ० १०३); कुंजर (कामी या अभिमानी मन) 'कुञ्जर कौ कीरी गिलि बैठी, (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ३); कुम्हार 'माटी वपुरी घरै कुम्हार' (वही, सवैया ६), कूकर (द्रोही मन) 'ढूकिलै कूकर भूकिलै चोर' (गो० वा०, पद ४७); कोतवाल 'कोतवाल काठी करि बाध्यौ' (सु० ग्र०, अंग २२, सवैया २४); षूटा-खूटा∠क्षोड (मेख) (कर्मों का केन्द्र रूप मन) 'गाडि पड़रवा लै पूंटा' (गो० वा०, पद ४७); गइन्द∠गजेन्द्र 'खम्भा एक गइन्द दोइ, क्यू करि वंधिसि वारि' (क० ग्र०, चितावणी कौ अंग, साखी ४२), गरड़∠ गरुड 'सुरही घरि नहिं गरड़ रहाइ' (गो० वा०, सवद १८८), गुरु (तामसी-मन) 'शिष्य गुरुहिं उपदेशन लागौ' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ६); गीध∠गृध्र (लोभी मन) 'मासु फैलाय गीध रख-वरिया' (क० बी०, शब्द ६५); चोर (विकारी मन) 'हम घरि चोर पसारा हो राम' (क० ग्र०, पद २०), 'चोर एक मुसै ससारा' (क० बी०, रमैनी ५६), जरष∠जरठ (निष्ठुर अथवा अनुभवी मन) 'जरप चढ्यौ डाइनि परि नीठि' (सु० ग्र०, अंग २२, सवैया ८), जोगी∠योगी (उन्मन) 'फिरै इक जोगी नगर भुलाना, चढिगा महलै महल दिवाना' (प० वा० (तीसरा भाग), पृ० ७२), ठग 'यह ठग ठगत सकल जग डोलै' (क० ग्र०, पद ३६४); दरजी (काट छाट करने वाला अर्थात् विश्लेषक मन) 'सुई विचारी दरजिहि सीवै' (सु०ग्रं०, अंग २२, सवैया ६), दादुरि∠दर्दुर=मेढ़क [(विकारी मन) 'एकनि दादुरि खाये पंच भवंगा' (क० ग्र०, पद १६०), दादर-भरंय∠दर्दुर-वहि=मेढ़क और मयूर 'दादर भरंय झिलारै' (गो० वा०, ग्यान तिलक १७), दुंदुर∠उन्दुर=चूहा (चंचल मन) 'दुदुर राजा टीका बैठे' (क० बी, शब्द ८, गो०वा०, ग्यान तिलक २०); देव (सात्विक मन) 'देव चढयौ पाती के ऊपर' (सु० ग्र०, अंग २२, सवैया ८), धोबी∠ रजक, रजोगुण प्रधान मन) 'कपरा धोबी कौ गहि धोवै' (वही, सवैया ६); नवल∠नकुल (सूक्ष्म वृत्ति वाला मन) 'ऐसा नवल गुणी भया सारदूलहि मारै' (क० ग्र०, पद १६१); नाइक 'नाइक एक बनजारे पाच'(वही, पद ३८२), 'बैल उलटि नाइक कौ लार्यौ (सु०ग्रं०, अंग २२, सवैया २२); नाहर 'गाइ नाहर खायौ काटि काटि अगा' (क० ग्र०, पद १६०); पुरुष, कुबुजा पुरुष 'चचल पुरिष विचषन नारी' (क० ग्रं०, पद ८०), 'कुबुजा पुरुष गले एक लागा' (क० बी०, शब्द ५८); वग∠वक 'वङ्कृतेकुटिली भवति' (वृद्धावस्था का कुटिल मन) 'भंवर उड़े बग बैठे आय' (क० बी, शब्द १०६), बुगुला∠बगुला (विषय प्रवृत्त मन) 'मछरी बुगला कौं गहिपायौ' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ५); बढ़ई (कर्मप्रधान मन) 'लकड़ी बढ़ई कौं गहि छीलै' (सु० ग्रं०, अग २२, सवैया ६), ब्रह्मा (सृष्टि कर्ता मन) 'हंस चढ्यौ ब्रह्मा के ऊपर' (वही, सवैया ८), बाज (गतिशील मन) 'बटेरै बाज जीता' (क० ग्र०, पद १६०), बिगवा=भेड़िया (लालची मन) 'नगर बिच बिगवा गजब करै, सुधि बुधि ज्ञान हरै' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ११२); बिघार∠बाघ 'बकरी

विघार खायी' (क० ग्र०, पद १६०), 'बैल बैल बियाइ गाइ भई बांझ' (क०ग्र०, पद ८०); (सत्त्व पुष्टमन) 'बैल चढ्यौ है शिव के ऊपर' (सु० ग्र०, अंग २२, सवैया ८); भंवर (चचल मन) 'बिन पाषा भवर बिलंबिया' (क० ग्र०, पद१५८, ३८८); 'भँवर उड़े बग बैठे आय' (क० बी०, शब्द १०६); 'फुलवा के छुवत भँवर मरि जाय' (वही, शब्द ६३); भरतार (सात्विक मन) 'नाइकनी पुनि हरषत डोलै मोहि मिल्यौ नीको भरतार' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया २२), भील (विषयो का शिकार करने वाला मन) 'भील लुक्या वन बीझ मे, ससा सर मारैं' (क० ग्र०, पद १६२); मगर 'मगर अघ माने नही मीन वचन विख्यात' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १०६); मंछ, मच्छ∠मत्स्य 'सायर जलै सकल बन दाझै, मछ अहेरा खेलैं' (क० ग्र०, पद ६, १७६), मच्छ सिकारी रमे जगल मँह' (क० बी०, शब्द २३); मींडक∠मेढक∠मण्डूक 'मीडक सोवै साप पहरइया' (क० ग्र०, पद ८०), 'मेडक अब सागर तौले' (सा० ब० छ० व०)दूसरा भाग), पृ० ४५३); मीन (चचल मन) 'वेध्या मीन गगन अस्थान' (गो० वा०, सवदी १२७); मुर्गा 'मुर्गा मिनकी सू लडै' (क० ग्र०, पद १६१); मूसा∠मूषक सगयशील मन) 'मूसै तौ मजार खायौ' (क० बी०, शब्द १११) 'मूसा खेवट नाव बिलइया'(क०ग्र०, पद ८०, तथा १६०, १६१); मृघ∠ (चचल मन) 'मारयौ मृघ भया अवधूता' (गो० वा०, पद २६); मेघ (सत्वशील मन)' उनयौ मेघ घटा चहुँ दिश तें' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया १२); मोर∠मयूर (अन्तर्मुखी मन) 'वरषै मोर कहूकै सावण' (गो० वा०, ग्यान तिलक १६); राजा (रजोगुण प्रधान मन).'राजा करै रक की सेव' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया ६), 'राजा गाव छोडि करि भागौ' (वही, सवैया २४); लगवार, (उपपति रूप मे मन या ससार) 'खसम छाँडि सँवरैं लगवारैं' (क० बी०, रमैनी ७३) प० वा० (पहला भाग), पृ० १०३); लुहार (कर्म प्रधान मन) 'षाल सु बैठी धवै लुहार' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया ६); व्याघ्र, सिंह (बहिर्मुखी प्रबल मनका रूप) 'मार्‍यौ सिंघ व्याघ्र पुनि मार्‍यौ, (वही, सवैया २६); ससा∠शशक (भीरु मन) 'बन कै ससै समद घर कीया' (क० ग्र०, पद २०); सारदूल (प्रवल मन) (क० ग्र०, पद १६१); सिचाण (विषयो की ओर झपटने वाला मन) 'ऊँट सिचाणे जब ग्रह्यौ जाइ केरो डाली बैठौ' (गो० वा०, पद २०); सुनहा∠श्वान 'डाइन डारै सुनहा डारै' (क० ग्र०, पद ६, २०); स्यालि खायौ स्वाना' (वही, पद १६०); स्यघ∠सिंह 'स्यघ रहै वन घेरै' (वही, पद ६, ३४६); सुनार 'सोना तावै पकारि सुनार'(सु०ग्र०, अग २२, सवैया ६); हरिन∠हरिण (चचल मन) 'हरिन खायौ चीता' (क०ग्र०, पद १६०); हस्ती(ससार में व्याप्त मन)'गुर प्रसादि सूई के नाकै हस्ती आवै जाही' (क० ग्र०, पद, १०) । 'रावल, महादेव, पतिंगा, सैतान, काइथ, फटक स्फटिक, बकरी 'आदि (देखिए, हि० का० मे नि० सं०, परिशिष्ट १)।

माया और उसकी विभिन्न दशाएँ—अग्नि (माया जन्य त्रय ताप) 'अगनी को जाड़ा लागा' (सा० ब० छ० व० (दूसरा भाग), पृ० ४५८); कुवारी∠कुमारी (अक्षत कौमार्य वाली मायिक सृष्टि) 'अजहूँ अकन कुवारी' (क०ग्र०, पद २३१), कामधेनु 'अवधू कामधेनु गहि बाधी रे' (वही, पद १५२), गंग (आद्या माया), 'पाहन फोरि गग एक निकसी चहुदिसि पानी पानी' (क०बी०, शब्द १); गैया, गाय 'गुरु महरमी सत बिन जग गैया

चरि जाय' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३४), 'गाय तौ नाहर खायौ' (क०बी०, शब्द, १११), जेवड़ी=रज्जु 'एक जेवड़ी सब लपटाने, के बांधे के छूटे' (क० ग्रं०, पद १७५, ७६), डाइन 'डांइन डारै सुनहां डोरै' (वही, पद ९), डुकरिया 'सोवै डुकरिया ठोरै घाट, (गो० बा०, पद ४७); दूध (माया का प्रभाव) 'ब्रह्मा विस्नु महेस दूध से बचे न भाई' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३४), नणद (मायिक सम्बन्ध) 'नणद सहेली गरब गहेली' (क०ग्र०, पद २३०), नदी (माया का बाह्य प्रभाव) 'बरपै मोर कहूकै सावण, नदी अपूठी आई' (गो०बा०, ग्यान तिलक १६), नानी 'दिवस मे राजनी सजनमे साजनी, दास पलटू की मुई नानी' (प०बा० (दूसरा भाग), पृ० २६); नारी 'एकहि नारी जाल पसारा जग मँह भया अदेसा' (क० बी०, शब्द ५), 'नारि एक ससारहि आई, माय न वाके बापहि जाई' (वही, रमैनी ७२), 'रूप बिन नारी' (क० ग्रं०, पद १५८); पानी, पाणी (माया का प्रभाव) 'पानी महँ पावक बरै' (क०बी०, शब्द १११), 'तुरसी पानी मांही प्रगटी पावक एक प्रचड' (नि० सं०, संत तुरसीदास जी की बानी, पृ० १३५)' 'पानी जरै पुकारै निशदिन' (सु०ग्र०, अग २२, सवैया २६); 'बरिषैगी कवली भीजैगा पाणी' (गो०बा०, पद ४७); बंझा गऊ (अमूर्त्त माया) 'तीन लोक के बीच मे बझा गऊ बियाय' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३४), बाघनि 'बाघनि सगि भई सबहिन कै, खसम न भेद लहाई' (क०ग्र०, पद ८१), बिटिया 'एक अचभा देखिया बिटिया जायौ बाप' (वही, पद १३); बिलाई 'कुत्ता कूँ लै गई बिलाई' (क०ग्र०, पद ११, ९७), पढ्या गुण्या सूबा बिलाई पाया '(गो०बा०, सब्दी ११९), बेलड़ी बेलि 'राम गुन बेलडी रे, अवधू गोरखनाथ जाणी, (क०ग्रं०, पद १६३), 'बेलि एक त्रिभुवन लपटानी' (क०बी०, शब्द ५३); मकड़ी 'मकडी-घरि मापी छछिहारी' (क० ग्र०, पद ८०), महतारी 'संतो अचरज एक भौ नारी, पुत्र धइल महतारी' (क० बी०, शब्द ५), मंजारी 'या मजारी मुगध न माने, सब दुनियां डहकाई' (क० ग्र०, पद ९७, १६०), माई 'पहलै पूत पीछे भई माइ' (वही, पद ११), 'माय घरै पुत धीय सग जाई' (क० बी०, शब्द १००), माइ बाप तजि वी उमदानी' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया १७); माता 'बाप नही होतौ तिह्वा बैठड़े रे, माता बाल कुवारी जी' (गो०बा०, पद ७), रोरी=रोटी (माया, वासना) 'पोवण हारा कौं रोरी खाइ' (वही, पद ४७), लहुरी धीय 'लहुरी धीइ सबै कुल खोयो, तब ढिग बैठन पाई' (क०ग्र०, पद २२), लंका (माया-नगरी) 'लकाछाड़ि पलका जाइबा' (गो०बा०, सबदी ६४); वर्षा 'वर्षा से सूखी साखा' (सा० व० छं० व० (दूसरा भाग), पृ० ४५८); स्रपनीं∠सर्पिणी 'मारौ मारौ स्रपनी निरमल जल पैठी' (गो० बा०, पद ४५); सासु, सासुड़ी 'सासु ननँद मिलि अदल चलाई' (क० बी०, शब्द १००), 'सासूडी पालनड़े बहूड़ी हिंडोलै' (गो०बा०, पद ६०); सुरही 'सुरही चूँपै बछतलि' (क० ग्र०, पद १६१); सुहागिनि 'एक सुहागिन जगत पियारी, सकल जीव जंत की नारी' (वही, पद ३७०)।

मूलाधार चक्र—पताल, पाताल 'साधै तीर पताल कू फिरि गगनहि मारै' (क० ग्र०, पद १५४), 'आकासे मुखि औंधा कुवां पाताले पनिहारि' (वही, परचाकौ अंग, साखी ४५)।

मेरुदंड—अम्बर (मेरुदंड शीर्ष) 'धरती बरसै अंबर भीजै' (क० ग्र०, पद १६२)

पद १६२), **आसमान**, आकाश 'आकासे मुखि ओंधा कुवाँ (क०ग्र०, परचा को अग, साखी ४५), 'फूटिगया आसमान सवद की धमक मे' (प० बा० (दूसरा भाग), पृ० ६१); **आंबलियौ**∠आम्र 'आंबलियौ थलि मौरियौ ऊपरि नीब बिजौरौ फलियौ' (गो०बा०, पद २०), **केले की डाली** 'ऊँट सिचाणे जब गह्यौ जाइ केरी डाली बैठो' (गो०बा०, पद २०), **गगन** (ऊर्ध्व भाग) 'वसै गगन में दुनी न देखै, चेतनि चौकी बैठा' (क०ग्रं०, पद ६६), 'साधै तीर पताल कूं फिरि गगनहिं मारै' (वही, पद १५४ तथा १६६), **डूंगरि**=टीला, पहाड़ी (तुग) 'डूंगरि मछा जलि सुसा' (क०ग्रं०, पद २०); **तरुवर** 'जल की मछली तरुवर ब्याई' (क०ग्र०, पद ११; गो०बा०, पद १८); **धरती** (मूलाधार, मेरुदड का अधो भाग) 'ऐसा भुवगम जोगी करै, धरती सोषै अबर भरे' (गो०बा०, आत्मबोध ३), **परबत**∠पर्वत (ऊपरी भाग) 'कहै कबीर सुनहुँ रे सतो गडरी परवत खावा' (क०ग्रं०, पद १२); **बाँस** 'चढिउँ बाँस पर धाइ सहर के विचै गड़ाई' (प०बा० (पहला भाग), पृ० २६), **बिरछ**∠**वृक्ष** 'सखी री बिरछ पर ताला, जहँ करकै न काला' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३४), 'धरती चढ़ वृक्षा बैठी' (सा० ब० छ० ब० (दूसरा भाग), पृ० ४५३)।

यम—सूद्र∠शूद्र 'मृतक पसू सूद्र कू उचरे' (गो०बा०, पद ५६)।

वासना-विषय—कउआ (विकार) 'कऊवा उड़ावत मेरी बहिया पिरानी' (क० ग्र०, पद ३६१); **गुड़** (विषय) 'माषी गुड़ मे गड़ि रही' (वही, कुसगति को अग, साखी ६); **दूध-दही** (विषय-भोग) 'दूध-दही की इच्छा भागी जाको मथत सकल ससार' (सु० ग्रं०, अग २२, सवैया १४), **बकरी**=अजा (आद्या वासना) 'बकरी बिघार खायौ' (क० ग्र०, पद १६०), **भात** (विषय) 'भातै उलटि बरातहिं खायौ' (क० बी०, शब्द २५), 'हीग लगाइस भात में भूल गई है नार' (प० बा० (पहला भाग), पृ० १०५); **भूंभूरि** (त्रय ताप दायिनी वासना) 'पानी माँहि तलफि गै भूंभुरि' (क० बी०, शब्द ३१), **मछली** (वासना) 'काटी कूटी मछली छींकै धरी चहोड़ि' (क० ग्रं०, मन को अग, साखी २४;) **मांस** (विषय) 'मास पसारि चील्ह रखवारी' (क० ग्र०, पद ८०); **मिठाई** (विषय-भोग) 'लागी सबै मिठाई-षारी' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया १०), **सालन-आक-धतूरा** (अभक्ष्य) 'षिचरी माँहे हड़िया रांधी सालन आक धतूरा षाइ' (वही, सवैया २१), **सासु** (माया रूप वासना) 'सासु की दुखी सुसर की प्यारी, जेठ के तरसि डरों रे' (क० ग्र०, पद २३०)।

वीर्य—जल 'जल के सजमि अटल अकास' (गो० बा०, सबदी १२३); **पांणी** 'ताते लोहै सोषिया पाणी' (वही, सबदी १०५); **ब्यंद**∠विन्दु 'अवधू नादें ब्यंद गगन गाजै' (क० ०ग्र, पद १६६); **सरोवर**=जलाशय (वीर्य-भण्डार शरीर) 'दिवसें बाघणि मन मोहै राति सरोवर सोष' गो० बा०, पद ४३)।

शरीर और उसके विभिन्न रूप—अष्टकुल परबत (पच विकार और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार वाला शरीर) 'अष्टकुल परबत जल विन तिरिया अदबुद् अचभा भारी' (गो० बा०, पद ११) **अंगीठी** 'कामिनि जलै अगीठी तापै' (वही, पद ४७), 'सुन्दर एक अचम्भा हूवा पानी माहे जरै अंगीठि' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया ८); **कपरा** (साधक की काया)

'कपरा धोबी कों गहि धोवै' (सु०ग्रं०, सवैया ९),कंथा 'कथा डोरा लागा' (क०ग्र०, पद ३१); कंथी (शरीर) 'तीन सैं साठि थैगली कथी' (गो० वा०, पद १९); कंबली (काया-कर्म) 'वरिषैगी कवली भीजैगा पाणी, (गो वा०, पद ४७), कुंभ 'जल मे कुभ कुभ में जल है' (क० ग्रं०, पद ४४); खंभा 'खभा एक गइद दोइ' (क० ग्र०, चितावणी को अग, साखी ४२); षेत∠खेत∠क्षेत्र (शरीर रूप उर्वर भूमि जहाँ सद्‌गुण पनपते हैं) 'हाली माँहे निपज्यौ षेत' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया १३), गागरि=घट 'अवधू सागर कवै पाँणीहारी' (गो० वा०, पद २५), 'तलि गागरि ऊपर पनिहारी' (वही, पद ४७), घर 'सतो घर मँह झगरा भारी' (क० बी०, शब्द ३); चमार की बस्ती (चमड़े से आच्छादित शरीर) 'बस्ती माहिं चमार की बाम्हन करत वेगार' (प० बा० (पहला भाग), पृ० १०३), चरषा 'चरषा जिनि जरै' (क० ग्र०, पद १३), चादर 'धुविया फिरि मर जायगा चादर लीजै धोय' (प० बा० (पहला भाग), पृष्ठ ३), चूनर 'एरी रँगरेज मिलै कोइ चतुर रँगइया, चूनर रँग चट-कइयाँ' (तु० शब्दा० (भाग दूसरा), पृ० २९८), जगल 'जगल मे बस्ती ब्याई' (सा० बा० छं० वं० (दूसरा भाग) पृ० ४५३), झोली 'पत्र माहिं झोली गहि राषै' (सु० ग्र०, अग २२ सवैया १५), तूवी 'तूवी मे तिरलोक समाणा' (गो० वा०, ग्यान तिलक ३५), 'पानी मांहि तुंबिका वूडी' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया ४), देवल 'देवल माहि ते प्रगट्यौ देव' (वही, सवैया ६), धवणि=धौकनी 'धवणि धवती रहि गई' (क० ग्र०, काल को अग, साखी २१), नगर 'केसौ नगरि करौ कुटवारी' (वही, पद ८० तथा पद २२२, २७३ आदि); नवग्रिह (नव द्वारो वाला शरीर) 'नवग्रिह मारि रोगिया बैठे' (वही, पद १६२), नव घाटी (नवद्वार) 'अवधू नव घाटी रोकिलै वाट' (गो० वा०, सवदी ५०), परबत∠पर्वत (पिंड) 'अवधू अहूँठ परवत मंझार' (वही, पद २६), पाहन 'पाहन तिरत न लागी वेर' (सु० ग्रं०, अग २२, सवैया ४), पिंजरि 'परम पुरुष पिंजरि बिलव्या' (गो० वा०, ग्यान तिलक २०); पुरिया∠पुर=नगर (स्थूल शरीर) 'पुरिया जरै वस्तु निज उवैर' (क० बी०, शब्द ५८), फूल (विकसित अवस्था, वृद्धावस्था) 'उलट्या फूल कली मे आणैं' (गो० बा०, सबदी ११५); बम्बई=बांबी (खोखला शरीर) 'ववई उलटि शरप कौं लागी, धरणि महारस खावा' (क० ग्र०, पद १६२) 'सरप मरै बांवी उठि नाचै' (गो० वा०, ग्यान तिलक ४); बाग 'नीझर नीर अगनि मुपि बरषै, सीचै वाग हमारा' (वही, ग्यान तिलक २६), बाड़ी∠वाटिका 'वाडी माहे माली निपज्यौ' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया १३), बिरप∠वृक्ष 'एक बिरप भीतर नदी चाली, कनक कलस समाइ' (क० ग्र०, पद २८०); भांडा 'बहु विधि भाडे घड़ै कुमार' (वही, पद ५३), मगरी=लकड़ी (राजस्थानी मे जगल) 'मगरी परि चूल्हा धूवाइ' (गो० वा०, पद ४७), मसीति∠मस्जिद 'एक मसीति दसौ दरवाजा' (क० ग्रं०, पद ६१), महल 'दीपक बारा नाम का महल भया उजियार' (प० बा० (पहला भाग), पृ० ७), मँडवक∠मण्डप 'मँटवक चारन समवी दीन्हों' (क० वी०, शब्द २५); मंदिर 'द्वै द्वै दीपक धरि धरि जोया, मदिर सदा अँधारा' (क० ग्र०, पद ८१), 'हरि गये मंदिर टूटे वंसा' (वही, पद ३६७); माटी 'माटी वपुरी घडै, कुम्हार' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया ९), मूवा (जड़-शरीर) 'जीवता के तलि मुवा विछायवा' (गो० बा०, सबदी १९४), लहँगा 'लहँगा परिगा दाग फूहरि माबुन से धोवै' (प० बा० (पहला भाग), पृ० ८०), लाकड़ी 'जालइ आंणी लाकडी ऊठी कूंपल मेल्हि' (क० ग्रं०, वेली को अग, साखी १),

लोई 'जल मे पैसि जगावै ज्वाला, तामे होमै लोई'(नि० स०, सत तुलसीदास की बानी, पृ० १४४), **सरवर**∠सरोवर 'सूखे सरवर उडिगए हसा' (क०ग्र०, पद ३६७); **सहर**∠ शहर 'सहर जरै पहरु सुख सोवै' (क० बी०, शब्द ५८), 'चढिउँ बाँस पर धाइ सहर के विचै गड़ाई' (प० बा० (पहला भाग), पृ० २६), **हवेली** 'तेरी काँची हवेली जड़ जाँच' (तु० शब्दा० (दूसरा भाग), पृ० २४७), **हंडिया,** हाँडी (कर्मो के पकाने का माध्यम शरीर) 'षिचरी माँहे हडिया राधी' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया २१), कुत्ता हाँडी फँसि मुवा दोस परोसिक देय' (प० बा० (पहला भाग), पृ० १०३)।

शब्द— तीर 'बाहुए लागा तीर' (क०ग्र०, गुरुदेव को अग, साखी ६), **बान**∠ वाए 'पारथि बाना मेलै' (क०बी०, शब्द ५२), कूची, निर्भय-वाणी, पलीता, सिचाए (देखिए, हि० का० मे नि०स, परिशिष्ट १), **सरि**∠सर∠शर 'जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या' (क०ग्र०, विरह कौ अग, साखी १७)।

श्वास-प्रश्वास—ऊंट(उच्छ्वास, प्राणतत्त्व) 'ऊट मारि मैं चारै लावा' (क०ग्र०, पद १७७), 'ऊट सिचाएो जब ग्रह्यौ केरौ डाली बैठौ' (गो०बा०, पद २०), 'ऊँटवा से करै केल' (तु० शब्दा० (पहला भाग) पृ० १३५); **षाल**=धोकनी (श्वसन क्रिया) 'षाल सु बैठी धवै लुहार' (सु०ग्रं०, अग २२, सवैया ६); **धागं** (श्वास) 'इकबीस सहस छ सै धाग' (गो०बा०, पद १६), **भुयंगम**∠भुजग 'ज्यू ज्यू भुजगम आवै जाइ' (गो० बा०, सबदी १८८)।

संसार और उसके विभिन्न पक्ष—अंड (शरीर या ससार) 'एकै अड सकल चौरासी, भरम भुला ससारा' (क०बी०, शब्द ५); **कुंड** 'बीच महै इक कुड मुरेरा तोर का' (प०बा० (भाग दूसरा), पृ० ७८); **खेत, षेत** (कर्म-क्षेत्र अर्थात् ससार)'जुग जुग देखौ खेत मे काला बैल जुनाय' (तु० शब्दा (पहला भाग), पृ० ३४), (सूक्ष्म ससार) 'हाली भीतर षेत निदाएों' (गो०बा०, ग्यानतिलक १६), **चौक**=चौराहा 'चौके राड भई सग साँई' (क०बी०, शब्द ५४); **चौमासा**∠चतुर्मास (बहारो-मल्हारो का ससार) 'चात्रिग मे चौमासा बोलै' (गो०बा०, ग्यानतिलक १७), जड़ 'बहुत माति जड लागे फूल' (क०ग्र० पद ११), **जंगल** 'या जगल मे पाँचो मृगा। एई खेत सवन का चरिगा' (वही, पद ३५३), 'जगल मे सोवना औघट है घाटा' (वही, पद ३७३), **डाल** (बाह्य ससार) 'डाल-गह्या थें मूल न सूझै' (क०ग्र०, पद १६२), **तरुवर** 'भौमि बिना अरु बीज बिन तरुवर एक भाई' (क०ग्र०, पद १५६, १५८, क०बी०, शब्द २४); **ताल** 'बगु मे ताल समाई' (गो०बा०, ग्यानतिलक १६), **दरिया** दरिया पारि हिंडोलना' (क०ग्र०, सुदरि को अग, साखी ५), **दह** 'दह मे पडी बहौडि' (वही, मन को अग, साखी २४), **नगर** 'जलि जाई थलि ऊपजी आई नगर मे आप' (वही, पद १३), **नदी** 'बिचालै नदी बहै जी, अब पीव क्यूकरि आऊ पार' (नि०स०, सत तुरसीदास की बानी, पृ० १५३), **नीर** (माया का प्रभाव, ससार) 'जलै नीर तिए षड सब उबरै' (क०ग्र०, पद १७६), **पहार**∠पहाड∠पर्वत (बाह्य जगत्) 'लड़िका चूल्हे मे लुका ढूढत फिरै पहार' (प०बा० (पहला भाग), पृ० ८४); **पहोकर**∠ पुष्कर (पवित्र ससार) 'गऊ पद माही पहोकर फदकै' (गो०बा०, ग्यानतिलक १७); **पांनी**

(माया का प्रभाव, संसार के आकर्षण) 'रंजसि मींन देखि बहु पाँनी' (क०ग्रं०, पद ८६, १६० तथा गो०बा०, पद २०); पीहर∠पितृ-गृह (संसार माया केलिये 'पीहर' है तथा जीवात्मा केलिए श्वसुरालय है।) 'पीहरि जांऊ न रहूँ सासुरै, पुरुषहि अंगि न लांऊं '(क० ग्रं०, पद २३१); फूल (आकर्षण, यौवन, संसार) 'पंडित जन फूल रहल लुभाई' (क०बी०, शब्द ६३); बजार 'बिस्वा किये सिंगार है बैठी बीच बजार' (प०बा०(पहला भाग), पृ० १७), बन 'बन कै ससै समंद घर कीया' (क०ग्रं०, पद १०); बाट (ससार-मार्ग) 'चलै बटावा थाकी बाट'(गो०बा०, पद ४७), 'ऊघट चले सु नगरि पहूँते बाट चले ते लूटे; 'हारी बाट बटाऊ जीत्या, जांनतकी बलिहारी' (क०ग्रं०, पद १७५;७६); बिरष∠वृक्ष 'बलिहारी ता बिरप की जड़ काट्यां फल होइ' (वही, वेली कौ अग, साखी २); बिरवा∠विरवा 'बिरवा एक सकल ससारा' (क०बी०, शब्द ५०); भेरा=नौका 'भेरें चढे सु अघघर डूबे' (क ग्रं०, पद १७५); रस्ता=मार्ग 'बैठे ने रस्ता काटा, चलते ने बाट न पाई।' (सा० ब०छं०बं० (दूसरा भाग), पृ० ५५८); समुद्र, सागर, सिन्धु, 'उलटी-गग समुद्रहि सोखै' (क०बी०, शब्द २), 'सायर जलै सकल बन दाझै (क०ग्रं०, पद ६), 'बेली एक सिंघ तजि आई' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १००); सरोवर 'काहे री नलिनी तू कुमिलानी, तेरे ही नालि सरोवर पानी' (क० ग्रं०, पद ६४), सावण∠श्रावण (हराभरा वाह्य ससार) 'वरषै मोर कहूकै सावण' (गो०बा०, ग्यानतिलक १६); स्वांन∠श्वान (मन अथवा स्वान रूप संसार) 'बिलिया स्वांन बियाही' (क०वी०, शब्द ५२); हट्ट∠हाट 'बहुरि न आंवो हट्ट' (क०ग्रं०, गुरुदेव कौ अग, साखी १२)।

सद्गुण—कफ़फ़न∠कफ़न (सत्त्वगुण) 'पलटू कफफन बाँधि कै खेचौ सुरति कमान' (प०बा० (पहला भाग), पृ० ४२), पासा∠खासा=वस्त्र विशेप (श्रेष्ठ गुण) 'पासा निपजै ऊंची जाति' (सु०ग्रं०, अग २२, सवैया १६); चून (श्वेतता, पुण्य) 'भाई रे चूंन बिलूटा खाई' (क०ग्रं०, पद ८१); प्रजा (सतोष, क्षमा, दया, शील आदि गुण) 'परजा सुखी भई नगरी मे' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया २४); बाम्हन∠ब्राह्मण (सत्त्व गुण) 'बस्ती माहिं चमार की बाम्हन करत बेगार' (प०बा० (पहला भाग), पृ० १०३)।

सहस्रार-चक्र – कनक-कलश (परम ज्योति स्वरूप) 'गगन हीं माठी सीगी करि चूगी, कनक कलस एक पावा' (क०ग्रं०, पद १५३)।

संशय-शंका—विषहर∠ विषधर (सजग संशय) 'विषहर करै खवासी' (क० बी०, शब्द ६); सांप-सांपणि∠सर्प-सर्पिणी 'मीढक सोवै साप पहरइया' (क० ग्रं०, पद ८०, १६२), 'मूसा बैठा वावि में लारै सांपणि धाई' (वही, पद १६१); सावज=शिकार 'संसय सावज सब संसारा, काल अहेरी साँझ सकारा' (क० बी०, रमैनी १६); सिंघ (मन अथवा संशय) 'सिंघहि खाइ अघानौं स्यार' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ३)।

स्त्री—बाघणि∠बाघनी∠ व्याघ्र (स्त्रीलिं०)=माया 'दिवसैं बाघणि मन मोहै' (गो० बा०, पद ४३)।

साधक—अहेरी 'एक अहेरी बन मे आयौ षेलन लागी भली सिकार' (सु० ग्र०, अग २३, सवैया २६), उल्टा-पंथ (साधना-मार्ग) 'तुरसी उलटा पंथ यह' (नि० स०, सत तुलसीदास जी की बानी, पृ० ३३७); गऊपद (साधक का सूक्ष्म जीवन) 'गऊपद माही पहोकर फदकै' (गो० बा०, ग्यानतिलक १७), करसन-पाकु=पकी हुई कृषि अर्थात् योग-साधना 'करसन पाकु रषवालू साधू' (गो० बा०, पद ६०); ग्वाड़ा∠ग्वाला (इन्द्रि-रूप गायो को सयमन करने वाला) 'ग्वाड़ा माहे आनद उपनौ, खूटै दोऊ बाधी रे' (क० ग्र० पद १५२), गारड़ी∠गारूडी 'गोरषनाथ गारड़ी पवन वेगि ल्यावै' (गो० बा०, पद ४५); तुसालवां∠तृषालु (जिज्ञासु साधक) 'अरहट अहै तुसालवा, सूलै काटा भागा' (वही, पद २०), धोबी 'अहनिसि धोवी धोवै त्रिवेणी की घाटी' (वही, पद ५४); पछी=यात्री (साधक) 'पथी माहि पथ चलि आयौ' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया २८), पारधी 'चरि-गया मृघला पारधी बाधू'(गो० बा०, पद ६०), उलटै धनकि पारधी मारयौ, यहु अचिरज कोइ बूझै' (क० ग्र०, पद १६२), बटावा=यात्री (साधक) 'चलै बटावा थाकी बाट' (गो० बा०, पद ४७); विप्र∠विप्र (शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक) 'विप्र रसोई करनै लागौ, चौका भीतरि वैठो आइ'(सु०ग्र०, अग २२, सवैया २१), भील (प्रारम्भिक साधक) 'मृघ भील कूं चौड़े रोक्या' (नि० स०, सत सेवादास जी की वानी, पृ० १६५), माली (विचारक साधक) 'बाड़ी माहे माली निपज्यौ' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया १३), रेडा-रूख=अरंड का पेड़ (साधक) 'रेडा रूख भये मलयागिर' (क० वी०, शब्द २३); रोगी 'नवीग्रह मारि रोगिया बैठे' (क० ग्रं०, पद १६२)।

सुरति—गऊ, गैया (वृत्ति, सुरति) 'गऊ कीन्हा सिंह (काल) अहारा' (सा० ब० छं० व० (दूसरा भाग) पृ० ४५२), 'गैया गली लख पाई करै नित-नित सैल' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३५), चींटी 'चीटी चढ गगन समाई' (सा० बा० छ० व० (दूसरा भाग), पृ० ४५२); चुरियाँ (सौभाग्य चिह्न, सुरति-चिह्न) 'कोई चुरियाँ लोरी ग्वारियाँ' (तु० शब्दा० (दूसरा भाग), पृ० २५७), डोरा, डोरी 'कथा डोरा लागा, तब जुरा मरण भी भागा' (क० ग्रं०, पद ३१), 'टूटी डोरी रस कस बहै' (गो० बा०, सबदी १२८), तार 'खूंटी खसक तार तब टूटा' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १४०), दुलहिनि (पवित्र भावना, सुरति) 'दुलहिनि लीपि चौक वैठायौ' (क० बी० शब्द २५), नाव (वृत्ति) 'उलटी बहै बयार नाव भुरकायदै' (प० बा० (दूसरा भाग), पृ० ७८), बकरी 'बकरी ने हाथी मारा' (स० ब० छ० वं० (दूसरा भाग), पृ० ४५२), बाति, बाती 'दीपक दीया तेल भरि बाती दई अघट्ट' (क० ग्रं०, गुरुदेव को अग, साखी १२), 'दीपक जरै जरै नहिं बाति' (सु० ग्रं०, अग २२), सवैया ११), बेलि (वृत्ति) 'बेली एक सिंघ तजि आई, कँवल कूप किया वासा जी' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १००); मक्खी (सुरति) 'मक्खी ने मकड़ी खाई' (सा०ब० छ० व० (दूसरा भाग), पृ० ४५३), रंभा= अप्सरा (माया अथवा सुरति) 'जल बिच नाचति रंभा री, सखी सुनो अचभा' (तु०शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३७); रोटी=(रटणि नाम स्मरण अथवा प्रारब्ध कर्म) 'रोटी ऊपर तवा चढाइ' (सु० ग्र०, अंग २२, सवैया २१); लकरी∠लकडी (लय) 'अग्नि मथन करि लकरी काढ़ी' (वही, अंग २२, सवैया १४, तथा ६); स्रुति∠श्रुति 'स्रुति चढि गई

अकास में सोर भया ब्रह्माड' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३८), 'सास 'बहू विचारी बड़ बषतावरि जाके कहै चलत है सास' (सु० ग्र०, अग २२, सवैया १७), सुई 'सुई विचारी दरजिहि सीवै (वही, अग २२, सवैया ६)।

हृदय—कमल 'कमल माँहि ते पानी उपज्यौ' (सु० ग्र०, अंग २२, सवैया ७); दीपक (शरीर या हृदय) 'दीपक दीया तेल भरि बाती दई अघट्ट' (क०ग्र०, गुरुदेव कौ अग, साखी १२), पुहुप∠पुष्प 'पुहुप माँहि पावक प्रजरै' (वही, पद ३२६)।

सांकेतिक प्रतीकों का चयन-क्षेत्र :

सांकेतिक प्रतीको का चयन विभिन्न स्रोतो से हुआ है। उलटवाँसी शैली के प्रयोक्ता संतों ने अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति को सफल और प्रभावपूर्ण बनाने केलिए प्रतीको का चयन प्रायः व्यावहारिक जगत् से ही किया है। प्रतीक-परिवार को सुविधा केलिए कुछ विशिष्ट वर्गो में विभाजित किया जा सकता है। ये वर्ग है—(क) परिवार सम्बन्धी प्रतीक, (ख) व्यवसाय सम्बन्धी प्रतीक, (ग) पशुवर्गीय प्रतीक, (घ) पक्षी वर्गीय प्रतीक, (ङ) जन्तु वर्गीय प्रतीक, (च) वनस्पति वर्गीय प्रतीक, (छ) प्रकृति वर्गीय प्रतीक।

(क) परिवार सम्बन्धी प्रतीक—इस वर्ग मे वे प्रतीक आते है जिनका सम्बन्ध परिवार, पारिवारिक जीवन अथवा समाज से होता है। इन प्रतीको में विशिष्ट सबंधो की कोई विशेष ध्वनि सन्निहित रहती है। उदाहरण केलिए दुलहिनि का पति से, माता का सन्तान से, पिता का पारिवारिक बड़प्पन से सम्बन्ध रहता है। इस वर्ग मे पारिवारिक सम्बन्ध वाले, जैसे पति, पत्नी, नारी, सास-ससुर, माता-पिता, ननद, जेठ, देवर, प्रियतम, पिउ-प्यारी, आदि शब्द प्रतीक रूप मे प्रयुक्त हुए है।

(ख) व्यवसाय सम्बन्धी प्रतीक—इस वर्ग मे वे प्रतीक आते है जिनमे किसी व्यवसाय, उसके अग अथवा व्यवसायी को प्रतीकत्व प्रदान किया गया रहता है। जुलाहा, वढई, लुहार, सुनार, कुम्हार, धोवी, वनजारा, भील, व्यापारी आदि ऐसे ही व्यवसायी है, जिनका उलटवाँसी-पदो मे प्रतीक रूप से प्रयोग हुआ है। इन व्यवसायियो के साथ ही साथ इनके व्यवसाय-कर्म के उपादानो को भी प्रतीकत्व मिला है, जैसे जुलाहा कर्म से सम्वन्धित चरखा, सूत आदि, वढईगीरी से सम्वन्धित लकडी आदि, लुहार की धोकनी, हथोडा आदि, कुम्हार का कुंभादि, भील के तीर-कमान, शिकारादि।

(ग) पशु वर्गीय प्रतीक—इस वर्ग मे उन सभी पशुओ को प्रतीक-रूप में प्रयुक्त किया गया है, जिनकी कोई न कोई प्रवृत्ति मनुष्य की इन्द्रिय वृत्ति से सम्वन्धित होगई है। मृग अपनी चंचलता, सीधेपन केलिए, गाय अपने सीधेपन और दोहन केलिये, उसका बछड़ा पराश्रित होने केलिए, बैल मूर्खता और शक्तिमत्ता तथा भार-वहन करने केलिए, सिंह प्रबलता केलिए, गजेन्द्र शक्ति, स्वाभिमान और विशालता केलिए, शशक भीरुता केलिए, श्वान भौंकने केलिए, बिल्ली दुष्टता या कुटिलता केलिए प्रसिद्ध है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण ही इन पशुओं को उलटवाँसी-पदो में प्रतीकत्व मिला है।

(घ) **पक्षी-वर्गीय प्रतीक**—पशुओ के समान ही पक्षियो में भी बहुत से ऐसे हैं, जो अपनी किसी विशेषता केलिए प्रसिद्ध है। कउआ दुष्टता केलिए, गीध लालच केलिए, सिचाण (वाज) वेग केलिए, कोयल वाणी की मधुरता केलिए, हंस नीर-क्षीर विवेक केलिए, वगुला (मिथ्या) ध्यान केलिए प्रसिद्ध है। इस वर्ग मे पक्षियों को उनके विशिष्ट गुण केलिए प्रतीक रूप मे प्रयुक्त किया गया है।

(ङ) **जन्तु वर्गीय प्रतीक**—इस वर्ग के प्रतीक अपनी सूक्ष्मता केलिए प्रसिद्ध हैं। भ्रमर सूक्ष्मवृत्ति एव चचलता केलिए, चीटी सूक्ष्मता केलिए, मक्खी मलिनता तथा मकड़ी जाला पूरने या आवरण निर्मित करने केलिए, मीन चचलता एव धारा के विपरीत प्रवाह मे चलने केलिए, मेढक वाचालता एव सकीर्णता केलिए, सर्प अहकार एव कुटिलता केलिए, मूषक सशय तथा चचलता केलिए, चातक-चकोर एकाग्रता केलिए, पतग लाघव और एक-निष्ठा केलिए प्रसिद्ध है। इस वर्ग मे इसी प्रकार की अपनी विशेष प्रवृत्ति केलिए प्रसिद्ध प्रतिनिधि जन्तुओ को प्रतीकत्व मिला है।

(च) **वनस्पति वर्गीय प्रतीक**—वृक्ष, पौधे, लतादित प्रतीक इसी वर्ग के हैं। विशेष वृक्षो को अपनी किसी विशेषता के कारण प्रतीकत्व मिला है। जैसे वट अपनी विशालता, पीपल तथा केला अपनी सात्विकता, पवित्रता, आम्र अपनी शोभा, अरड अपनी बाह्य अशोभा केलिए जन-जीवन मे प्रसिद्ध है। उलटवाँसियो मे ये वृक्ष अपनी इन्ही विशेषताओ केलिए प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए है। वृक्ष का तना तथा पत्तियो वाला भाग बाह्य होता है, जड़ वाला भाग आन्तरिक होता है, यह विशेषता भी प्रतीक रूप मे लक्षित हुई है। लता अथवा वेलि अपनी लम्बाई अथवा सूत्रवद्धता केलिए प्रसिद्ध है। कमल अपनी शोभा और पवित्रता केलिए फल-फूल अपनी अन्य विशेषताओ केलिए प्रसिद्ध है। विवेचित शैली उलटवाँसी मे इन्ही विशेषताओ केलिए वनस्पति वर्ग के प्रतीको का प्रयोग मिलता है।

(छ) **प्रकृति-वर्गीय प्रतीक**—वैसे तो उक्त सभी प्रतीक प्रकृति से ही सम्बन्ध रखते है, परन्तु इस वर्ग मे विशेष रूप से वे ही प्रतीक चुने गए है, जिनकी सत्ता शाश्वत मान ली गई है। उदाहरण केलिए सागर, धरती, सरिता, पर्वत, नीर, मानसरोवर, चन्द्रमा, सूर्य, वायु, आकाश, रात्रि, दिन, नक्षत्र आदि। ये प्रतीक अपने विशेष धर्म केलिए प्रसिद्ध हैं। अपनी तत्तत् विशेषताओ केलिए ही इनको उलटवाँसी-पदो मे प्रतीकत्व मिला है।

उक्त वर्गों मे प्रतीक सम्वन्धी चयन-क्षेत्र को देखते हुए कहा जा सकता है कि उलट-वाँसी-पदो मे प्रतीको का चयन-स्रोत अपनी व्यापक पृष्ठभूमि पर आधारित है। ये प्रतीक जन-व्यवहार के विशिष्ट धरातल से चुने गये है। अत: परम्परा-प्रयोग मे ये भावी जीवन को भी प्रभावित करने मे समर्थ कहे जा सकते है।

●

पंचम अध्याय

उलटवाँसियों में पारिभाषिक शब्दावली

पारिभाषिक शब्द :

यहाँ उन शब्दो की विवेचना प्रस्तुत की गई है जो शास्त्र-विशेष मे अथवा यौगिक परम्परा मे साधना अथवा साम्प्रदायिक अर्थ का द्योतन करते हैं। सम्प्रदाय विशेष की मान्यता अथवा व्यवहार मे रूढ़ होने के कारण इन्हें शास्त्रीय अथवा रूढ़ शब्द कहा जासकता है । उलटवाँसी-पदो मे ऐसे अधिकांश शब्द हठयोगी-परम्परा से आये है । परम्परा में व्यवहृत होने के कारण इनकी रूढ़ता भी पारिभाषिकता को पुष्ट करती है। अर्थ-ग्रहण की दृष्टि से पारिभाषिक शब्दो की अपनी सीमा होती है, जिसके आगे, प्रतीक शब्द की भाँति, पारिभाषिक शब्द अर्थ-विस्तार नही कर पाता । सहजयानी बौद्ध-सिद्धों तथा नाथयोगियों की रचनाओ ने इन शब्दो की परिभाषिकता मे सहयोग दिया है और उनमे भी ये शब्द तत्सम्बन्धी शास्त्रों से गृहीत हुए हैं । इनके प्रेरणा स्रोत के रूप मे 'साधनमाला;' 'प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि'; अद्वयवज्र; 'हेवज्रतन्त्र'; 'शिवसहिता'; 'घेरण्डसहिता'; 'हठयोग-प्रदीपिका'; 'गोरक्ष-पद्धति', 'गोरक्ष-सिद्धान्त' आदि ग्रन्थ महत्वपूर्ण है । संतो की उलट-वाँसियो मे इसप्रकार की पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग तो है, परन्तु उसका मूल अर्थ सदा वही नहीं है, जो सिद्धो और नाथो की वाणियो मे था ।[1] अध्ययन सुविधा केलिए ऐसे पारिभाषिक शब्दो का सक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

उलटवाँसी-पदों में प्रयुक्त प्रमुख पारिभाषिक शब्द :

अजपाजाय—उलटवाँसी-पदो मे इस शब्द का प्रयोग बहुधा हुआ है। इस जप मे गोपन की प्रधानता रहती है । सहजयानी-सिद्धो में 'बीजाक्षर' या 'मूल-मंत्र' पर चित-वृत्ति को केन्द्रित करके, बिना किसी बाह्य साधन के, जैसे—माला फेरना, उँगलियाँ चलाना, उच्चारण करना आदि, आन्तरिक प्रक्रिया के रूप में ही श्वास-प्रश्वास के द्वारा जप करने की पद्धति पर बल दिया जाता था, जिससे श्वास-निरोध के साथ-साथ 'चण्डाग्नि' प्रज्ज्व-लित हो सके । सिद्धों ने इस प्रकार के जप को 'वज्रजाप' की संज्ञा दी है । इस जाप के द्वारा वे 'णिरक्खर' (निरक्षर) या शून्यावस्था की सिद्धि करते थे । नाथ-योगियों में इस

---

1. 'कबीर ने योगियो और सहजयानियों के पारिभाषिक शब्दों की अपने ढंग पर व्याख्या की । इस प्रकार वैष्णव शास्त्रों से गृहीत होकर भी उनके राम 'दशरथ सुत' नहीं थे, ठीक उसी प्रकार उनका सहज शून्य, षट्चक्र, समाधि इडा-पिंगला आदि भी सहजयानियों और योगियों के इन्ही शब्दों मे भिन्न अर्थ रखते थे । इतना ही नहीं सूफियों की साधना से गृहीत शब्दों की भी इन्होंने अपने ढंग पर व्याख्या की थी ।'
—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', पृ० ३७

प्रकार का जाप 'गायत्री' नाम से जाना जाता था।[1] उनका विश्वास है कि इस प्रकार के 'अजपाजाप' के द्वारा श्वास-निरोध के साथ-साथ मन तथा चित्त-वृत्ति को केन्द्रित किया जाता है।[2] सिद्धो मे प्रज्ञोपाय की अवस्था केलिए 'एंवम्' बीजाक्षर का जाप प्रसिद्ध था, परन्तु नाथो मे शिव-शक्ति के योग केलिए यह 'सोहम्' के रूप मे प्रचलित हुआ। सतो मे इस जाप की मूल भावना ज्यो की त्यो बनी रही है। यह सहज जप अथवा अजपाजाप, महामिलन, पिउ-मिलन, अथवा खसमावस्था की प्राप्ति मे सहायक माना गया है।[3]

इस जप की साधना सहज सुलभ नही है। चित्त-वृत्ति निरोध की मूल भावना यहाँ भी विद्यमान है। जो साधक अहर्निशि मे आने वाली २१६०० श्वास-प्रश्वासो का महत्त्व समझते हुए साधना करता है,[4] वही इस पथ पर अग्रसर होपाता है। सतो मे 'सोहम्' के साथ-साथ 'ओहम्' जाप की मान्यता भी है।[5] स्वय अजपाजाप' शब्द के प्रयोग मे उलटवाँसी तत्त्व विद्यमान है।

अनाहत नाद—इसे अनहद या अनाहद नाद भी कहा गया है। इसका शाब्दिक अर्थ है वह शब्द अथवा ध्वनि जो किसी वाद्य आदि माध्यम के बिना ही सुनाई दे। टकार के बिना झकार का होना उलटवाँसी मूलक है। पिण्डस्थ घोष की कल्पना प्राचीन है। श्री मद्भागवत मे ('भूतेषुघोष रूपेण' ११।२१।३७) वाणी या शब्द को प्राणियो के अन्त.-करण मे विद्यमान बताया है।

हठयोगी परम्परा मे यह प्रसिद्धि है कि जब साधक सुषुम्ना मार्ग से, षट् चक्रो और तीन ग्रन्थियो का भेदन करता हुआ,[6] ऊर्ध्वगमन करता है, तो कुण्डलिनी के जागरण-काल

---

१ 'अजपा नाप गायत्री योगिना मोक्षदायिनी' —गोरक्ष पद्धति, १।४५

२. 'अजपा जपै सुनि मन घरै, पाचौ इद्री निग्रह करै।' —गोरख-बानी, सब्दी ४।१८
'अजपा जापु जपै मुखिनाम।' —नानक-वाणी (बिलवलु, थिती पउडी १६), पृ० ७५

३ 'करौ अजपाजाप कै जाप प्रेम उर लाइये।
मिलौ सखी सत् पीव तो मगल गाइये ॥' धनी धरमदास की शब्दावली, पृ० ३६

४. 'इकबीस सहस षटसा आइ पवन पुरिष जपमाली।
इलाप्यगुला सुषमन नारी अहनिसि बहै प्रनाली ॥' —गोरख-बानी, पृ० ९५

५. 'ओह सोह तनु विचारा। वकनाल मे किया पसारा ॥' —कबीर, ज्ञान-गुदड़ी

६ 'अनाहत्-चक्र मे ब्रह्म-ग्रन्थि, विशुद्ध-चक्र मे विष्णु-ग्रन्थि और आज्ञा-चक्र मे रुद्र-ग्रन्थि की कल्पना है, इनका भेदन हठयोगी साधक केलिए आवश्यक माना है। देखिए—
'ब्रह्मग्रथेर्भवेद्भेदो ह्यानद. शून्यसभव·। विचित्र. क्वणको देहेऽनाहत श्रूयते ध्वनि. ॥
विष्णु ग्रथस्ततो भेदात्परमानद सूचक.। अति शून्ये विमर्दश्च भेरी शब्दस्तथा भवेत् ॥
रुद्र ग्रथि यदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः।
निष्पत्तौ वैणव शब्द. क्वणद्वीणा क्वणो भवेत्॥'
—हठयोग प्रदीपिका, ४।७०, ७३, ७६

में साधक को पिण्ड के भीतर ही ब्रह्माण्डस्थ नाद सुनाई देता है और जब वह कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वस्थ हो जाती है, तो यह नाद निरन्तर सुनाई देने लगता है। साधना-विकास के साथ-साथ यह ध्वनि अपने घोष रूप से परिवर्तित होती हुई और मधुरतर होती जाती है। जैसे प्रारम्भ में यह सागर या मेघ की गर्जन लेकर आती है, तत्पश्चात् भेरी, शख, घटा, किंकिणी, वंशी, वीणा, भ्रमर आदि के सूक्ष्म रव के रूप मे परिणत होती जाती है।[1] और जब कुण्डलिनी आज्ञाचक्र मे पहुँचती है, तो साधक का चित्त नादासक्त होकर, उसी में तन्मय बना रहता है।[2] 'अनाहत्‌नाद' शब्द मे स्वय उलटवाँसी तत्त्व विद्यमान है, क्योंकि अनाहत् रहने पर किसी प्रकार के नाद का होना सम्भव नही है। उलटवासी-पदो में अनहद-शब्द की बहुशः चर्चा है। देखिए—

'ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बैन बजावा।
जब अनहद बाजा बाजै, तब साँईं संगि विराजै॥'
—क० ग्र०, प १६३

'बाजत ताल मृदंग झाँझ डफ अनहद घोर निसानी।
पाँच पचीस लिए संग अबला, गगन में धूम मचानी॥'
उठै सुर बारह बानी॥' —घनी धम० शब्दा०, पृ० ५६

'सार्मांहि उगवै सूर भोर ससि जागई। गंग जमुन के संगम अनहद बाजई॥'
—बुल्ला० शब्द०, पृ० २४

'घुरै नगारा गगन में बाजै अनहद तूर।
जन दरिया जहँ थिति रची, निस दिन बरसै नूर॥'
—दरिया० (मारवाड़ वाले) बा०, पृ० १४

'अनहद की धुनि करै विचारा। ब्रह्म दृष्टि होय उँजियारा॥
एह जो कोई गुरु ज्ञानी बूझै। सब्द अनाहद हि सूझै॥'
—दरिया० (बिहार वाले का) सा०, पृ० २१

अमृत—सहजयानी सिद्धों की उलटवाँसियों से लेकर आधुनिक काल के उलटवाँसी-

---

१. 'श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्म सूक्ष्मकः॥
आदौ जलधि जीमूत भेरीझर्झर संभवाः।
मध्ये मर्दल शंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा॥
अंते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमर निःस्वनाः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयंते देहमध्यगाः॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।८४-८६

२. 'उलटे पवन चक्र षट बेधा मेरदंड सरपूरा।
गगन गरजि मन सुंनि समांना, बाजै अनहद तूरा॥'
—कबीर ग्रंथावली, पद ५

पदों तक 'अमृत'[1] अथवा अमृत के समानार्थी अमीरस,[2] वारुणी,[3] महारस,[4] सहजरस, सोमरस, रामरस, सुधारस आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है। तान्त्रिक साधना मे 'वारुणी' को विशेष महत्त्व मिला है, जो बाद को अमरता की प्रतीक मानी गई। शैव-शाक्त मतावलम्बी 'वारुणी' को विशेष महत्त्व देते थे। सहजयानी सिद्धो की वाणी मे प्रज्ञोपाय की सिद्धि केलिए वारुणी को प्रतीक रूप मे ग्रहण किया है। सतो की वाणी मे, विशेष रूप से उलटवाँसियों में, वारुणी की भावना अमृत, अमर रस, महारस, प्रेमरस, रामरस आदि के रूप मे ही देखने को मिलती है।

यौगिक परम्परा मे, साधक के द्वारा अमर वारुणी या अमररस, सोमपान किये जाने का वर्णन मिलता है।[5] उनके अनुसार ब्रह्मरन्ध्र मे स्थित, सहस्रार चक्र मे कोई चन्द्राकार स्थान है, जिससे निरन्तर अमृतस्राव होता रहता है। इसका प्रभाव 'इड़ा' या चन्द्र योग-नाड़ी के माध्यम से होता है।[6] बद्ध-जीव अथवा जिनकी कुण्डलिनी शक्ति सुषुप्त पड़ी रहती है, उनका यह अमृतरस मूलाधारस्थ सूर्य अथवा अग्निकुण्ड मे पड कर नष्ट होता रहता है। अथवा अधोमुखी सर्पिणी के मुख मे पड़कर विष बनता रहता है, इससे शरीर को वार्द्धक्य, मृत्यु आदि का सामना करना पड़ता है। योगाभ्यास से साधक यदि इस अधोगामी अमृत को ऊर्ध्वस्थ कर लेता है, उसे महानन्द की प्राप्ति होती है। ऐसे साधक को तक्षक के दशन का भी भय नही रहता।[7]

निर्गुणी सतो की काव्य-रचना के समय तक उत्तर भारत मे भक्ति का प्रवाह व्यापक रूप से हो चुका था। इसलिए सतो की उलटवाँसियो मे 'प्रेमरस' 'रामरसाइण' अथवा 'सहजरस' का प्रयोग ही देखने को मिलता है। ऐसे प्रयोगो मे प्रेमतत्त्व की प्रधानता देखी जाती है।[8] इस प्रकार 'अमृत' शब्द अपने प्रयोग मे रूढ तथा हठयोगी

---

१ 'गगन मडलमैं ऊधा कूवा तहा अमृत का बासा' —गोरख-बानी, सबदी २३

२. 'जीवता जोगी अमीरस पीवता अहनिस अषडिय धार' —गोरख-बानी, सबदी १९२

३. 'अह निस पीवै जोगी बारुणी सूर' —गोरख-बानी, सबदी १३७

४. 'पीयलै महारस फाटिलै कपाट' —गोरख-बानी, पद ५९

५. 'ऊर्ध्वजिह्व. स्थिरो भूत्वा सोमपान करोति यः।
मासार्धेन न सदेहो मृत्यु जयतियोगवित् ॥' —हठयोग प्रदीपिका, ३।४४

६. 'जिह्वा प्रवेशसभूतवह्नि नोत्पादित. खलु:।
चद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥' —हठयोग प्रदीपिका, ३।४९

७. 'नित्य सोमकलापूर्ण शरीर यस्य योगिनः।
तक्षकेणापि दष्टस्य विष तस्य न सर्पति ॥' —हठयोग प्रदीपिका, ३।४५

८. 'राम रसाइन प्रेमरस-पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवरण दुलभ है, माँगे सीस कलाल ॥' —कबीर ग्रथावली, पृ० १६

(शेष अगले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी मे)

परम्परा में विशेष अर्थ का द्योतन करता है।

अरध-उरध—अरध∠अधः तथा उरध∠ऊर्ध्व के तत्भव शब्द है। हठयोगी साधको मे अरध-उरध साधना प्रसिद्ध है। यह साधना चन्द्र - सूर्य सगम, कुण्डलिनी-ऊर्ध्वगमन, नाद-विन्दु सयोग आदि कई रूपो में उल्लिखित हुई है।

योगियो की ऐसी मान्यता है कि साधक को मेरुदड के निम्न भाग अर्थात् मूलाधार चक्र अरध या अधः मे स्थित कुण्डलिनी को, सहस्रदल कमल, ब्रह्मरन्ध्र, उरध या ऊर्ध्व मे, प्रयत्न पूर्वक अधिष्ठित करना चाहिए। अथवा 'अरध' में स्थित विन्दु या सूर्य को 'उरध'मे अधिष्ठित 'नाद' या 'चन्द्र'से समागम कराना चाहिए। इस प्रकार अधोस्थिति को ऊर्ध्वस्थ करादेना ही 'अरध-उरध' साधना है। इस विशिष्ट साधना का सकेत देने वाले इन शब्दों का प्रयोग सहजयानी सिद्धों से लेकर आधुनिक काल तक की सन्त- वाणी में हुआ है,[1] परन्तु शब्दो के पीछे निहित साधनात्मक आग्रह क्रमशः शिथिल होता गया है। इन विशिष्ट शब्दो के प्रयोग से वाणी मे गूढार्थता का समावेश होगया है।

अवधू—सम्बोधन के रूप मे उलटवांसी-पदो मे 'अवधू' शब्द का वहुशः प्रयोग हुआ है। यह अवधूत का अपभ्रंश शब्द है, जिसका अर्थ साधक, योगाभ्यासी, विरक्त अथवा योगी है।[2] परन्तु प्रचलन मे इस शब्द का अर्थ शनै. शनै. परिवर्तित होता रहा है। गोरखनाथ

(पिछले पृष्ठ का शेष)

'नीझर झरै अमीरस पीजिये, तहाँ भंवर गुफा के घाट रे।' —क० ग्र०, पद ४
'नीझर झरै अमीरस निकसै, तिहि मदिरावल छाका।
कहै कवीर यहु वास विकट अति, ग्यान गुरुलै वाका॥' —क० ग्र०, पद १५५
'दादू सूखा रूखडा काहे न हरिया होइ।
आपै सींचै अमीरस, सूफल फलिया सोइ॥' —दादूवानी (भाग १), वेली को अंग

१. 'अध उध मज्झे सअल भूअणासी' —वागची दोहा कोश,
'अरधै जाता उरधै धरै, काम दगध जै जोगी करै' —गोरख-वानी, सवदी १७
'अरध-उरध' विचि धरी उठाई, मधि सुनि मैं वैठा जाई' —वही, सवदी ७८
'अरध वहन्ता उरधै लीजै' —गोरख-वानी, पद १०
'अरध-उरध वजार मड्या है, गोरख कहै विचार' —वही, पद २७
'चौपड माही चौहटे अरध-उरध वाजार।
कहै कवीरा रामजन खेलौ सत विचार॥' —क० ग्रं०, गुरुदेव को अंग, साखी ३१
'अरधे उरधे माठी रोपिन्हि, लै कसाव रम गारी' —कवीर वीजक, शब्द १२
'अर्ध उर्ध के वीच हिंडोला चग है।' —प० बा० (दूसरा भाग) पृ० ७६
'अरधे और उरधे विच करलै मेला' —तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १८

२. 'यो विलध्याश्रमान् वर्णान आत्मन्येव स्थित. प्रमान।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स उच्यते॥' —कबीर का रहस्यवाद, पृ० १८६ में

जिस अर्थ मे 'अवधू' का प्रयोग करते हैं, उसी अर्थ मे कबीर नही। गोरखनाथ ने 'अवधू' शब्द का प्रयोग जिज्ञासु, अनुगामी साधक केलिए किया है,[1] परन्तु संतों की उलटवाँसियो मे 'अवधू' शब्द का प्रयोग प्राय प्रतिपक्षी, प्रतिद्वन्द्वी केलिए किया गया है, जिसके प्रति अर्थोद्बोधन केलिए चुनौती का स्वर रहता है।[2] कबीर तक इस शब्द का प्रयोग बाहुल्य के साथ दिखाई देता है। परवर्ती संतो मे यत्र-तत्र ही इस शब्द का प्रयोग मिलता है। भक्ति के प्रचार और प्रभाव के कारण बाद के सतो मे हठयोगी-साधना का आग्रह नही रहा था।

उन्मनी अवस्था—उन्मनी और मनोन्मनी शब्द समानार्थी हैं।[3] जिस अवस्था मे सुषुम्ना-मार्ग से प्राणवायु के सचरित होने पर मन की गति भी स्थिर हो जाती है, साधक की वह अवस्था 'उन्मनी' कहलाती है। जब नेत्र पुतलियो की ज्योति अथवा दृष्टि को नासिकाग्र पर केन्द्रित करते हुए भ्रकुटियो को ऊपर की ओर तानते है, उस अवस्था मे मनको स्थिर करकेउन्मनी अवस्था सिद्ध की जाती है।[4] कहा गया है कि साधक सत्त्वचित्त रूप बीज, प्राण-अपान की एकता रूप क्षेत्र मे, उदासीनता रूप जल के सिंचन से उन्मनी अवस्था रूप 'कल्पलता' को प्राप्त करता है।[5] इस अवस्था की प्राप्ति होने पर साधक सम्पूर्ण सबीजकर्म से विनिर्मुक्त होकर निरंजन अवस्था को प्राप्त होता है।[6]

उलटवाँसियो मे इस 'उन्मनी' शब्द का बहुश प्रयोग हुआ है, परन्तु इस शब्द के प्रयोग में गोरखनाथ की बानियो को छोडकर[7] सर्वत्र हठयोग प्रतिपादित अर्थ की प्राप्ति

---

१. 'अवधू बोल्या तत विचारी, पृथ्वी मे बकवाली।' —गोरख-बानी, पद ११
'अवधू ऐसा ग्यान विचारी, ता मे झिलिमिलि जोति उजाली।'—गो०बा०, पद २२
'अवधू गागर कथै पाँणीहारी, गवरी कथै नवरा।' —गो० बा०, पद २५

२ 'अवधू अगिनि जरै कै काठ।' —कबीर ग्रथावली, पद १७४
'अवधू ऐसा ग्यान विचार।' —कबीर ग्रथावली, पद १७५
'अवधू ऐसा ग्यान विचारी, तार्थै भई पुरिष थैं नारी।'—कबीर ग्रथावली, पद २३१
'अवधू का कहि तोहि बखानौं।' —मलूकदास जी की बानी, पृ० ४

३. 'राजयोग : समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।' —हठयोग प्रदीपिका, ४।३
'मारुते मध्य सचारे मन स्थैर्य प्रजायते।
'यो मन· सुस्थिरीभाव सैवावस्था मनोन्मनी।' —हठयोग प्रदीपिका २।४२

४ 'तारे ज्योतिष सयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ।
पूर्वं योगं मनो युजन्नुन्मनीकारकः क्षणात्॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।१०४

५ 'तत्त्व बीज हठ क्षेत्रमौदासीन्य जल त्रिभि·।
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४। १०४

६. 'सर्वावस्थाविनिर्मुक्त सर्वं चिताविवर्जित।
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र सशय :॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४। १०७

७. 'मन पवना लै उनमनि धरिवा ते जोगी तत सार।'—गोरख-बानी, सबदी ३४
'अवधू दम कौ गहिबा उनमनि रहिबा, ज्यूँ बाजबा अनहद तूरं।' वही, सबदी १५

नहीं होती। हाँ, उन कथनों में मन से उनका सम्बन्ध अवश्य रहता है। प्रपचकारक सविषय मन को निर्विषय करने से उनका अभिप्राय रहता है। सभी संतों ने इसीलिए मनोमारण पर वल दिया है। उलटवाँसी-पदो में उन्मानी अवस्था या उन्मन रहने का अभिप्राय मन के निःस्वभावीकरण से है।[१]

उलटी गंगा—उलटवाँसी-पदो में 'उलटी गगा' या 'पश्चिम गगा' के प्रवाहित होने अथवा कराने का कथन अनेक वार मिलता है। वास्तव मे ये कथन इड़ा या गगा के प्रवाह को अवरुद्ध करने, विपरीत करने के सम्बन्ध मे है। सामान्य अवस्था मे इड़ा या गंगा का प्रवाह अधोगामी वना रहता है और ब्रह्मरन्ध्रस्थ 'चन्द्र' से जो अमृत स्राव होता है, वह मूलाधारस्थ सूर्य में पडकर भस्म होता रहता है, जिससे प्राणी जरा-मृत्यु को प्राप्त होता है। अतः साधनाभ्यास के द्वारा इस नाड़ी के प्रवाह का क्रम पलट देना ही गगा का उलटा वहना है। इससे अमरत्व लाभ होता है। नाथ योगियो मे यह साधना 'उलटा-साधना' नाम से जानी जाती है।[२] उलटवाँसी-पदों में अनेक वार इस विपरीत साधना के सम्बन्ध मे कथन मिलते हैं।[३]

औंधा कुआँ—उलटवाँसी-पदो मे अधोकूप, उरधमुख कुइयाँ, उलटा कुवाँ, ऊँवा कुआँ, औंधा कुआँ, कमलकूप, हंसकूप, कूप आदि अनेक प्रयोग देखने को मिलते हैं। ये

---

१. 'मन लागा उनमन्न सों, गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चंद विहूँणा चांदिणां, तहा अलख निरंजन राइ॥' —क० ग्रं०, परचा को अंग, साखी १५
'महा मुंदरा उनमुनि पेखै। अनन्नि भाँति मोती तहँ देखै॥'—दरिया० (विहारवाले) सा०, पृ० ५५
'उनमुनि मुद्रा लगी ममावी। रवि ससि पवनहिं राखी वाँधी॥'
—वुल्ला० शब्द० पृ० १६

२. देखिए—सिद्ध-साहित्य, पृ० ४१३-१४ तथा—'ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० १८५

३ 'उलटी गंग नीर वहि आया, अमृत धार चुवाई।' —कवीर ग्रंथावली, पद ७४
'उलटी गंग संमुद्रहि, सोखै, ससिहर सूर गरासै।' —कवीर ग्रथावली, पद १६२
'उलटी गंग मेर कू चली।' —कवीर ग्रथावली, पद ३२६
'गंगा उलटी फेरि करि, जमुना माहैं आणि।'
—दादूवानी (भाग पहला), पृ० ६०

'पलटू संत विवेकी वुझि है सवद सम्हार।
गंगा पाछे को वही मछरी चढ़ी पहार॥'
—पलटू० वानी (पहला भाग), पृ० ७५

'पच्छिउं गंगा वहै पानी है जोर का।
बीच महै इक कुइ मुरेरा तोर का॥' पलटू० वानी (दूसरा भाग), पृ० ७८

'ब्रह्मरन्ध्र' अथवा दशम द्वार के पर्याय रूप मे प्रयुक्त हुए है। हठयोगी परम्परा मे ऐसी मान्यता है कि शिरोभाग अथवा ब्रह्माण्ड या गगनमण्डल मे कोई सूक्ष्म छिद्र है, जिसे ब्रह्म-रन्ध्रया कूप कहते है। इसका मुँह नीचे की ओर रहता है,इसलिए इसे अध कूप कहा जाता है। इसमें अमृत तत्त्व का निवास है। यहाँ तक पहुँचने केलिए साधक को, सुषुम्ना-मार्ग से प्राणवायु को ऊर्ध्वस्थ करना पड़ता है। गुरु का अनुशासन गन्तव्य तक पहुँचने मे सहायक होता है।[1]

'औंधा कुआँ' शब्द के प्रयोग मे उलटवाँसी तत्त्व विद्यमान है। उलटवाँसियो मे इस शब्द का प्रयोग अपने मूल अर्थ मे ही हुआ है।[2]

कुंडली या कुण्डलिनी शक्ति—कुडली के अनेक पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग उलट-वाँसियो मे हुआ है।* इड़ा-पिंगला नाम्नी योग-नाड़ियो के प्रतीक रूप में व्यवहृत गगा-यमुना के मध्यवर्ती सुषुम्ना मे होकर इसके ऊर्ध्वगमन का मार्ग माना गया है, अतः इसे 'तप-स्विनी' की सज्ञा से भी अभिहित किया गया है।[3] यह स्वय प्रकाशित सृजन शक्ति वाक्देवी है।[4] मेरुदड के नीचे मूलाधार चक्र मे, गुदा और लिंग के मध्य, साढे तीन कुडली मारकर, अपने ही मुख मे अपनी पूँछ दबा कर भवधारामें बहे जाते हुए पशु रूप प्राणियो मे यह

---

१ 'गगन मंडल मे ऊँधा कूवा तहाँ अमृत का वासा।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै, निगुरा जाइ पियासा।'
—गोरख-बानी, सबदी २३

२. 'आकासे मुखि औंधा कुवा, पाताले पनिहारि।
ताका पाणी को हसा पीवै, बिरला आदि विचारि॥'—क० ग्र०, परचा०साखी ४५
'उलटा कूवा गगन मे तिस मे जरै चिराग'—पलटू० बानी (पहला भाग), पृ० ७०
'गगन के बीच मे कूप है अधोमुख, कूप के बीच इक बहै सोती'—पलटू० बानी (भाग दूसरा), पृ० ११
'लखि अकास औधा कुआ हुआ नूर का तेज।' तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३८

* देखिए—साकेतिक-प्रतीक (चतुर्थ अध्याय)।

३ 'गगा यमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनीम्।
'इडा पिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुडली।'
—हठयोग प्रदीपिका, ३।१०९, १०

४. तत्र विद्युल्लताकारा कुंडली पर देवता।
सार्द्धत्रिकरा कुटिला सुषुम्णा मार्ग सस्थिता॥' —शिवसहिता, २।२३
'मुखे निवेश्य सा पुच्छ सुषुम्णा विवरे स्थिता' —शिवसहिता, ५।५७
'येन मार्गेण गतव्य ब्रह्मस्थान निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वार प्रसुप्ता परमेश्वरी॥' —हठयोग प्रदीपिका, ३।३०६

शक्ति सुषुप्त भाव से पड़ी रहती है।[1] परन्तु योगाभ्यासी इस को गुरुकी कृपा एवं प्राणायाम आदि योग-साधनो के द्वारा जाग्रत करके षट्चक्रो और तीन ग्रन्थियों का भेदन कराते हुए कुण्डलिनी शक्तिको ब्रह्माण्ड या ब्रह्मरन्ध्र[2] मे स्थित कराते है। उस समय साधककी शून्य सञ्ज्ञा होती है और वह निरालम्ब चित्त होकर काल की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है।[3]

उलटवाँसी-पदोमे अनेक स्थानो पर कुण्डली, उसके ऊर्ध्वगमन तथा ब्रह्मरन्ध्रमे स्थित होनेका वर्णन प्रतीकात्मक शैली मे हुआ है। प्रतीकरूप मे जोगिनी[4], धरती[5],

---

१ 'कदोर्ध्वं कुडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
वधनाय च मुढाना यस्ता वेत्ति स योगवित्॥'

—हठयोग प्रदीपिका, ३।१०७

'यावत्स निद्रिता देहे तावज्जीव पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटि योग समभ्यसेत्॥ —घेरण्डसहिता, ३।४५

२ टिप्पणी—कुण्डली जब षट्चक्रो का भेदन करके ब्रह्मरन्ध्रमे पहुँचती है, वहाँ सहस्रार चक्र माना जाता है (शिव सहिता, ५।१२), जिसके मध्य मे चन्द्राकार स्थान है, जिससे 'अमृत' की वर्षा निरन्तर होती रहती है। यह अमृत पशु-सञ्ज्ञा वाले जीवो के तो मूलाधारस्थ 'सूर्य' द्वारा भस्म होता रहता है (शिव सहिता ५।१०६), परन्तु साधक उससे अमरत्व प्राप्त करता है। कुण्डलिनी सुषुम्ना के ऊपरी विवर को छोड़कर ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश करती है। यह रन्ध्र विन्दुके आकारका होता है। इसमें छः अन्य द्वार होते हैं, जिन्हे कुण्डलिनी ही खोल सकती है। इस विन्दु स्थलमे ही प्राण-शक्तिका संचय रहता है। जब 'शक्ति' इसी विन्दुमे लयको प्राप्त हो जाती है तभी 'सोहम्'की ध्वनि मुखरित हो उठती है। (इसकेलिये द्रष्टव्य है—कबीरका रहस्यवाद, पृ० ७८-८७ तक)

३. सशैल वन धात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योग तंत्राणां तथाधारो हि कुण्डली॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागृति कुडली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यते ग्रथयोऽपि च॥
प्राणस्य शून्य पदवी तथा राजपथायते।
तदा चितं निरालव तदा कालस्य वंचनम्॥'

—हठयोग प्रदीपिका ३।१-३

४ 'सुरति देह उदगारि जोगिनी आपुइ जोगी।' —प० वा० (भाग पहला), पृ० ६२

५. 'धरती उलटि अकासहि ग्रासै यहु पुरिसा की वाणी।' —क०ग्रं०, पद १६२
'धरती उलटि अकासहि मिली।' —क०ग्रं०, पद ३२६

पनिहारिन,[1] मीडकी[2], मीन, शक्ति[3], सापिनि, स्रुति[4] (शक्ति या सुरति) आदि शब्दोका प्रयोग मिलता है। कुण्डली-जागरण कालमे परमानन्द की अनुभूति एवं अमृत रसके पानका वर्णन[5] भी मिलता है। (इस प्रसग मे द्रष्टव्य है आगे दिया हुआ कुडलिनी-शक्ति योग चित्र।)

खसम अथवा खसमावस्था—सस्कृतमें ख' शून्य या आकाशके अर्थमे प्रयुक्त होता है।[6] 'खसम' अरबीमे पति या खाविंदके अर्थमे प्रयुक्त होता है। उलटवाँसी-पदोमे 'खसम' शब्दका प्रयोग अपने मूल अर्थ 'ख' सम=समान अर्थात् शून्यके समान (आकाश या शून्य), मे ही हुआ है, परन्तु इस शब्दका अभिधात्मक प्रयोग पति, स्वामी अर्थमे प्रतीत होता है।

अपने मूल अर्थमे खसम शब्दका अर्थ है आकाश या शून्यके समान। सहजयानी सिद्धोकी बानीमे इस शब्दका प्रयोग 'खसमावस्था' अथवा 'गगनोपम' अवस्थाके अर्थमें हुआ है। उनके यहाँ साधनाका लक्ष्य ही शून्यावस्था या नैरात्म्य भाव की सिद्धि करना है।[7] उलटवाँसियोमे 'खसम' शब्दका प्रयोग मालिक, स्वामी, परमात्मा अर्थमें ही अधिक हुआ।

---

१. 'आकासे मुखि औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि।'—क०ग्र०, परचाको अंग, साखी ४५

२. 'पताल की मीडकी आकास जंत्र बावै।
चद सूरज मिले तहाँ गग जमुन गीत गावै॥' —(गरीबनाथ)

३. 'पलटू सक्ती सीवका भेद गया अलगाय।
सुरत सुहागिनि उलटिके मिली शब्दमें जाय॥'
—प० बा० (भाग पहला), पृ० ६४

४. 'तुलसी गतिमति लखि पड़ी निरखि लखा सब अड।
स्रुत चढ गई अकासमे सोर भया ब्रह्मंड॥' —तु० शब्दा० (भाग पहला), पृ० ३८

५. 'बक नालि सदा रस पीवै, तब यहु मनवाँ कही न जाइ।
बिगसै कँवल प्रेम जब उपजै, ब्रह्म जीव की करै सहाइ॥ -
बैसि गुफामे जोति विचारै, तब तेहिं सूझै त्रिभुवन राइ।
अतरि आप मिलै अविनासी, पद आनंद काल नहिं खाइ॥'
—दा० बा० (दूसरा भाग), पृ० १५६

६ 'यावद् गिरः खे मरुता चरन्ति।' —कुमारसम्भवम्, ३।७२
'ख केशवोऽपर इवाक्रमितु प्रवृत्त।' — मृच्छकटिकम्, ५।२
अर्थात् दूसरे विष्णुके समान वह आकाशमे व्याप्त होने केलिए प्रवृत्त होगया है।

७ 'खसम बीज यत् खसम याति। आत्मवृक्षस् त्रिधातुषु वितनोतिच्छाया॥'
अर्थात् 'गगन तुल्य बीज प्रभास्वरमावं चित्तज। तस्य स्वाभाविक प्रकाश. प्रभास्वर आत्मवृक्षच्छाया योगीश्वर ज्ञानरश्मिस् त्रिधातून् व्याप्नोति॥'—चर्यागी० पृ० ८१-८२
'हेरि से मेरि तइला बाडी खसमे समतूला।
सुकड़ ए से रे कपासु फुटिला॥' —चर्यागीति कोषः, पृ० १६३
'सब्ब रूअ तहि खसम करिज्जइ। खसम सहावे मण वि धरिज्जइ॥'
—'कबीर' पृ० ७५ से उद्धृत

इसीलिए भाव-वाचक दशा 'खसम' को व्यक्ति रूपमे वर्णित किया गया है,[1] परन्तु अनेक स्थानो पर उसका मूल भाव 'शून्य अवस्था' भी स्पष्ट है ।[2] ऐसे ही वर्णनोमे भूली, बहिर्मुखी जीवात्माके द्वारा खसमकी मृत्यु पर अथवा प्रबुद्ध जीवात्माके द्वारा अहकारकी समाप्ति पर, प्रसन्नता प्रकट की गई है ।[3]

गगन-मंडल—उलटवाँसी-पदों मे गगन-गुफा, गगन-शिखर, शून्य-शिखर, शून्य-मडल, आकाश-मडल आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है । ये शब्द शून्यावस्था के पर्याय होकर आये हैं और समाधि की किसी विशेष दशा को द्योतित करते है ।

---

१. 'कहै कबीर सुनहु रे सतो ज्वाव खसम कू मरणा ।'—कबीर ग्रंथावली, पद १०२
'खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै ॥'—क० ग्रं०, पद ३७०
'भोले भूली खसम के बहुत किया बिभचार ।
सत्गुर गुरू बताइया पूरिवला भरतार ॥' वही, पीव पिछाणन को अग, साखी ३
'माँझ सकार ज्योति लै वारै । खसम छाँड़ि सँवरै लगवारै ॥'
—कबीर बीजक, रमैनी ७३
'माई मैं दूनो कुल उजियारी ।
बारह खसम नेहरै खायी, सोरह खायी ससुराली ॥' —क० बी०, शब्द ६२
'काह कहौं कछु कहत न आवै नाहक जग बोराई ।
अपने खसम नेक नहिं जानै पर पुरुष पहँ जाई ॥' —गुलाल० बानी, पृ० १२२
'गरदन मारै खसम की लगवारन के हेत ।' —प० बा० (पहला भाग), पृ० ६०
'न्योत रही लगवार खसम से परदा तानै ।' —प० बा०, (पहला भाग), पृ १०३

२. 'खसमहि जाणि खिमाकरि गहै । तौ होइ निखओ अखै पदलहै ॥'
—आदिग्रथ, गउड़ी ७५
'खसम निपूती आगणि सूती, राड न देई लेव ।' —कबीर ग्रंथावली, पद ८१
खसम पिछानि तरस करि जिय मे, माल मनी करि फीकी' —क० ग्रं०, पद २२५
'जाड़न मरै सपेदी-सौरी । खसम न चिन्है धरणि भइ बौरी ॥'
—कबीर बीजक, रमैनी ७३
'खसमहिं छाड़ि ससुर सँग गवनी, सो किन लेहु विचारी ॥'—कबीर बीजक, शब्द ६
'लेइ खसम को नाँव खसम से परिचै नाही ।' —प० बा० (पहला भाग), पृ० १७
'खसम सोया है पास खसम को खोजन जावै ।'—पा०बा० (पहला भाग), पृ० ८०
'नाहिं खसम से भेट बैठि के बात बनावै ।'—पा० बा०(पहला भाग), पृ० १०८

३. दुतिया गइ है भागि सुनौ अब राँध परोसिन ।
पिया मरै आराम मिला सुख मोकहँ दिन दिन ॥
पलटू ऐसे पद कहै बूझै सोइ निरवान ।
खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान ॥'—प० बा० (पहला भाग), पृ० ७७
'पलटू सोई सुहागिनी जियतै पिय को साथ ।
खसम मुवा तो भल भया सिर की गई बलाय ॥'—प० बा०(पहला भाग),पृ० ७६

मूल रूप मे यह स्थान मेरुदड के ऊपर शिरोभाग मे माना गया है। जब कुडली षट्चक्रो का भेदन करके सहस्रार चक्र मे प्रवेश करती है, तो उस दशा को ही शून्य-चक्र, शून्य-मडल, गगन, आकाश-मडल आदि नामो से जाना जाता है। इसी स्थान मे अधोमुख कूप की कल्पना है और इस स्थिति पर पहुँच कर ही साधक को अनहद नाद सुनाई देता है। साधक को यह दशा नैर्मल्य, शून्यावस्था तथा प्राणो को शून्यसज्ञा प्रदान करती हैं। गगन-मडल मे स्थिति ही साधक की "खसमावस्था' है। यहाँ पहुँचकर 'प्रज्ञा' का 'उपाय' मे, 'शक्ति' का 'शिव' मे, चिति' का 'आनन्द' मे विलय हो जाता है और साधक 'सिद्ध' सज्ञा को प्राप्त होकर परमपद की प्राप्ति कर लेता है। यही ब्रह्ममय दशा है।

उलटवाँसी शैली के प्रयोक्ता साधको ने इस अवस्था का वर्णन किसी न किसी मात्रा में अवश्य किया है।[१] कोई इस स्थान को अखण्डित ज्योति से दीपित बताता है तो कोई अमृत की वर्षा से युक्त। किसी केलिए यह स्थान मुक्तात्मा रूप हँस के लिए मानसरोवर के समान है, जिसमे वह अन्य मुक्तात्माओं के साथ परमानन्द की प्राप्ति करता है। इस प्रकार इस दशा का वर्णन परम्परा मे रूढ़-सा हो गया है।

गुरू—हठयोगी - साधना मे साधक को साधना - मार्ग प्रशस्त करने वाले गुरू का प्रमुख स्थान है। उलटवाँसी-पदो मे ही नही सम्पूर्ण नाथ-संत साहित्य मे वाणी के रहस्य को उद्घाटित करने वाले गुरू की पदवी सर्वोच्च मानी गई है। गुरु साधक को मन्त्र या शब्द प्रदान करता है, जिससे साधक का भ्रम दूर हो जाता है।[२] तत्पश्चात् उसको अनन्त

---

१. 'गगन मडल मे ऊँधा कूवा तहाँ अमृत का बासा' —गोरख-बानी, पृ० ६
'गगन मँडल मे अनहद बाजै, प्यड पडै तो सतगुर लाजै' —गो० वा०, पृ० १२
'एक कामध्येनि बारि सिधि कै गगन सिषर लै बाँधी।' —गो० बा०,पृ० ६८
'अनहद नाद गगन मे गाजै, परम जोति तहाँ आप विराजै।'—गो०वा०, पृ० १५७
'कबीर मोती नीपजे सुन्नि सिषर गढ माँहि।' —कबीर ग्रथावली, पृ० १३
'जन कबीर का सिखर घर, बाट सलैली सैल।' —कबीर ग्रथावली, पृ० ३१
'गगनमडल आसण किया, काल गया सिर कूटि' —वही ,पृ० ७६
'गगन मँडल महँ फुल एक फूला, तरि भौ डार उपर भौ मूला।'
—कबीर बीजक, पृ० १८०
'गगन मँदिल में सतगुरु बोल सुनि के सब्द हमारा।'—धनी धरम० शब्दा०पृ० २५
'सून्य सिखर पर अजब मँडप बना, मन और पवन मिलि करै वासा।'
—प० वा० (भाग २), पृ० ३६
'गगन के सिखर पर मुकर मन चाँदना, चढै मन मगन सोई गगन पावै।' तु० शब्दा०
'गगन गुफा मे पैठि अधर आसन बैठि, खेचरी मुद्रा अकास फूलै निर्वान है।'
यारी० रत्ना०, पृ० १२
'गगन मँडल महँ निर्तन होय, सतगुरु मिलें तो देखै सोय।' बुल्ला० शब्द०, पृ० ४
२. गुरु बअण विहारे रे थाकिब तइ धुण्ड कइसे।' —चर्यागीतिकोष', पृ० १२७

ज्योति प्राप्त हो जाती है। वद्ध-जीव लोक-धारा के अनुकूल होकर प्रवाहित होता रहता है। गुरु ऐसा उपकारी है जो दया-भाव से प्रेरित होकर, शिष्य को ज्ञान-दीपक दे देता है, जिस से वह भव-निशा की अमा को सहज ही समाप्त कर लेता है।[१] सतगुरु की अनत कृपा होती है तो प्रेम की वादली के वर्षण से साधक जीवात्मा के अनेक पाश उच्छिन्न हो जाते हैं और कर्मो का कल्मप धुल जाता है।[२] गुरु की कृपा वाणी के माध्यम से ही नही मौन रूप में भी हो जाती है।[३] सत् गुरु की ऐसी निरनैमित्तिक सहज प्रवृत्तियो के लिए उलटवाँसी-पदों मे धोवी, वढ़ई, रंगरेज आदि प्रतीकों की योजना हुई है। इन प्रतीकों में अपनी अमूर्त्तावस्था में धर्म साम्य है। गुरु के विना ज्ञान की प्राप्ति नही होती।[४] चित्त नैर्मल्य केलिए गुरु का होना आवश्यक माना गया है।[५] यह विश्वास सम्पूर्ण हिन्दी संत-साहित्य में देखने को मिलता है।

जीवात्मा और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ—उलटवाँसी-पदो में प्रतीकात्मक शब्दो के माध्यम से जीवात्मा की विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव होता है। परमात्मा रुपी पति से दूरी अथवा भ्रम - दशा की दृष्टि से और खसमावस्था की प्राप्ति के रूप में जीवात्माओं के पाँच रूप देखे जा सकते है। (क) भूली नारी अथवा वद्ध जीव, (ख) दुलहिनि अथवा दायित्व समझने वाली जीवात्मा,(ग)विरहिणी अथवा उत्कृष्ट जिज्ञासु साधक,(घ)गृहिणी अथवा अलौकिक जीवन-क्रम वाले साधक, (ङ) पिउ-प्यारी जीवात्माएँ अथवा जीवनन्मुक्त, सिद्धावस्था वाले साधक।

(क) भूली नारी अथवा वद्ध जीव—जो जीवात्माएँ माया अथवा भ्रम के कारण जीवनमें एकत्वके स्थान पर नानात्वका अनुभव करती है और जो अपने वास्तविक स्वरूपको नहीं पहचानतीं, वे जन्म-मरण अथवा कर्मचक्रमे फँसी हुई मानी जाती हैं। ऐसी जीवात्माएँ लोक-मार्ग या लोक-प्रवाह के अनुकूल वहती रहती है। नाथ-योगियो ने ऐसे जीवो को 'पशु'

---

१ 'पीछे लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि॥' —कवीर ग्रंथावली, पृ० २

२. "सतगुर हम सू रीझि करि एक कह्या प्रसंग।
वरस्या वादल प्रेम का भीजि गया सव अंग॥' —कवीर ग्रंथावली, पृ० ४

३. 'जेतई वोली तेत विटाल। गुरु वोव से सीसा काल।'
—चर्यागीतिकोषः, पृ० १३१

४. 'गुरु कीजै गहिला निगुरा न रहिला।
गुर विन ग्यान न पायला रे भाइला॥' —गोरख-वानी, पृ० १२८

५. 'सतगुरु धोवी जो मिलै दिल दाग छुड़ावै।' —धनी धरम० शब्दा०, पृ० १
'सतगुरु सिगलीगर मिलै तव छूटै पुराना दाग।'
'चादर लीजै धोय मैल है वहुत समानी।'
'चल सतगुरु के घाट भरा जहाँ निर्मल पानी॥'
—प० वा० (पहला भाग), पृ० २, ४

को संज्ञा दी है। संतों की वाणी मे ऐसे जीवो को 'भूली नारी',[1] 'वावरी'[2] 'राँड'[3] आदि सम्बोधनो से अभिहित किया गया है। 'राँड' से यहाँ तात्पर्य ऐसी नारी है, जो अपने वास्तविक पति को नही समझती, भुला देती है।[4] इनके लिए वास्तविक पति मर चुकता है और मन केलिए संसार आदि के आकर्षण ही लगवार या उपपति के रूपमे व्यवहृत होते हैं। संतों की दृष्टि में ऐसी जीवात्माओं का जीवन वैधव्य का जीवन है, क्योंकि वास्तविक पति भ्रम के कारण अनुपस्थित है। इसीलिए उन्हे 'राँड' संज्ञासे अभिहित किया गया है।

(ख) दुलहिनि अथवा दायित्व समझने वाली जीवात्मा—इस वर्गमे वे जीवात्माएँ आती हैं, जो गुरू के उपदेश से अथवा सत्संग के प्रभाव से परमात्मा को वास्तविक पति समझकर,[5] सासारिक आकर्षणो के प्रति उदासीन होकर अपने कर्मो की मलिनता तथा प्रियतम की महानता एव पवित्रता का भावन करती रहती है।[6] सतगुरु अपने सद् उपदेश से ऐसी जागरूक जीवात्माओ को उनका दायित्व और मर्यादा का बोध कराता रहता है।

---

१. 'भूल गई है नार आन कै आनै कीन्हा।
कातिस मोटा सूत कातन की चाही झीना॥
देय महावर आँख गोड़ मे काजर लावै।
ऐसी भूली नारि ताहि को को समझावै॥' —प० वानी (पहला भाग), पृ० १०६

२. 'क्या सोवै तू वावरी चाला जात बसत।
चाला जात वसंत कंत ना घर मे आये॥
धृग जीवन है तोर कत बिन दिवस गँवाये॥' —प० वा० (पहला भाग), पृ० १८

३. 'पलटू ऊपर मे कहै भीतर भरा विकार।
पिसना पीसे राँड री पिव पिव करै पुकार॥' —प० वा० (पहला भाग), पृ० १६

४ 'खसम निपूती आगणि सूती, राँड न देई लेव।' —कबीर ग्रथावली, पृ० ११३
'अरधा दै लै चली सुवासिनि चौके राँड भई सग साँई।'—कवीर बीजक, पृ० १६७
'देखा पियका रूप फिरा अहिवात हमारा।
वहुत दिनन की राँड माँग भर सेंदुर वारा॥' —प० वा० (पहला भाग), पृ० १

५. 'भोलैं भूली खसम कै, बहुत किया बिभचार।
सतगुरु गुरू बताइया, पूरिवला भरतार॥' —कबीर ग्रथावली, पृ० ६०
'कवीर जे को सुदरी, जाणि करै बिभचार।
ताहि न कवहूँ आदरै प्रेम पुरिस भरतार॥' —कबीर ग्रथावली, पृ० ८०

६. 'मन मन बिहसै दुलहिनि, अमर बर पाये हो।' —धनी धर० शब्दा० पृ० ४४
'सुन्न मँडल सतलोक दुलहिनी दूर है।
सब अतीत पिछान, नूर भरपूर है॥' —गरीब० वानी, पृ० १४५
'अचरज एक जु देखा भली, दुलहिन खोजन पियको चली।' —भी० बा०, पृ० ६४
'दुलहिन सजी बरात लै, सुरति सेहरा बाँधि।
दिल दुरबीन अन्दर लखा, दुलहा अजर अधार॥'
—तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ११२

(ग) विरहिणी जीवात्मा अथवा उत्कट जिज्ञासु साधक—धीरे-धीरे अपना दायित्व समझने वाली जीवात्माओ का प्रेम पुष्ट होता रहता है और अपनी जागतिक स्थिति के कारण वे प्रेम-विरह तथा ज्ञान-विरहकी अवस्था मे प्रिय-विरह का दु ख अनुभव करने लगती हैं। उन केलिए उस परमप्रिय परमात्मा के बिना एक क्षण भी रहना दूभर प्रतीत होता है, क्योंकि उन्हे अपने वास्तविक प्रियका पूर्ण परिचय और अनुभव की प्रतीति हो चुकी रहती हैं। साधक तन्मयावस्थाके लिए उत्कण्ठित रहते है। इस दशाके वर्णन मे काव्यानुभूति उत्कर्ष पर दिखाई देती है। इस अवस्था का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन, पारिभाषिक शब्दो एव प्रतीको की योजना के द्वारा, उलटवाँसी शैली की विरोधगर्भित असम्बद्धता लिये हुए रहता है।[1]

(घ) गृहिणी अथवा अलौकिक जीवन क्रम वाले साधक—इस वर्ग मे वे जीवात्माएँ आती है, जो परमात्मा रूप पति के नैकट्य का अनुभव करती हैं। इनका जीवन एक दिव्य-सेज पर व्यतीत होता है। इतने पर भी साधको के इस जीवन मे द्वैत बना रहता है। एक सेज पर रहते हुए भी पियसे मिलन नही हो पाता।[2] यह स्थिति आत्म परिचय के बहुत निकट की है। निज स्वरूप अथवा अद्वैतमय जीवन की यह पृष्ठ भूमि है।

(ङ) पिउ-प्यारी जीवात्माएँ, जीवन्मुक्त अथवा सिद्धावस्था वाले साधक—इस अवस्था मे आकर साधक और साध्य का, जीवात्मा और परमात्मा का, स्त्री और पुरुष

---

१. 'कै विरहिण कू मीच दै, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणां मोपै सह्या न जाय ॥' —कबीर ग्रंथावली, पृ० १०
'विरहिनी मदिर दियना बार।
बिन बाती बिन तेल जुगति सों बिन दीपक उजियार ॥' --या० रत्ना,० पृ० १
'विरहमें बेहाल विकल सुध-बुध बिसराई। रजनी नहिं नींद नैन दीदा दरसाई ॥
सखियाँ सुन सेज पास गाज परत आई। पलगा पर पाँव धरत नागिन डस खाई ॥
तडफत तनतोल बोल बाक बचन नाही। पल-पल पी की उसास स्वांसा भरि आई ॥'
—तु० शब्दा० (भाग पहला), पृ० ४
'कल्प कल्प कलपत भये, जुग-जुग जोवत बाट।
कोइ री सुहागिनि ना मिली, पूछौं पिया घर घाट ॥'
—तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ६३

२. 'सेजै रहूँ नैंन नहीं देखौं, यह दुख कासौं कहूँ हो दयाल ॥टेक॥
सासु की दुखी ससुर की प्यारी, जेठके तरसि डरौं रे।
नणद सहेली गरब गहेली, देवरके विरह जरौं हो दयाल ॥' —क० ग्र०, पृ० १६६
'धन कुलवंती जिन जानल अपना नाह।' —बुल्ला० शब्दसार, पृ० ५
'आतम नारि सुहागिनी, सुन्दर आपु सँवारि।
पिय मिलबेको उठि चली, चौमुख दियना बारि ॥' —या० रत्नावली, पृ० १७
'करता नहिं काल पसारी, हम अगम पुरुष की नारी।'
—तु० शब्दा० (भाग २), पृ० २३२

का भेद मिट जाता है।[1] यह साक्षात्कार की तन्मयावस्था होती है। इस अवस्था की जीवात्माओं को सुहागिनी,[2] सुरति सुहागिनि, पिउ-प्यारी नाम देकर संतों ने वर्णन किया है। यह परम सुख या परमानन्द की अवस्था होती है। 'दुतिया' मिट जाती है। यही साधक के लिए मरजीवा या जीवन्मुक्त होने की स्थिति है। इस अवस्था का वर्णन दाम्पत्य जीवन के रूपक को लेकर विशेष रूप से किया गया है।[3]

त्रिवेणी-संगम—इडा, पिंगला और सुषुम्ना नामक योग-नाड़ियों के प्रतीक गंगा, यमुना और सरस्वती के समागस्थल को 'त्रिवेणी' अथवा 'त्रिवेणी-संगम' नाम से अभिहित किया गया है। मन की गति को त्रिकुटी के इस विशिष्ट स्थान पर स्थापित करने से साधक काल-पाश को उच्छिन्न कर देता है।[4] त्रिवेणी संगम 'ब्रह्मरन्ध्र' या दशम् द्वार मे होता है। बद्ध जीवो के नवद्वार खुले रहते है। परन्तु त्रिनाड़ी संगम न होने से दशम द्वार अवरुद्ध बना रहता है साधनाभ्यास से उक्त तीन नाडियो का समागम कराके दशम द्वार को उद्घाटित किया जाता है। जैसे ही यह विशेष रन्ध्र खुलता है, वैसे ही योगी सहस्रार चक्र से स्रवित होने वाले अमृत का आस्वाद लेने लगता है। उस समय उसको अमर काया की प्राप्ति होती है। इसलिए हठयोग विद्या प्रतिपादित ग्रंथो मे उक्त त्रिवेणी मे स्नान का उपदेश है।[5]

उलटवाँसी-पदो मे त्रिवेणी या त्रिवेणी-संगम-घाट पर स्नान का कथन बहुशः मिलता है,[6] परन्तु हठयोग-शास्त्रो मे 'त्रिवेणी' का जो शास्त्रीय विवेचन है, उसे सन्तो ने

---

१. 'पतिव्रता पति मिली है लाग, जहँ गगन मँडल मे परम भाग।
अनहद बानी अगम खेल, जहँ दीपक जरै बिन बाती तेल ॥'
—दरिया० (मारवाड वाले) बा०, पृ० ३७

२. 'जाको अजर अमर है देस, महल बेगमपुरी।
जहँ सदा सोहागिन होय, पिया सूँ मिलि रहुरी ॥'
—चरन० बा० (भाग २), पृ० १३

३ 'चढ़ि गगना गाढी भई, सुरति गई घर माँहि।
पाय पुरुष सुखसेज पै, बिलसी पति सुख जाय ॥'
—तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ६२
'खम्भा न महल अटारी, प्यारी पिउ धाम।'—तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३४

४. 'कालपाश महाबन्ध विमोचन विचक्षणः।
त्रिवेणी सगम धत्ते केदारं प्रापयेन्मत' ॥' —गोरक्ष पद्धति, १।५

५ 'ब्रह्मरन्ध्रमुखे प्रोक्ता तासा सगोऽति दुर्लभः।
तस्मिन् स्नाते स्नातकाना मुक्ति. स्यादविरोधतः ॥' —शिव संहिता ५।१३१

६. 'चदा गोटा षूटा करिलै सूरिज करि लै पाटी।
अह निसि धोबी धोवै त्रिवेणी की घाटी ॥' —गोरख बानी, पृ० १५१
'गंगा जमुना तृवेणी संधी। अजपा जपौ गायत्री बन्धी ॥'—गोरख बानी, पृ० १६६
'अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कवल को घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट ॥' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ६४

—(शेष अगले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी मे)

ज्यो का त्यों स्वीकार नही किया । परम्परा का निर्वाह ही विशेप रूप से दिखाई देता है ।

दिव्य विवाह—उलटवांसी शैली प्रधान रूपक वन्धो में अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं, जिनमें लौकिक आधार पर, प्रतीकात्मक पारिभापिक शव्दो में विवाह-विधि का वर्णन है ।[1] कहीं-कही हठयौगिक शव्दावली मे और कही सहज भावना से प्रेरित होकर जीवात्मा सत्गुरु की कृपा से, परमात्मा रूपी पति से ग्रन्थि-वन्धन कर लेती है । यही दिव्य विवाह है । इसके विपरीत जव वह ससार से ग्रन्थि-वन्धन करती है तव उसे 'रांड' कहा गया है । इस विवाह सम्वन्ध के रूप में आत्मा परमात्मा का नैकट्य ध्वनित होता है । यह स्थिति समाधि की अवस्था का द्योतक है ।[2] अद्वैत की सिद्धि मे इस दिव्य विवाह को पूर्व पीठिका कहा जा सकता है ।

विवाह के साथ 'पीहर' और 'सासुरे' की भावना भी मुखर हुई है । सतों ने प्रवुद्ध जीवात्मा केलिए, ससार को पीहर तथा परमधाम, परमपद की प्राप्ति को ससुरालय के

(पिछले पृष्ठ का शेप)

'तिरवैनी के घाट पर हसा नहवावौ ।' —धनी धरम० शव्दावली, पृ० ३४

'तिरवैनी के घाट नाव को आनि कै । सुखमनि घाट थहाय चलावौं जानि कै ॥'
—प० वा० (भाग दूसरा), पृ० ७८

'गगन गुफा में सिंगी टेरै, जाग्रत के घर जागै ।
तिरवेनी मे आसन मारै, पारव्रह्म अनुरागै ॥'
—प० वा० (तीसरा भाग), पृ० ७२

'आदि अन्त पिय पटखुले चढ़ि महलन पर धाइ ।
तिरवेनी घर घाट पै, न्हावत विपति नसाइ ॥'
—तु० शव्दा० (पहला भाग), पृ० ६१

१. 'वावा मोर व्याह कराव, अच्छा वरहिं तकाव ।
जौलौं वर नामिलै तौलौं तुमहि वियाहु ॥' —कवीर वीजक, पृ० १८८

'हमरा वियाह करौ मोरे वावा, तुम सो नाहिं निवाह हो ।
जिनके नाहिं रूप औ रेखा, उनसे हमारौ वियाह हो ॥
तिरवेनी से नीर मँगावौ, अछ्य वृच्छ कै डार हो ।
ज्ञान कै डोलिया फँदावौ मोरे वावा, करिदेवौ विदा हमार हो ।
धरमदास से छुटल भव सागर, सव सो मेटि अकववार हो ॥'
—धनी धरम० शव्दा०, पृ० ४६-४७

'साहिव से लागी री सजनी, मेरौ व्याह भयौ विन मँगनी ।
लागि गई तव लाज कहाँ की, कल न परै दिन रजनी ॥'
—प० वा० (तीसरा भाग), पृ० १८

२. 'विवाह समाधि अवस्था का द्योतन करता है । सत-साहित्य में समाधि को आत्मा और परमात्मा के मिलन और विवाह के रूप में परिकल्पित किया गया है ।'
डॉ० धर्मवीर भारती 'हिन्दी-साहित्य कोश' (पहला भाग), पृ० ८८१

रूप में चित्रित किया है।[१] इसके विपरीत बद्ध जीवात्मा केलिए ससार से ग्रन्थि-बन्धन होने से इह लोक ससुरालय है।[२] इसी सम्बध में उलटवाँसी-पदोमें द्विरागमन या 'गौने'[३] शब्द का प्रयोग हुआ है। उलटवाँसी शैली के पदों में परमपद को प्रिय धाम, परम धाम, सुन्न सहर, अगमपुर, बेगमपुरी या बेगमपुरा आदि नाना नामो से अभिहित किया गया है।[४]

दीपक—उलटवाँसियो मे 'दीपक' शब्द ज्ञान[५], दिव्य प्रकाश, अखण्डित ज्योति, ब्रह्म-ज्योति आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसके प्रकाश मे अन्धकार पूर्ण भव-मार्ग पर साधक निश्चित होकर अग्रसर होता रहता है। दीपक की लौ में ध्यान के नैरन्तर्य की भावना विद्यमान है। यह तात्त्विक दीपक, बिना लौकिक उपादानो के ही, ऐसी दिव्य-ज्योति विकीर्ण करता है, जिससे अग-जग सभी प्रकाशित हो उठते है और प्रिय की दिव्य झाँकी के दर्शन सुलभ हो जाते हैं। गगन-मडल या आकाश-मडल में ही ऐसे दिव्य दीपक को दीपित करने अथवा होने का कथन है।[६]

---

१. 'आगे चलूं पंथ नहिं सूझै, पाछे परै न पाँव।
ससुरे जाऊँ पिया नहिं चीन्हैं, नैहर जात लजाउँ॥'—धनी धरम० शब्दा०, पृ० १४

२. 'साँई के सग सासुर आई।
भयो विवाह चली बिन दूलह, बाट जात समधी समझाई॥'
—कबीर बीजक, पृ० १६७
'नैहर मे कुछ गुन नहिं सीख्यो, ससुरे मे भई फुहरिया।'
प० बा० (तीसरा भाग), पृ० ३२

३. 'चोलिया पहिरि धनि चली गवनवा, सेत पितम्बर लागे हिंडोल।
धरमदास बिनवै कर जोरी, नैहर सुपना भयल अब भोर॥'
—धनी धरम० शब्दा०, पृ० ६५

४. 'देश अटपटा बेगम नगरी निगुरै राह न पाया।'
—चरन दास जी की बानी (भाग १), पृ० ३६
'सुन्न सहर में भई सगाई हमरे हँस मँगे हैं।
निरगुन नाम निरालँब चीन्हो, हमरे साथ सगे हैं॥' —गरीब० बानी, पृ० १३८

५. 'दीपक बालि उजीला कीया। गोरख के सिर परबत दीया॥'
—गोरख-बानी, पृ० १५३ तथा १५७
'माटी का मदिर ग्यान का दीपक, पवन बाति उजियारा।
तिहि उजियारै सब जग सूझै, कबीर ग्यान बिचारा॥'
—कबीर ग्रंथावली, पृ० १७२

६. 'गगन मँदिल दीपक धरौ हो, भवन करौ उँजियार।'
—धनी धरमदास जी की शब्दा०, पृ० ५५
'दरिया दीपक राम का गगन मंडल मे जोय।'
—दरियासाहब (मारवाड़ वाले) की बानी, पृ० ३२

(शेष अगले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में)

दीपक के साथ ही महल, बँगला, मन्दिर, भवन, अगम-घर को भी शरीर अथवा शिरोभाग केलिए प्रयुक्त किया गया है।[1] ऐसा भवन जिसमें दिव्य दीपक अपनी जगमग ज्योति केलिए अधिष्ठित हो, उसकी अनन्त शोभा का गायन सन्तो ने किया है।

नाद-विन्दु संयोग—अधोगामी विंदु या शक्ति को योगाभ्यासी प्रयत्न पूर्वक त्रिकुटी अथवा शिव-स्थान पर स्थापित करता है और उस त्रिकुटी स्थान मे चित्त-वृत्ति को केन्द्रित करके समाधी मे लीन करता है।[2] इससे ब्रह्म-पदवी या शून्याकार वृत्ति की प्राप्ति होती है[3] और साधक अजर-अमर हो जाता है। इस प्रकार नाद, शब्द या शिव मे विन्दु या शक्ति को लयकर देना ही नाद-विन्दु सयोग या शिव-शक्ति सयोग कहलाता है।[4] यही

'दीपक जोड़ा नूर का लै अस्थिर वाती।' — गरीबदास जी की वानी, पृ० १७६

'विरहिनी मंदिर दियना वारि।
विन वाती विन तेल जुगति सो विन दीपक उँजियार॥'
—यारीसाहब की रत्नावली, पृ० १

'दीपक तत्त तेल विन वाती, जगमग जोति वरी।'
—तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३२

'तिस मे जरै चिराग विना रोगन विन वाती।
छः रित वारह मास रहत जरतै दिन राती॥' —प० वा० (पहला भाग), पृ० ७०

१. 'सुन्न महल मे महल हमारा, निरगुन सेज विछाई।
चेला गुरु दोऊ सैंन करत है, वड़ी असाइस पाई॥'
—मलूकदास जी की वानी, पृ० २३

'धरती मिली आकाश को रे, ऊँचे महल मे वास पाया।' —या० रत्ना०, पृ० १४

'पलटू अँधियारी मिटी वाती दीन्ही टार।
दीपक वारा नाम का महल भया उजियार॥' प० वा० (पहला भाग), पृ० ७

'महल करै उँजियार तेल विनु दीपक वाती।' प० व० (पहला भाग), पृ० ६२

'गगन के वीच तेल वाती विना, दास पलटू महादीप वारै।'
—प० वा० (भाग दूसरा), पृ० १

२. 'नाद विंदुमय पीठ ध्यायेत्तत्र मनोहरम्।
तत्रोपरि हस युग्म पादुका तत्र वर्तते॥' —घेरण्ड सहिता, ६।१२

३. 'नाद न विंदु न रवि शशि मडल। चिअराअ सहावे मुकल॥'
—चर्यागीतिकोषः, पृ० १०५

४. 'सक्ति रूपि रज आछै सिव रूपी व्यद।
वारह कला रवि आछै सोलह कला चंद॥' —गो० वा०, पृ० १००

'नाद विंद वजाइलै दोउ पूरिलै अनहद वाजा॥' —गो० वा०, पृ० ६७

'अवधू नादै व्यद गगन गाजै, सवद अनाहद वोलै।' —क० ग्रं०, पृ० १५४

'नादहि व्यंद कि व्यदहि नाद, नादहि व्यद मिलै गोव्यंद।' —क० ग्रं०, पृ० १८८

(शेष अगले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में)

विंदु या महाविंदु की साधना है।[1] इस प्रकार की उक्तियाँ उलटवाँसीमूलक कथनों मे देखने को मिली है।

निरंजन—उलटवाँसी शैली मे निरजन शब्द का प्रयोग परम्परा-निर्वाह के रूप मे बहुधा देखने को मिलता है। सम्पूर्ण दृश्य जगत् 'अजन' है। माया के परे जो सार तत्त्व है, वही सन्तो की दृष्टि मे 'निरजन' है। यह शब्द कल्मष रहित ब्रह्म या परमात्म तत्त्व का सूचक है। हठयोग प्रतिपादित ग्रथो मे 'निरजन' शब्द निराकार अथवा शून्यावस्था का द्योतक है।[2] आगे चलकर इस 'निरजन' शब्द का इतना प्रभाव बढा कि इसके नाम पर एक सम्प्रदाय ही चल पडा। निरजनी सम्प्रदाय मे 'निरजन' शब्द का अर्थ इष्ट या आराध्य किया जाता है, जिसका निवास किसी विशिष्ट लोक मे माना जाता है। हठयोगी परम्परा के अनुसार ही सिद्ध और नाथ-साहित्य मे निरजन शब्द शून्य अथवा ब्रह्म या व्यापक तत्त्व का द्योतक है।[3] उलटवाँसी शैली मे निरजन शब्द की बहुशः चर्चा हुई है।[4] बाद के सन्तो मे अजन-निरजन शब्दो का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है।

परचा—आत्मा-परमात्मा के परिचय अथवा आत्म साक्षात्कार के रूप मे परिचय या 'परचा' शब्द का प्रयोग रूढ होगया है। जैसे ही जीवात्मा गुरू के उपदेश अथवा साधनाभ्यास के माध्यम से हृदय के भीतर ही परमात्मा रूप पति का साक्षात् कर लेती है, तब

'पलटू सक्ती सीव का भेद गया अलगाय।
सुरत सुहगिनि उलटि कै मिली सवद मे जाय॥'
—प० बा० (पहला भाग), पृ० ९४

१ व्यद व्यंद सब कोइ कहै। महाव्यद कोइ विरला लहै।
इह व्यंद भरोसे लावै वंध। असथिरि होत न देखौ कध।' —गो० बा०, पृ०१७

२. 'सदानादानुसधानात्क्षीयते पाप सचया.।
निरंजने विलीयेते निश्चित चित्त मारुतौ॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।१०५
'यावन्नोत्पद्यते ज्ञान साक्षात्कारै निरजन।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यते विविधानि च।' —शिव सहिता, २।४८

३ 'देखिए, 'कबीर'—निरंजन कौन है?' —पृ० ५२-६८ तथा
—कबीर साहित्य की परख, पृ० २४४-४६

४. 'उदै अस्त राति न दिन, सरबै सचरा भाव न भिन।
सोई निरंजन डाल न मूल, सब व्यापीक सुषम न अस्थूल।'—गोरख-बानी,पृ० ३९
'अंजन उतपंति वो ऊँकार, अंजन मांड्या सब विस्तार।
कहै कबीर कोई बिरला जागै, अजन छाड़ि निरजन लागै।'
—कबीर ग्रंथावली, पृ० २०१
'गगन गुफा के घाट निरजन भेटिये।' —धनी धरम० शब्दा०, पृ० ३८
'अंजन माया अजन काया, अजन छाया रे।
अंजन राम निरंजन कीन्हा, दादू गावै रे॥' —दादू० बानी (भाग २), पृ०६४

वह विशेष परिचय ही दिव्य परिचय के रूप में जाना जाता है ।[1]

पंचप्राण—कुण्डलिनी जागरण के प्रसंग में शरीरस्थ पंच प्राण-वायुओं का ज्ञान आवश्यक है। शरीर में विभिन्न स्थानों पर प्राण-वायु की स्थिति मानी गई है। इन्हीं के कारण शरीर का ठीक प्रकार से कार्य संचालन होता है। विभिन्न अंगों में स्थिति होने के कारण इनके नाम भी भिन्न-भिन्न हैं ये प्राण-दश हैं—अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय ।[2] इनमें से प्रथम पांच मुख्य हैं, जिनके स्थान इस प्रकार हैं—प्राण हृदय प्रदेश में, अपान नाभि के नीचे, समान नाभि में, उदान कण्ठ में और व्यान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है ।[3] योगाभ्यासी प्राणायाम के द्वारा, विधिपूर्वक इन पवनों को नाभि से ऊपर उठाता है और 'सूर्य भेद कुंभक' के द्वारा मृत्युञ्जय की स्थिति को प्राप्त होता है ।[4] उलटवाँसी शैली में सामान्यतः इस प्राण-वायु को 'पवन' नाम से अभिहित किया गया है ।[5]

पिण्ड-ब्रह्माण्ड—पिण्ड में ब्रह्माण्ड की कल्पना बहुत प्राचीन है। अथर्ववेद में नव-द्वारों वाले शरीर को देवताओं का 'पुर' बताया है, जो उसे जानता है वही ब्रह्मविद् है ।[6] हठयोगी-मान्यता में पिण्ड, अंड या शरीर के भीतर ब्रह्माण्ड विद्यमान माना जाता है। शरीर से बाहर कुछ भी नहीं है। इसी मान्यता के आधार पर सहजयानी बौद्ध, नाथ और सन्तों की साधनाएँ पल्लवित हुई हैं। उलटवाँसी शैली का आधार भी यही धारणा है,

---

१. 'सबदहि सबद सूं परचा हुवा, तब अनन्त एक में समाया ।' —गोरख-बानी, पृ० ८
'घटि-घटि गोरष घटि-घटि मीन । आपा परचै गुर मुषि चीन्ह ।'
—गोरख-बानी, पृ० १५
'घट माँहैं औघट लह्या औघट माँहै घाट ।
कहि कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट ।।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० १३
'जब लग पीव परचा नहीं, कन्याँ कँवारी जाँणि ।
हथलेवा होसैं लिया, मुसकल पड़ी पिछाँणि ।।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ४७

२. 'प्राणोऽपान समानश्चोदान व्यानौ तथैव च ।
नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जय ।।' —घेरण्ड संहिता, ५।५६

३. 'हृदि प्राणो वहेन्नित्यमपानो गुद मण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कंठ मध्यगः ।।
व्यानो व्याप्य शरीरे तु प्रधाना पंच वायवः ।' —घेरण्ड संहिता, ५।६०-६१

४. 'कुंभकः सूर्यभेदस्तु जरा मृत्यु विनाशकः ।
बोधयेत् कुण्डली शक्ति देहानलं विवर्धयेत् ।।' —घेरण्ड संहिता, ५।६७

५. 'माती-माती स्रपनी दसो दिसि धावै ।
गोरषनाथ गारड़ी पवन वेगि ल्यावै ।।' —गोरख-बानी, पृ० १४०

६. 'अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानाम् पूरयोध्या ।
तस्याम् हिरण्ययः कोषः स्वर्गोज्योतिषावृतः ।।'
—अथर्ववेद १०।१।२।१५ तथा ११।२।३२

क्योंकि इसमें भी लोक-धारा या लोक-मार्ग के प्रतिकूल, वाह्य वृत्ति को उलटकर अन्तर्मुखी किया जाता है, यही सन्तो का उलटवास है। ऐसा करने पर ही साधक मे गागर मे सागर, विन्दु मे सिन्धु, अण्ड मे ब्रह्माण्ड समाहित करने की सामर्थ्य जागृत होती है। बाह्य जगत् मे अस्तित्त्वान् गगा, यमुना, सरस्वती, त्रिवेणी, सगम, मानसरोवर, मथुरा-काशी, चन्द्र-सूर्य, पवन, जल, आकाश आदि घट के भीतर ही विद्यमान माने हैं।[1] जिस प्रकार लोक मे किसी दुर्ग को जीता जाता है, वैसे ही साधक को कायागढ पर विजय प्राप्त करनी होती है।[2]

ब्रह्माग्नि—उलटवांसी मूलक कथनों में ब्रह्म-अग्नि प्रज्ज्वलि करने, उद्दीप्त करने, दीपित करने आदि के कथन मिलते है। ये कथन ब्रह्मज्योति, ज्ञानाग्नि, वीर्य का तेज आदि के सूचक हैं। ऐसे कथनो से अद्वितीय ब्रह्म-ज्ञान की ध्वनि निकलती है। प्रायः सभी सन्तो ने इस शब्द का प्रयोग किया है।[3] यह शब्द अपने इस विशेष अर्थ मे रूढ-सा हो गया है। परन्तु इसकी व्याप्ति वेदान्त के ब्रह्म के समान नही है।

मरजीवा—सामान्य अर्थ मे 'मरजीवा' शब्द का प्रयोग सागर की तह मे पैठ कर मोती खोज निकालने वाले केलिए होता है। उलटवाँसी-पदो मे 'मरजीवा' शब्द ससार-सागर

---

१. 'जिस कारनि तटि तीरथि जाही, रतन पदारथ घट ही माही ॥'
—कबीर ग्रथावली, पृ० १०२

'काया माहे सागर सात। काया माहे अविगत नाथ ॥
काया माहें नदिया नीर। काया माहे गहिण गभीर।
काया माहे कासी थान। काया माहे करै सनान ॥'
—दादू० बानी (भाग १), पृ० ५२

'सोर भया ब्रह्माण्ड अड मे धधक मचाई।
जब फूटा असमान गगन मे सहज समाई ॥
तुलसी गति मिति लखि पडी निरख लखा सब अड।
स्रुति चढ़ि गगई अकास मे सोर भया ब्रह्माण्ड ॥'
—तुलसी० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३९

२. 'काया गढ भीतर नौ लख षाई, जत्रफिरै गढ लिया न जाई ॥
ऊँचे नीचे परवत झिलिमिलि षाई, कोठणी का पाणी पूरण गढ जाई ॥
आदिनाथ नाती मछिद्रनाथ पूता, कायागढ़ जीतिलै गोरष अवधूता ॥'
—गोरख-बानी, पृ० १३४

३. 'ब्रह्म अगनि मे काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै।' —कबीर ग्रथावली, पृ० १०९
'ब्रह्म अगिन परगट करै, कर्म मर्म जरावै।' —धनी धरम० शब्दा०, पृ० १
'ब्रह्म अगिन ऊपर जलै, चलत प्रेम की बाय।
दरिया सीतल आतमा कर्म कद जल जाय ॥'
—दरिया० (मारवाड़ वाले) बानी, पृ० १५
'तत कर तेल सुरत की बाती, हाथै दीपक बाली।
ब्रह्म अगिनि परघट करि तन मे, महल करी उजियाली।'
—तुलसी० शब्दा० (भाग २), पृ० २७२

से चिन्तन के आधार पर ज्ञान-रत्न प्राप्त करने वाले केलिए प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार गोताखोर को जल की गहराई में प्रवेश करना होता है, वैसे ही साधक को हृदयोदधि मे निमग्न होकर, अथवा भव-सागर की सूक्ष्मता पर विचार करके, वाह्यवृत्ति को अन्तर्मुखी करके साधना करनी पड़ती है। वैसे भी साधक सिद्ध कोटि मे पहुँच कर काल की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं।[1] वैसे 'मरजीवा' शब्द में उलटवाँसी तत्त्व विद्यमान है, क्योंकि मरा हुआ जीवित कैसे ? साधनाभ्यास द्वारा, वृत्तियों का संयमन करते-करते साधक जीवन मुक्ति की दशा को प्राप्त हो जाता है।

मानसरोवर स्नान—हठयोग-विद्या प्रतिपादित ग्रंथों मे मानसरोवर-स्नान और कैलाश वास का महत्त्व बताया गया है।[2] मानसरोवर और कैलाश की स्थिति घट के भीतर है। अभ्यास करते-करते साधक जब प्राणवायु को सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र मे चढ़ा ले जाता है, तब शक्ति या कुंडली का शिव से समागम होता है। साधक केलिए यही परमानन्द की अवस्था होती है। चित्त-वृत्ति को यहीं पर केन्द्रित करके परमसुख का अनुभव होता है। इस प्रकार यह परमानन्द ही कैलाशवास अथवा मरजीवा—(जीवन्मुक्त) अवस्था है। हंस स्वभाव वाली जीवात्मा केलिए यही मानसरोवर स्नान है। उलटवाँसी मूलक कथनों में उक्त पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है।[3]

माया—उलटवाँसियो मे माया केलिए अनेक सांकेतिक प्रतीको का प्रयोग हुआ है। इन प्रतीकों में माया के अनेक रूप कार्यशील है। व्यापक रूप मे यहाँ वेदान्त प्रतिपादित माया का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। सन्तो में नारी के प्रति विरोध की भावना केवल

---

१. 'मृतक उठ्या धनक कर लीयै काल अहेड़ी भागा।
उदया सूर निस किया पयांना, सोवत थे जब जागा॥'—कबीर ग्रंथावली, पृ० ८६
'मृतकहि देपि डरानों काल।'—सुन्दर ग्रथावली (द्वितीय खण्ड), अग २२
'मरजीवा मन मारि महोदध पैठ रे।
अनहद सब्द घमोर जहाँ टुक बैठ रे॥' —गरीबदास जी की बानी, पृ० ११८
'सो पावैगा लाल जाइ के गोता मारै।
मरजीवा ह्वै जाय लाल को तुरत निकारै॥
पलटू गुरु भक्ति बिना भेप भवा पंगाल।
जो साहिब का लाल है, सो पावैगा लाल॥'
—प० बा० (पहला भाग), पृ० ५२

२. 'ब्रह्माण्ड व्यस्तदेहस्थं बाह्ये तिष्ठति सर्वदा।
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति॥' —शिव संहिता, ५।१५२

३. 'मानसरोवर मनसा कूलंती आवै, गगन मंडल मठ माहै रे।'
—गोरख-बानी, पृ० १०५

'मान सरोवर तान जहाँ अमी सागर हो।
हंसा करै बिसराम तो अग्र उजागर हो॥' —धनी धरमदास शब्दा०, पृ० ४२

वासना के विरोध केलिए ही है। वही माया रूप 'वासना' सास,[१] नारि,[२] नागिनि[३] बगुली[४] आदि प्रतीकों मे अभिव्यक्त हुई है।

मैदान—साधनाभ्यासी केलिए चौगान खेल के खेलने का वर्णन सन्तो की वाणी मे प्राय: रूढ़-सा दिखाई देता है। इसी सम्बन्ध मे गगन-शिखर या त्रिकुटी स्थान, जहाँ सूरमा-साधक साधना के अवरोधक तत्त्वो से द्वन्द्व करता है, 'मैदान' नाम से सन्तो की बानियो मे प्रयुक्त हुआ है।[५]

मैदान के प्रसग मे ही 'हृद-बेहद' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। इस शब्द का प्रयोग साधना की दुष्करता तथा परम पद की प्राप्ति की दुर्लभता को व्यजित करता है। इसके द्वारा साधक की विशेष मानसिक अवस्था की सूचना मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे जीवात्मा अपनी ससीमता को छोड़कर असीमता मे विलय हो गई है।[६]

योग-नाड़ियाँ और उनका विशिष्ट समागम—इडा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीन योग नाडियाँ हठ-योग परम्परा मे प्रसिद्ध है। ये गगा, यमुना और सरस्वती इन सरिताओ

---

१. 'साँई के सग सासुर आई।' —कबीर बीजक, पृ० १६६

२ 'नारि एक संसारहिं आई, माय न वाके बापहिं जाई।
गोड़ न मूड न प्राण-अधारा, तामहँ भमरि रहा ससारा॥'—कबीर बीजक, पृ० ७८
'नर से निकसी इक नारी, कोइ बूझे साध बिचारी।
हाथ न पाँव सीस नहिं काया, खाया सब जग झारी॥
माई न बाप आप से उपजी, खुद खसम की कीन्ह खुवारी॥'
—प० बा० (दूसरा भाग), पृ० १६६

३. 'मारी मारी स्रपनी निरमल जल पैठी।' —गोरख-बानी, पृ० १३९

४. 'बुगली नीर बटालिया, सायर चढ्या कलक।
और पँखेरू पी गए, हस न बोवै चच॥' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ३५

५ अवधू मनसा हमारी गीद बोलिये, सुरति बोलियै चौगान।
अनहद षेलिबा लागा, तब गगन भया मैदान॥' —गोरख-बानी, पृ० ३२
'पलटू कफ्फन बाँधि कै खेचौ सुरति कमान।
सत चढे मैदान पर बाँधे तरकस ज्ञान॥' —प० बा० (पहला भाग), पृ० ४२

६ 'हदै छाड़ि बेहदि गया, हुआ निरतर बास।
कवल जु फूल्या फूल बिन को निरषै निजदास॥' —कबीर ग्रथावली, पृ० १२
'हद्द अनहद्द के पार मैदान है, उसी मैदान मे सोय रहना।
पैर दक्खिन करै सीस उत्तर धरै, सबद की चोट सम्हारि सहना॥'
—प० बा० (भाग १), पृ० २
'हद्द बेहद्द के पार परचा मिले, होइ निज हस सोई महल पावै।'
—तुलसी० शब्दा० (भाग १), पृ० ८

के रूप में प्रतीकायित हुई हैं। उलटवाँसी मूलक पदो मे इनका अनेक स्थानों पर व्यवहार हुआ है।*

इडा—इडा को इड़ा, इंगला, गगा,[१] वरुणा आदि नामों से जाना जाता है। इस नाड़ी की स्थिति मेरुदंड के सहारे बाईं ओर को है, जो नासिका के दाईं ओर जाती है, वहाँ इसका सम्बन्ध 'आज्ञा चक्र' से हो जाता है। इसके अधिष्ठाता 'ब्रह्मा' माने गए हैं। ब्रह्मरन्ध्र में स्थित 'चन्द्र' से इस नाड़ी के द्वारा अमृत स्राव होता है। इसलिए इसे चन्द्र नाड़ी भी कहते हैं, जो स्वभाव से शीतल और पवित्र होती है। सम्भव है इसीलिए इसे गगा नाम से अभिहित किया गया है। बौद्ध-साहित्य मे इसे ललना, आली, धमनी, रज आदि नामों से जाना जाता है। यह 'प्रज्ञा' रूप है।[२]

पिंगला—पिंगला को यमुना,[३] रसना, सूर्य नाड़ी,[४] दिवस आदि नामों से अभिहित किया गया है। इस नाड़ी मे सूर्य का वास माना गया है, अतः यह स्वभाव से उष्ण है। इसकी स्थिति मेरुदंड के दाहिनी ओर और नासिका के बाईं ओर है। इसलिए यह 'आज्ञा चक्र' के वामस्थ रहती है। इसके अधिष्ठाता विष्णु माने गये हैं। सिद्धो की परम्परा में इसे चमन, शुक्र, उपाय आदि नामों से जाना जाता है।

सुषुम्ना—हठयोग-साधना मे सुषुम्ना योग-नाड़ी का विशेष महत्त्व बताया गया है। वैसे तो शरीर मे बहत्तर हजार नाड़ियाँ मानी गई है, परन्तु उनमे शाभवी रूप सुषुम्ना का विशेष स्थान है।[५] इसके भीतर भी वज्रा, चित्रिणी आदि, ब्रह्म नाड़ियाँ निवास करती हैं।[६] ब्रह्मनाड़ी[७] ही वास्तव मे कुंडलिनी का ऊर्ध्वगामी मार्ग है। इसे शून्य पदवी, श्मशान, शाभवी आदि नामो से भी अभिहित किया है।[८] इसको इडा-पिंगला के मध्य मे, मेरुदंड के

---

*. टिप्पणी—इसके विशेष परिचय केलिए देखिये आगे दिया हुआ योग-चित्र। पृ० १६४

१. —हठयोग प्रदीपिका, ३।११०

२. —बौद्धगान और दोहा, पृ० ६

३. 'इडा भगवती गगा पिंगला यमुना नदी।' —हठयोग प्रदीपिका, ३।११०

४. 'अवधू इडा मारग चद्र भणीजै, प्यंगला मारग भांन।
सुषमनां मारग वाणी बोलिये त्रिय मूल अस्थानं॥' —गोरख-बानी, पृ० ३३

५. 'द्वासप्तति सहस्राणि नाडी द्वाराणि पजरे।
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।१८
'वेद शास्त्र पुराणानि सामान्यगणिका इव।
एकैव शाभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।३५

६. देखिए, 'कबीर'—हठयोग की साधना, पृ० ४५

७. 'बिल प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यतर व्रजेत्।' —हठयोग प्रदीपिका, ३।६६

८. 'सुषुम्ना शून्य पदवी ब्रह्मरध्र महापथः।
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येक वाचकाः॥' —हठयोग प्रदीपिका, ३।४,

समानान्तर माना गया है। मध्यवर्तिनी होने के कारण इसे 'सरस्वती' भी कहा जाता है।[1] सुषुम्ना के अधिष्ठाता देवता शिव है।

सुषुम्ना-योगनाड़ी मे ही षट्चक्रो की मान्यता है, जिनका भेदन करती हुई कुडलिनी सप्तम अर्थात् सहस्रार चक्र मे प्रवेश करती है।[2] बद्धजीवों मे कुडलिनी द्वारा सुषुम्ना का मुख अवरुद्ध बना रहता है, परन्तु शक्ति-चालन मुद्रा के द्वारा जैसे ही कुडलिनी ऊपर को खिसकती है, वैसे ही, उसी मार्ग से साधक प्राण-वायु को ब्रह्मरन्ध्र की ओर ले जाता है।[3] जब प्राण-वायु सुषुम्ना मे प्रवाहित होने लगती है, तब साधक को 'मनोन्मनी' अवस्था की प्राप्ति होती है।[4] सहजयानी सिद्धो की वानी मे सुषुम्ना को 'डोम्बी' नाम से जाना गया है।[5]

चन्द्र-सूर्य संगम— सहस्रार चक्र मे योनि के आकार का कोई 'चन्द्र' स्थान माना गया है, जो अधोमुखी है, जिससे अमृत का स्राव निरतर होता रहता है और मूलाधार चक्र मे कोई गोलाकार स्थान है, जिसे 'सूर्य' नाम से अभिहित किया जाता है, इससे विष प्रवाहित होता है, जो पिंगला योग-नाडी द्वारा नासिका रन्ध्र के बाईं ओर पहुँचता रहता है, तथा 'चन्द्र' से प्रस्रवित अमृत इडा द्वारा अधोगामी बना रहता है, जो सूर्य मे पडकर भस्म हो जाता है। प्रवाह-काल मे 'जीवो' की यही दशा बनी रहती है, जिससे जरा-मृत्यु की प्राप्ति होती है।[6] साधक योगाभ्यास से अमृतस्राव को अवरुद्ध करके उसे ब्रह्माण्ड मे ही लय कर लेता है और उसे सूर्य-कुण्ड मे पड़ने से बचा लेता है। यही चन्द्र के द्वारा सूर्य का ग्रहण अथवा चन्द्र-सूर्य सगम है। उलटवाँसी मूलक कथनो मे इडा-पिंगला को त्रिकुटी स्थान मे मिलाने को 'गगा-यमुना सगम',[7] सुषुम्नामार्ग से प्राणवायु को ऊर्ध्वगामी करने और

---

१. 'मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासा सगोऽति दुर्लभः।' —शिव सहिता, ५।१३०

२. 'प्रसुप्ता भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया॥
उद्घात्येत्कपाटं तु तथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वार प्रभेदयेत्॥' —गोरक्ष पद्धति, १।५०-५१

३. 'ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्णाया समुद्गता।
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुख ध्रुवम्॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽय सुषुम्णा व्रजति स्वतः॥' —गोरक्ष-पद्धति, १।५६-८

४. 'सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी।' —हठयोग प्रदीपिका, ४।२०

५. 'डोम्बीएर सङ्गे जो जोइ रत्तो।
खणइ न छाडअ सहज उन्मत्तो॥' —चर्यागीतिकोष, पृ० ६४

६. 'यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृत दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडोजरायुतः॥' —हठयोग प्रदीपिका, ३।७७

७. 'गगा जउना माझे रे वहइ नाइ।' —चर्यागीतिकोष., पृ० ७४
'गग जमुन मोरी षाटलडी रे हस गवन तुलाई जी।' —गोरख-वानी, पृ० ९३

(शेष अगले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी मे)

तज्जन्य सुख की अनुभूति करने की 'सुखमनि सेज पर विश्राम'[1] तथा चन्द्र नाड़ी के द्वारा स्रवित अमृत को अवरुद्ध करके ब्रह्माड में लय करने तथा सूर्य-नाड़ी का प्रवाह रोकने को 'चन्द्र-सूर्य संगम'[2] आदि रूपो मे उल्लेख मिलता है।

'चंदा गोटा टीका करिलै, सूरा करिलै वाटी।
मूँनी राजा लूगा धोवै, गग जमुन की घाटी॥' —गोरख-बानी, पृ० १६६
'गग तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहाना।' —कबीर ग्रथावली, पृ० ३
'गग जमुन तहँ नीर नहाइ। सुषमन नारी सग लगाइ।'
—दादू० बानी (भाग २), पृ० २६
'इँगला पिंगला सुखमनि घाटा। तहँ वक नाल रस पीवै बाटा॥
सलिता तीनि संगम तहँ भयऊ। बारि बयारि अमृत रस पयऊ॥
चंदसूर दुइ करहिं विलासा। उदय अस्त फिरि होय प्रगासा॥
इँगला चद्रवाहिनी कहिया। पिंगला भानु प्रगासित अहिया॥'
—दरिया सागर, पृ० ५६
'त्रिकुटी सगम होय कर गंग जमुन के घाट।'
—दरिया साहब (मारवाड़वाले की) बानी, पृ० ४५
'दहिने गंगा बाये जमुना, मद्ध सुरसती धारा।
उलटामीन चढै सरवर में, ऐसा खेल हमारा॥' —गरीबदास की बानी, पृ० १५०
'गगरी जल गगन भराऊँ, तेरी सुरति अघर घर छाऊँ।
गगा गगन घाट है सगम, जगम जल बतलाऊँ॥'
—तुलसी० शब्दा० (भाग ३), पृ० १७०

१. 'सुखमन सेज बिछाओ गगन मे, नित उठ करो निहोर।'
—धनी धरम० की शब्दा०, पृ० ४६
'मूल मे गाँठि परी दृढ़ से, जहँ सुखमन सेज कि राह सँवारी।'
—बुल्ला० शब्दा०, पृ० २१
'इंडाला पिंगला तारी देवै, सुखमन गावत होरी।'
—भीखासाहेब की बानी, पृ० ४४
'इड़ा औ पिंगला सुखमना घाट है, सुखमना घाट मे लगी नल्ली।'
—पलटू० बानी (भाग २), पृ० २६

२. 'सासु घरे घालि कोञ्चा ताल।
चान्दसुज वेणि पखा फाल॥' —चर्यागीतिकोष:, पृ० १२
'अमावस कै घरि झिलिमिलि चदा, पूनिमं कै घरि सूर।' —गोरख-बानी, पृ० २०
'चद सूर दोइ खमवा, वक नालि की डोरि।' —कबीर ग्रथावली, पृ० ६४
'गगा जमुना सरसुती हो, चद सूर के बीच।
अर्घ उर्घ के मध्य मे, अमी अरगजा कीच॥' —धनी धरम० शब्दा, पृ० ५५
'चांद सूर एकत्र करिकै, सुखमना धरि पौन।
तहँ होत है अनहद गहागह, मिटी मन की घौन॥' —बुल्ला० शब्दा०, पृ० ८

शब्द-शून्य—श्रीमद्भागवत मे शब्द-ब्रह्म की चर्चा है।[1] विष्णु सहस्रनाम में विष्णु के सहस्र नामो मे एक नाम 'शून्य' है, जिसकी शकराचार्य ने 'सर्वविशेष रहितत्वात् शून्यवत् शून्य' रूप मे व्याख्या की है। योगदर्शन मे निर्विकल्पक समाधि के सम्बन्ध मे शून्य का उल्लेख है, परन्तु वहाँ सबीज वृत्ति के आत्यान्तिक अभाव को ही शून्य बताया है। व्यापक ब्रह्म तत्त्व के रूप में भी शून्य का उल्लेख है।[2] साधक जब सुरति अथवा वृत्ति को महाशून्य में विलय करता है, तो मर्दल ध्वनि सुनाई देती है।[3] आकाश शून्यरूप माना जाता है तथा आकाश का गुण 'शब्द' है। अतः गुण-गुणी के अभेद से 'शब्द' का आकाश, शून्य, ब्रह्म आदि रूपो में कथन है।[4]

सहजयानी सिद्धो के साहित्य में 'युगनद्ध' प्रक्रिया अथवा प्रज्ञोपाय की सिद्धि मे 'शून्य' को महत्त्व मिला है। उन केलिए शून्यावस्था ही महासुख की अवस्था है।[5] नाथ-योगियो मे आकर 'शून्य' शब्द के प्रयोग की व्याप्ति और बढ गई थी। यहाँ आकर 'शून्य' का व्यवहार परमतत्त्व, परमपद के अतिरिक्त परमनाद, ब्रह्मरन्ध्र, दशम द्वार, शिवलोक आदि से भी हो गया।[6]

सन्तो की बानियो मे पूर्व परम्परा अक्षुण्ण बनी रही है। अनेक स्थानो पर, अनेक रूपों में शून्य-शब्द की एकता, शब्द-ब्रह्म का महत्त्व और परमपद के रूप मे कथन मिलते है।[7]

---

१. 'शब्द ब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रिय मनोमयम्।' —श्रीमद्भागवत पुराण, ११,२१।३६

२. 'अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्य कुभ इवाम्बरे।
अन्त पूर्णो. बहिपूर्णः पूर्ण कुभ इवार्णवे ॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।५६
'जल मे कुभ कुभ मे जल, है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुभ जल जलहि समाना यह तत कथ्यौ गियानी ॥' —क०ग्रं० ,पृ० १०३

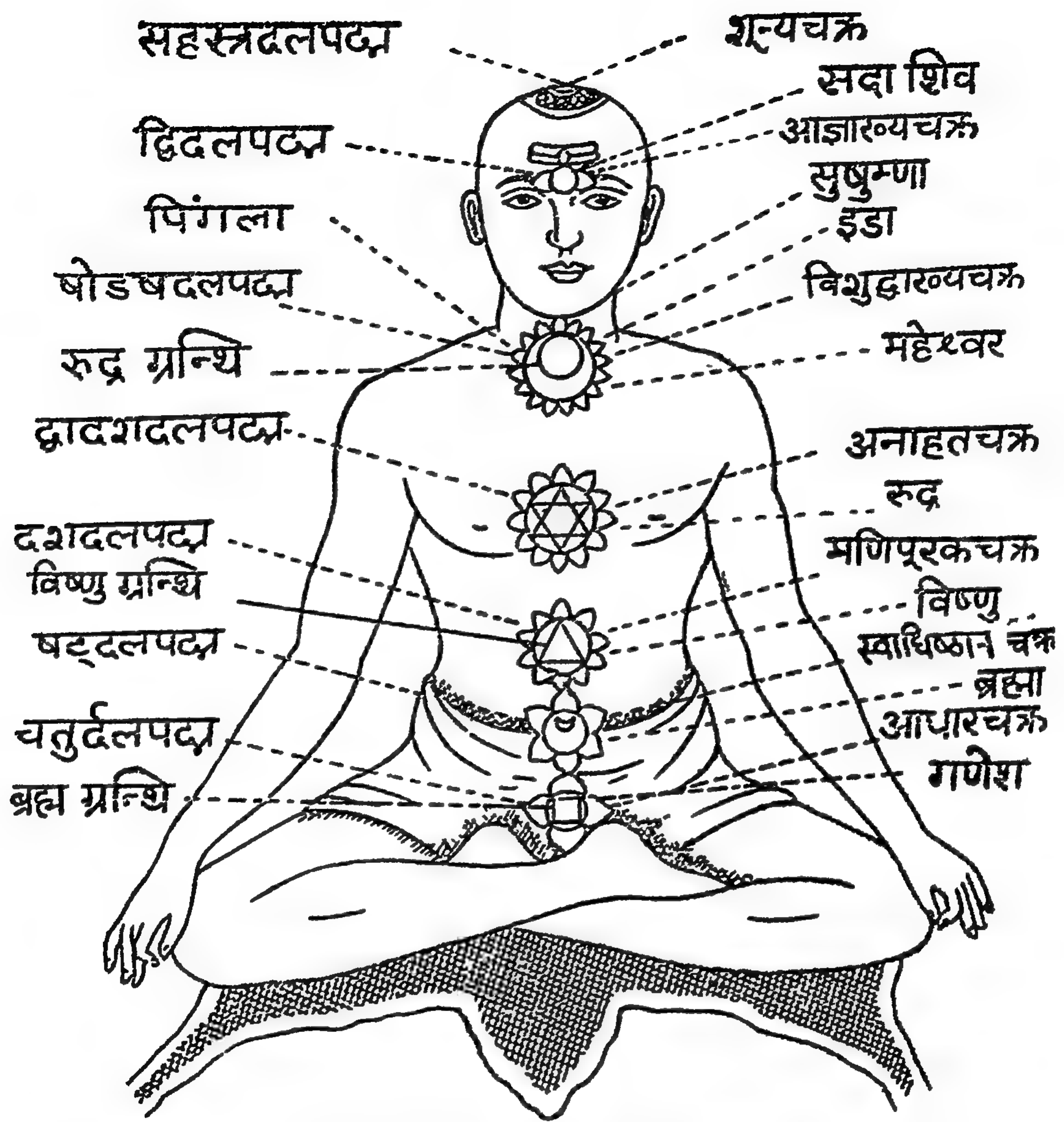
३. 'तृतीयाया तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः।
महाशून्यं तथा याति सर्व सिद्धि समाश्रयम् ॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।७४

४. 'तावदाकाशसकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते।
नि.शब्द तत्पर ब्रह्म परमात्मेतिगीयते ॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।१०१

५. 'विषयेन्द्रियग्रामानहन् शून्यता राजो महासुख नामा।
तूर्य शब्द. शंखध्वनि. अप्रतिहत नाद नदति ॥' —चर्यागीतिकोषः, पृ० १५७

६ 'सुनि ज माई सुनि ज बाप। सुनि निरजन आपै आप।
सुनि कै परचै भया सथीर। निहचल जोगी गहरगमीर ॥' —गोरख-बानी, पृ० ७३

७. 'लागी चोट सबद की, रह्या कबीरा ठौर।' —कबीर ग्रथावली, पृ० ६४
'चोट सहारै सबद की दरिया साँचा सूर।'—दरिया (मारवाड़ वाले) बानी, पृ० १०
'फूटि गया असमान सबद की धमक मे।' —प० बा० (दूसरा भाग), पृ० ६१
'सब्द सब्द सब कहे सब्द का सुनो ठिकाना।
सार सब्द है न्यार पार निरसब्द कहाना ॥
सुन्न सहर से सब्द आदि नित उठै अवाजा।
अरे हाँरे तुलसी निरसब्दी धुन सुन्नि सुन्नि से न्यारा ॥'—तु० श० (भाग १), पृ० ३०



कुण्डलिनी शक्ति-योग

षट्चक्र—हठयोगी परम्परा मे षट्चक्रो के भेदन का कथन है। ये षट्चक्र मेरुदड के सहारे सुषुम्ना योग-नाड़ी मे स्थित माने गए हैं। इन्ही को भेदती हुई कुडलिनी शक्ति सहस्रार चक्र में पहुँचती है। षट्चक्रो के भेदन के पश्चात् साधक को परमानन्द की अनुभूति होती है।[1] ये चक्र हैं—(१) मूलाधार, (२) स्वाधिष्ठान, (३) मणिपूर, (४) अनाहत, (५) विशुद्ध और (६) आज्ञा चक्र। मूलाधार चक्र गुह्य स्थान के समीप स्थित माना है। इसमें

---

१. —शिव संहिता, ५।६४-६७

चार पखुडियाँ मानी गई हैं। मूलाधार पर मनन करने से साधक को 'दर्दुरी सिद्धि' की प्राप्ति होती है। निरन्तर ध्यान से वह आकाश-गति को प्राप्त कर लेता है।[१]

दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है, जो लिगमूल मे स्थित है। इसमे छः पखुडियो की कल्पना है। यह रक्तवर्ण का माना गया है। इसकी सिद्धि हो जाने पर सुन्दरी देवागनाएँ साधक को आकर्षित करती हैं और वह अणिमादिक सिद्धियो का अधिकारी हो जाता है।[२] तीसरा चक्र 'मणिपूर' है। इसकी दस पखुडियाँ और वर्ण सुनहला माना गया है।[३] इस चक्र पर चिन्तन करने से साधक इच्छाओ का स्वामी हो जाता है। चतुर्थ चक्र पर चिन्तन करने वाले योगी को त्रिकालज्ञ की पदवी मिलती है।[४] पाँचवा चक्र 'विशुद्ध' है। इनमे सोलह पखुड़ियाँ मानी गई है और इसका वर्ण दैदीप्यमान स्वर्ण के समतुल्य माना गया है।[५] जो इस चक्र पर चिन्तन करता है, वह योगेश्वर की पदवी पा लेता है। छटा चक्र 'आज्ञा' है। इसकी स्थिति त्रिकुटी के मध्य मे है। इसमे दो दल होते है, जिनके सकेताक्षर 'ह' और 'स' हैं। इसका रग श्वेत माना गया है। इसी चक्र के दोनो ओर इड़ा और पिंगला नाडियाँ आती है, जिन्हे वरुणा और असी भी कहा जाता है। यही 'शिव' का वास होता है। इस स्थान पर पहुँचा हुआ योगी परम तेज का अधिकारी होता है।

आज्ञा चक्र के ऊपर सहस्रदल कमल या सहस्रार चक्र की कल्पना है। यह तालु मूल मे स्थित माना है।[६] यही सुषुम्ना का छिद्र है, जिसे ब्रह्मरन्ध्र कहते है। इस स्थान मे विचरण करना ही साधको का परम लक्ष्य है। सन्तो ने कही-कही इस चक्र के ऊपर अष्टम चक्र या 'सुरति कमल' का उल्लेख किया है,[७] जिसमे पहुँचकर व्युत्थान-काल मे भी योगी का

---

१. 'यः करोति सदा ध्यान मूलाधारे विचक्षण।
तस्य स्याद्दर्दुरी सिद्धिर्भूमित्याग क्रमेण वै॥'
—शिव सहिता, ४।६४ से ६७ तक

२. 'द्वितीयतु सरोज च लिगमूले व्यवस्थितम्।
वादिला त च षड्वर्णं प्रभास्वर षड्दलम्॥' —शिव सहिता, ५।७५

३. 'तृतीय पकज नाभौ मणिपूरक सज्ञकम्।
दशार डाफिकातार्णं शोभित हेमवर्णकम्॥' —शिव सहिता, ५।७६

४. 'हृदयेऽनाहत नाम चतुर्थ पकज भवेत्।
कादिठातार्णं सस्थान द्वादशारसमन्वितम्॥
अतिशोण वायु बीज प्रसादस्थानमीरितम्॥' —शिव सहिता, ५।८३

५. 'कठस्थान स्थितपद्म विशुद्ध नामपचमम्।
सुहेमाभ स्वरोपेत षोडशस्वर सयुतम्॥' —शिव सहिता ५।९०

६. 'अतः ऊर्ध्वं तालु मूले सहस्रार सरोरुहम्।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूल सविवरं स्थितम्॥' —शिव सहिता ५।१२०

७ देखिए, 'कबीर'—हठयोग की साधना, पृ० ४५

चित्त वासना ग्रस्त नहीं होता। उलटबाँसी मूलक कथनों में षट्चक्रों के भेदन का उल्लेख अनेक बार हुआ है।[1]

सहज या सुन्न-समाधि—'सहज' शब्द की परम्परा सहजयानी बौद्ध-साहित्य से प्रयोग में आई है। इस में 'प्रज्ञा' और 'उपाय' के संयोग में स्वाभाविकता को प्रश्रय मिला है। वहीं से 'सहज' में शून्य की भावना ने भी प्रश्रय पाया है।[2] बौद्ध-साहित्य मे सहज तत्त्व भाव-अभाव दोनों से परे माना है। यही समरसता, महासुख की स्थिति है।[3] नाथ-पंथी योगियों में यह सहज-भावना शून्य के साथ तदाकार होकर सहज ज्ञान के रूप मे पुष्ट हुई है। परम पद की प्राप्ति सहज जीवन के द्वारा हो सकती है। जहाँ चन्द्र और सूर्य का उदय हुए बिना ही 'ब्रह्म ज्योति' का प्रकाश हो जाता है, उस अवस्था मे सहज-ज्ञान का आनन्द होता है।[4]

'चितानंदं तदा जित्वा सहजानंदसंभव' (ह० प्र०, ४।७५) रूप 'सहज' अथवा सहजानंद सन्त कबीर तक आते-आते ज्ञान के साथ-साथ भक्ति तत्त्व से पुष्ट होकर एक विशेष 'रहनी' के रूप में परिवर्तित हो गया था।[5] इसी सहज-सुख में तल्लीन बना रहना 'सहज या-सुन्न समाधि' का द्योतक है। सभी निर्गुणी सन्तों ने इस विशेष-रहनी अथवा

---

१. 'उलट्या पवन षट चक्र बेधिया, ताते लोहै सोषिया पांणी।'
—गोरख-बानी, पृ० ३६

'अरध उरध की गंगा जमुनां मूल कवल को घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट।' —कबीर ग्रंथावली, पद १८
'बारह मंडल नौखंड पृथवी, ता मैं शब्द निनार।
उलटि पवन षटचक्रहि छेदै, देखहु कया बिचार॥' —दरियासागर, पृ० ३६

२. देखिए,—कबीर, पृ० ७२

३. 'सहजे थिर करि वारुणी सान्धे। जे अजरामर होइ दिढ कान्धे,'
—चर्यागीतिकोष., पृ० ६

'भुसुकु भणइ मइ बुझिअ मेलें, सहजानन्द महासुख लीलें।'
—चर्यागीतिकोषः, पृ० ८६

४. 'जिहि घर चंद सूर नहि ऊगै, तिहि घरि होसि उजियार।
तिहां जे आसण पूरौ तौ, सहज का भरौ पियाला मेरे ग्यांनीं॥'
—गोरख-बानी, पृ० ६०

५. 'सिद्धों के शून्यवत् सहज तत्त्व को यद्यपि कबीर ने नाथ पंथियों के समान किसी अनिवर्चनीय निर्गुण तत्त्व के समान ही स्वीकार किया है, फिर भी अपनी सहज-साधना में उन्होंने ज्ञान से कहीं अधिक भक्ति का ही पुट दिया है और इस प्रकार इस तत्त्व को किसी अपूर्व रहनी में भी ढाल कर उसे अत्यन्त उपयोगी भी सिद्ध कर दिया है। —कबीर साहित्य की परख, पृ० २४८

ससाधि के सम्वन्ध मे कथन किया है।[1]

साधना-मार्ग—हठयोग परम्परा में तीन साधना मार्गों का संकेत मिलता है—(क) पिपिलिका मार्ग, (ख) मीन मार्ग, (ग) विहंगम मार्ग।

(क) पिपीलिका सूक्ष्म वृत्ति या बुद्धि का द्योतक है। इस साधना मे साधक सूक्ष्म विचार पूर्वक, बड़ी सावधानी से योगाभ्यास करता है। जिस प्रकार चीटी स्निग्ध या चिकनी दीवाल पर बडी सावधानी से चढ़ती है, वैसे ही साधक को अपनी वृत्ति सावधानी पूर्वक स्थिर करनी पडती है, क्योकि साधना-काल मे प्रलोभनों और आकर्षणो की बाधाएँ उपस्थित होती है। इस मार्ग पर, दुस्साध्य होने के कारण, पिपीलिका के पैर भी नही टिक पाते, बैल लादकर अथवा बैल स्वभाव के मन को लेकर कैसे आगे बढा जा सकता है। वैराग्य-अभ्यास के द्वारा ही इस पथ पर आगे बढा जा सकता है। चीटी शक्कर के एक कण को लेकर जव आगे बढती है, तो मार्ग मे बड़े कण को देखकर रुक नही जाती, प्रत्युत् ग्रहीत कण को लक्ष्य तक पहुँचाती है। इसलिए पिपीलिका वृत्ति वाला होकर जो साधक दुर्गम गढ़ को जीतने केलिए प्रवृत्त होता है, वही अन्त मे विजयी होता है।[2]

(ख) पिपीलिका-मार्ग और मीन-मार्ग वृत्ति की सूक्ष्मता की दृष्टि से समान है। परन्तु मीनधारा के विपरीत दशा मे चलने की सामर्थ्य मे अधिक होती है। इस मार्ग की साधना मे साधक भव-धारा के विपरीत 'उलटवास' के रूप मे लक्ष्य की ओर बढता है। उक्त दोनो ही मार्गों मे कुण्डलिनी द्वारा षट् चक्र भेदन करके शक्ति को ब्रह्माण्ड मे लीन करने की व्यजना रहती है। इस साधना में योग-नाड़ियो के प्रवाह को विपरीत क्रमसे बहाया जाता है।

---

१. 'अवधू सहजे लेणा सहजे देणा सहजे प्रीति ल्यो लाइ।
सहजे सहजे चलेगा रे अवधू तो बासण करेगा समाई।' —गोरख-बानी, पृ० ७९
'सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्हे कोइ।
जिन्ह सहजै हरि जी मिलै, सहज कहीजै सोइ।।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ४२
'दादू वेली आतमा सहज फूल फल होइ।' —दादू बानी (भाग १), पृ० २५९
'सहज समाधि कै चाह करहु तब आपा परै निवेरी।'
—भीखा साहब की बानी, पृ० ६
'सेसनाग औ कमठ लगे सब काँपने।
अरे हाँ पलटू सहज-समाधि कि दसा खबर नहिं आपने।।'
—पलटू० बानी (दूसरा भाग), पृ० ६१

२. 'नौ पौरी तेहि गढ मँझिआरा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा।।
दसवँदुआर गुपुत एक नाँकी। अगम चढाव बाट सुठि बाँकी।।
भेदी कोइ जाइ ओहि घाटी। जो लै भेद चढ़ै होइ चांटी।।'
—पदुमावत-पार्वती महेशखड,

(ग) विहंगम-मार्ग उक्त दोनों मार्गों से भिन्न है। वृत्ति की सूक्ष्मता या सूक्ष्म दृष्टि इस मार्ग केलिए भी आवश्यक है। पर, इस मार्ग मे हठयोगी-साधना प्रमुख नही रहती, वरन् सहज-योग अथवा सुरक्षित योग की भावना प्रधान रहती है। जैसे कोई पक्षी एक वृक्ष पर बैठा हो, तो वह सहज मे ही दूसरे वृक्ष पर जाकर बैठ जाता है। इस साधना-मार्ग मे साधक को सहज या सुरति भावना को प्रधानता देनी होती है। और अन्त मे विहंगम के समान साधक 'सुन्न शिखर' रूप वृक्ष पर अपनी वृत्ति-पक्षिणी को अविष्ठित कर लेता है। इन साधना-मार्गो के उल्लेख उलटवाँसी मूलक कथनो मे मिलते है।[1]

सुरति-निरति—व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'सुरति' शब्द स्रोत का तद्भव माना जा सकता है, जो चित्त-प्रवाह के रूप मे व्यवहृत हुआ है।[2] कबीर ने कही-कही स्मृति, श्रुति वेद-बोधक अर्थ मे भी इस शब्द का व्यवहार किया है।[3] सुरति के रूप मे सुरति शब्द भावनार्थक भी है। गोरखनाथ ने इसका 'सोचित' अर्थात् सूचित रूप भी व्यवहार किया है।[4] साथ ही 'सुरति' को साधक बताए हुए 'निरति' अवस्था में रहने का उपदेश किया है।[5] उलटवाँसी मूलक कथनो मे सुरति, सुरति-योग, सुरति-निरति आदि प्रयोग विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त हुए हैं।[6] सुरति शब्द मे चित्त की एक तानता सर्वत्र व्यजित है, तभी

---

१. 'करम जोग जम जीतै चहई। चढि पिपालिका फिरि भव रहई॥
बीहंगम चढ़ि गयउ अकासा। बइठि गगन चढ़ि देख, तमासा।'
—दरियासागर, पृ० ५५

'दहिने गगा बायें जमुना, मद्ध सुरसती धारा।
उलटा मीन चढ़ै सरवर मे, ऐसा खेल हमारा॥' —गरीब० बानी, पृ० १५०

'मीन मारग पवन पछी सेस चाल चलावन।
अर्व उर्घ के बीच आसन खेल भेद मिलावनं॥'
—पलटू० बानी (तीसरा भाग), पृ० ५१

'मगर मस्त माने नही, ज्ञान करत मतिहीन।
मीन मते की बात को, करत दृष्ट नहिं चीन्ह॥'
—तुलसी० शब्दा० (भाग १), पृ० १०६

२. देखिए,—कबीर साहित्य की परख, पृ० २५०

३. देखिए,—कबीर ग्रथावली, पद-४७, ८२,३६०

४. 'अवधू अनाहद सुरति सोचित। निरति निरलभ लागै बध॥'
—गोरख-बानी, पृ० १६६

५ 'अवधू सुरति सो साधक सबद सो सिधि। आप नो माया पर सो रिधि॥'
गोरख-बानी, पृष्ठ २००

६. 'सुरति समाणी निरति मे निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यभू द्वार॥, —कबीर ग्रथावली, पृ० १४
'सुरति निरति लै जाइब हो, पाइब गुर रीति।
बहुरि न यह जग आइब हो, गाइब निर्गुन गीत॥' —बुल्ला० शब्दसार, पृ० ३०
(शेष अगले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी मे)

साधक का मन 'सुरति' की ढीकुली से लय रूपी रज्जु के द्वारा कँवल-कुआँ से प्रेमरस का पान करता रहता है।[१] 'निरति' शब्द प्रायः समाधि, अथवा शून्यावस्था को द्योतिक करता है।

हंस-हिंडोला—नीर-क्षीर विवेकत्व के रूप मे हम की मान्यता प्राचीन है, परन्तु हठयोग प्रतिपादक ग्रथो मे 'हस' शब्द दूसरे ही रूप मे व्यवहृत हुआ है। मान्यता है कि श्वासोच्छ्वास मे 'ह' और 'स' की ध्वनि निकलती है। इसी आधार पर 'हस' या 'सोहं' मन्त्र की प्रतिष्ठा हठयोग-साधना मे हुई है।[२] परन्तु नाथ-सन्त-साहित्य मे हस या हसिनी की कल्पना उनके विशुद्ध स्वभाव तथा आचरण के कारण, निर्मल चित्त जीवात्मा तथा प्राणो केलिए हुई है।[३] मानसरोवर में हसो की क्रीडा साधनात्मक रूपक ही है। उलटवाँसी मूलक रूपक-बन्धो मे दिव्य विवाह, दिव्य होली आदि के समान ही, निर्मल स्वभाव की हस रूपी जीवत्माओ को झूलने केलिए दिव्य हिंडोला या पालना की कल्पना भी है। सन्तो ने इस प्रकारकी चर्चा करते हुए हठयौगिक शब्दावली का प्रयोग किया है। अपने इसी रूप मे 'हिंडोला' शब्द रूढ़-सा हो गया है।[४]

'नाभि भृकुटी खम्भ रोपे सोहँ डोरी लाय ।
सुरति पट ही बैठि सजनी छिन आवै छिन जाय ।।'—च०बानी (भाग २), पृ० १८
'सुरति सब्द के मिलन मे मुझको भया अनद ।'—प० बा० (भाग पहला), पृ० ३७
सब्द इक होत है न्यारा । फोड असमान निरधारा ।।
सुरति और सब्द का मेला । कटै गर्भ काल भ्रम खेला ।।'—तु०शब्दा० भाग १ पृ० ७१

१ —कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १८

२. 'हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
षट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येक विंशति ।
अजपा नाम गायत्री जीवो जपति सर्वदा ।।' —घेरण्ड सहिता, ५।८४

३ 'हस न घात न करिबा गोत । बदत गोरष निहारि पोत ।' —गोरख-बानी, पृ० ७३
'कहै कबीर स्वामी सुखसागर, हसहि हस मिलावहिंगे ।'—कबीर ग्रथावली, पृ० १३७

४ 'चद सूर दोइ खमवा, बक नालि की डोरि ।
झूलै पच पियारियाँ, तहाँ झूलै जीय मोर ।।' —कबीर-ग्रथावली, पृ० ९४
'झूलत गुरुमुख सत अलख हिंडोलने ।। टेक ।।
नाभि भृकुटी खम्भ रोपे सोह डोरी लाय ।
सुरति पटही बैठि सजनी छिन आवै छिन जाय ।।'
—चरनदास की बानी (दूसरा भाग), पृ० १८
'सदगुरु नावल सब्द हिंडोलवा, सुनतहि मन अनुरागल ।
झूलत गुनत रुचित भावल, जियरा चकित उठि जागल ।।'
—भीखासाहेब की बानी, पृ० ३८
'हिंडोला हाल हिये पिय हेर ।
सतगुरु चीन्ह दीन दिल मारग, ज्ञान खड्ग जिय फेर ।।'
—तुलसी० शब्दा० (पहला भाग), पृ० २६

षष्ठ अध्याय

हिन्दी-उलटवाँसी-पद, प्रवृत्ति और प्रयोग

प्रवेश—सन्तो की साकेतिक विरोध मूलक शैली विभिन्न प्रकार के प्रभावो और सस्कारो को प्रभावोत्पादक बनाने केलिए प्रयुक्त हुई है। उलटवाँसी-पदो के माध्यम से सन्तो ने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों, साधनात्मक अनुभवो को तो साकार रूप दिया ही, नये-नये प्रतीको की योजना के रूप मे अपनी कल्पना-शक्ति, उलटे ढग से भी अपनी सीधी बात कहने मे प्रतिभा का पुट तथा गेय उलटवांसी-पदों मे विस्मय की योजना के द्वारा लोक-बुद्धि को प्रभावित करने मे अपनी विदग्धता का परिचय भी दिया है। वैचारिक अनुभवों को साकार रूप प्रदान करने वाली उलटवांसी शैली एक दिन का विकास नही है। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में वैदिक काल से लेकर नाथ-पथी योगियो तक की वक्र-कथन शैली ही विवेचय उलटवांसी शैली के रूप में विकसित हुई है। इस शैली मे वर्णित विषय के अंग भिन्न-भिन्न हो सकते है, परन्तु वे सभी एक अग 'साधना' के अन्तर्गत आजाते है। इस शैली का कलात्मक पक्ष 'चमत्कार' है, पर अनुभूति पक्ष 'विचार या भाव' ही है। यदि पूर्व भक्तिकाल के सन्तो की बानियो में विषय की दृष्टि से समृद्धि पाई जाती है, तो उत्तर भक्तिकाल के सन्तो द्वारा प्रयुक्त इस शैली मे बाह्य रूप से कलात्मक परिष्कार भी देखने को मिलता है। आधुनिक काल के सन्तो द्वारा परम्परा-निर्वाह के रूप मे इस शैली का प्रयोग देखा जाता है। राधास्वामी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सन्त शिवदयाल द्वारा प्रयुक्त उलटवांसी शैली के पदो मे प्रतीक-प्रयोगो की नवीनता के साथ-साथ छन्द की प्रवाहमयतां प्रभावपूर्ण सिद्ध हुई है।

हिन्दी-उलटवांसी शैली के प्रयोग के सुदीर्घ इतिहास में 'उलटी चर्चा' गाने वाले गोरखनाथ को विवेच्य-शैली का प्रथम प्रयोक्ता माना जा सकता है। आपके उलटवांसी-पदों की विशेषता आदि के सबन्ध में शैली की 'पूर्व परम्परा' शीर्षक में चर्चा हो चुकी है, इनके बाद इस शैली को कबीर जैसा समर्थ व्यक्तित्व प्राप्त हुआ। कबीर के पश्चात् धनी धरमदास, रैदास, दादूदयाल, निरजनी सम्प्रदाय के सन्त (हरिदास, तुरसीदास, सेवादास आदि), सुन्दरदास, यारी साहब, जगजीवन साहब, दरियासाहब (बिहार वाले), दरिया साहब (मारवाड वाले), बुल्ला साहब, चरनदास, गरीबदास, गुलालसाहब, भीखासाहब, पलटूसाहब, तुलसीसाहब (हाथरसवाले), शंकरदास, शिवदयाल आदि सन्तो ने वर्तमान शताब्दी तक विवेच्य शैली का दायित्व पूर्वक निर्वाह किया है। सक्षेप में इस शैली के प्रयोक्ता सन्तों के उलटवांसी-पदो का मूल्याकन तथा प्रतिनिधि पदो की सांकेतिक व्याख्या यहां प्रस्तुत है।

कबीर की उलटवांसियां—एक मूल्यांकन :

सम्पूर्ण-सन्त-साहित्य में जिस प्रकार कबीर की वाणी बेजोड़ मानी जाती है, वैसे ही

विषय-प्रतिपादन, प्रतीक-योजना, रूपकतत्त्व और चमत्कार-सृष्टि मे उनके उलटवाँसी-पद परवर्ती सन्तो केलिए सुदृढ पृष्ठभूमि का कार्य करते रहे है। प्रयोग की दृष्टि से यदि कबीर की उलटवाँसियाँ अपने पूर्ववर्त्ती सहजयानी बौद्ध-सिद्धों और नाथ-योगियो की उलटवासियाँ का विकसित और परिष्कृत रूप है, तो रूपकतत्त्व, साकेतिक और परिभाषिक प्रतीक शब्दों की योजना ने अपने उत्तरवर्ती सन्तो की उलटवाँसी-पदो को प्रभावित किया है।[1] कबीर की प्रतिभा ने परम्परा-ग्रहण करते हुए भी, शैली को अपने ढग से समृद्ध किया है। प्रस्तुत को अभिव्यक्त करने केलिए उनके अप्रस्तुत की योजना, विचार या मन्तव्य को व्यक्त करने केलिए उनका विश्वास, विषय-प्रतिपादन केलिए उनकी भाषा तथा लोक को आकृष्ट करने केलिए उनके द्वारा की हुई विस्मय-सृष्टि आदि सभी ने मिलकर कबीर को उलटवाँसी शैली के सफल एव लोकप्रिय प्रयोक्ता के रूप मे प्रतिष्ठित किया है।[2] उस युग की जनता और पण्डित वर्ग को तो कबीर के उलटवाँसी-पदो ने प्रभावित किया ही होगा, आधुनिक युग के आलोचको की दृष्टि को भी आकृष्ट किया है। कबीर के उलटवाँसी मूलक कथनो की एक विशेषता यह भी है कि इनमे उनका विरोधी स्वर, रूढियो का व्यतिक्रमण करने वाली उनकी बुद्धि, प्राणियो के एकमात्र उद्देश्य जीवन को परिष्कृत कराने अथवा समन्वित रूप प्रदान कराने मे लगी रही है।

कबीर की उलटवाँसियो मे प्रयुक्त प्रतीक मर्म तथा परिस्थिति अभिव्यक्त करने मे समर्थ हैं।[3] और प्रयोक्ता का 'सम्बोधन' श्रोताओ के मानसिक स्तर को ध्वनित करता है। जब वे सन्तो को सम्बोधित करते है तो अपने विचार का पक्ष समझाते अथवा परामर्श देते हुए प्रतीत होते है और जब वह अवधू, पाडे, पण्डित आदि को सम्बोधित करते है तो प्रतिपक्ष की मान्यता का खण्डन-सा करते हुए प्रतीत होते है। लोगो, भाई आदि सम्बोधन

---

१ 'जीवन और जगत् के पारखी और अन्तर के अनुभवी शोधी कबीर ने सामान्यतः अपनी सभी उक्तियो मे बुद्धि और भाव के क्षेत्र का पर्यटन किया है किन्तु उलटवाँसियो मे जो उनका अटूट सामजस्य हुआ है, वह हिन्दी-साहित्य को एक अपूर्व अनुदान है। उसका महत्त्व इसलिए भी है कि उत्तर कालीन सन्तो केलिए कबीर ने प्रशस्त मार्ग तैयार कर दिया।' —कबीर एक विवेचन, पृ० ३३४

२ 'कबीर साहब अपनी उलटवाँसियो केलिए बहुत प्रसिद्ध है और उनके नाम पर निर्मित अनेक उलटवाँसियाँ सर्वसाधारण तक मे प्रचलित पाई जाती है। ये उलटवाँसियाँ बहुधा अटपटी बानियो के रूप में रची गई रहती है, जिस कारण इसके गूढ आशय को शीघ्र न समझने वाला इन्हे सुनकर आश्चर्य मे अवाक् रह जाता है और जब कभी वह इनके शब्दो के पीछे निहित रहस्य को जान पाता है, तो उसे अपार आनन्द भी मिलता है।' —कबीर साहित्य की परख, पृ० १५०

३ 'कबीर की उलटवाँसियो का एक-एक प्रतीक अपने मर्म केलिए अनिवार्य है। प्रतीको के पीछे छिपा हुआ अर्थ उद्घाटित होने पर जीवन और साधना सम्बन्धी अनुभूतियो के रहस्य का भी उद्घाटन हो जाता है।'

—कबीर एक विवेचन, पृ० ३३३

उनकी सहृदयता का सूचक है। 'बूझै' आदि क्रियापदों में चुनौती, गर्वोक्ति-सी प्रतीत होती है, जो अनुभूति की प्रखरता की ही द्योतक है।[1] कबीरदास बहुश्रुत थे। वे अपने अनुभव से विभिन्न दार्शनिक मान्यताओ और साम्प्रदायिक सिद्धान्तो को आत्मसात् करके अभिव्यक्त किया करते थे। उनके उलटवाँसी-पदो मे इस प्रकार का सैद्धान्तिक प्रतिपादन हुआ है।[2] परन्तु इन पदो मे व्यक्त सिद्धान्तो से उनके यथार्थ सैद्धान्तिक पक्ष को समझना कठिन है।[3] कबीर के उलटवाँसी-पदो मे गीति तत्त्व की प्रमुखता देखी जाती है। कही-कही पारिवारिक रूपकों की प्रेपणीयता मन मे विशेष गुदगुदी का अनुभव कराती है। आपके उलटवाँसी-पदो मे मस्तिष्क के साथ-साथ हृदय का अपूर्व सामजस्य दिखाई देता है। हमारे समक्ष कबीर के उलटवाँसी-पदो के सग्रह केलिए 'कबीर ग्रथावली' और कबीर बीजक' ये दो सग्रह-ग्रथ रहे हैं। 'कबीर ग्रंथावली' के साखी भाग मे लगभग पचास साखियाँ तथा पदावली-सग्रह में लगभग नब्बै पद उलटवाँसी तत्त्वो की कसौटी पर खरे उतरते हैं। ग्रथावली के परिशिष्ट भाग में भी उलटवाँसी-पद है, परन्तु अधिकांश मे पाठ-भेद के अतिरिक्त पुनरावृत्ति मात्र है। 'बीजक' मे भी बहुत से पद समान है, परन्तु पाठ- भेद अथवा लिपि भ्रम के कारण बीजक के उलटवाँसी-पदो का अर्थ ग्रथावली के पदों के अर्थ से कुछ भिन्न-सा हो जाता है। इस (बीजक) मे भी उलटवाँसी तत्त्वो के आधार पर लगभग छ. रमैनी, पैंतीस के लगभग शब्द, बीस के लगभग साखियाँ है। इनके अतिरिक्त कहरा, बसन्त, बेली आदि मे भी उलटवाँसी मूलक कथनो का प्रयोग है। कुल मिलाकर कबीर के उलटवाँसी-पदो की संख्या सन्त-साहित्य मे सर्वाधिक है। शैलीगत विभिन्न प्रकार की विशेषताओ को मुखर करने वाले, प्रवृत्ति और प्रयोग सम्बन्धी मौलिकता प्रस्तुत करने वाले सकेतार्थ सहित कुछ पद यहाँ प्रस्तुत है—

उदाहरण—१ 'हरि के पारे बड़े पकाये, जिन जारे तिनि पाये।
ग्यान अचेत फिरै नर लोई, तार्थे जनमि जनमि ढहकाये॥ टेक॥

---

१ 'कबीर साहब की रचनाओ मे जो 'सोई पडित सो तत ग्याता' अथवा 'सो जोगी गुरु मेरा' जैसी पक्तियाँ आई हैं, उनका अभिप्राय वस्तुतः किसी को खुली चुनौती देना अथवा उसके पाण्डित्य की जाँच पड़ताल करना नही रहता। वे पक्तियाँ अपने रचयिता की किसी ऐसी गहरी अनुभूति की ओर संकेत करती हैं जो सर्वसाधारण की पहुँच के बाहर की बात है। कबीर साहब, ऐसे वाक्यो द्वारा उसके महत्त्व एवं गम्भीरता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए, उसे सब केलिए एक आदर्श मानदण्ड भी घोषित कर देना चाहते हैं।' —कबीर साहित्य की परख, पृ० १६०

२. 'इस बहुश्रुतता के कारण वे अनायास ही अनुभव सम्मत सत्य को ग्रहण कर सकते थे। इस लिए उनका मत न तो किसी आचार्य विशेष के मत का हू-ब-हू उल्था है और न बेसिर-पैरकी बातों की बेमेल खिचड़ी। सभी विषयों मे उनका आत्मोपलब्ध मत है।' —हिन्दी-साहित्य की भूमिका (सन्त मत), पृ० ३६

३. 'वास्तव मे कबीर की उलटवाँसियाँ उनके सिद्धान्तो को यथार्थतः समझने में बाधक सिद्ध हुई हैं।' —हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ४१४

घौल मंदलिया बैलर बावी, कउवा ताल बजावै।
पहरि चोलनां गादह नाचै, भैंसा निरति करावै॥
स्यंघ बैठा पान कतरैं, घूंस गिलौरी छावै।
इंदरी बपुरी मगल गावैं, कछूएक आनंद सुनावै॥
कहै कबीर सुनहुं रे संतो, गडरी परवत खावा।
चकवा बैसि अंगारे निगलै, समंद अकासां धावा॥'[1]

संकेतार्थ—पारे वड़े=नमकीन पकौड़े, (विषय-जनित स्वाद अथवा प्रवृत्त मन का विषयों के तदनुरूप होना)। हरि के वड़े=ईश्वर प्रदत्त भोग्य पदार्थ, (सात्विक मन जो अपनी विकारी-वृत्ति के कारण साधना के अनुकूल नहीं रहता)। जिनि=जिन्होंने। जारे=जलाया, (अभ्यास और वैराग्य की अग्नि मे तपाया)। ग्यान अचेत=ज्ञान-विमूढ, ज्ञान-विमुख, (अमावस्था वाले) फिरैं=भ्रमते है, (आवागमनके चक्र में पड़े रहते हैं)। लोई=लोग, लोक। तार्थे=इसी कारण से। डहकाये=विभ्रमित किये गये। रबाव=सारंगी की तरह का बाजा। घौल मदलिया बैल रबावी=मृदग बजाने वाला धौरा बैल तथा रबाव बजाने वाला दूसरा बैल। (मृदग वादक धौरा बैल और रबाव बजाने वाला बैल, ताल देने वाला कऊआ, चोलना धारण करके नृत्य करने वाला गर्धव, नृत्य कराने वाला महिष—ये पांचो पच-विकारो अथवा पचेन्द्रियों का सकेत देते हैं।) स्यंघ=सिंह (मन)। घूस∠गुहाशय=चूहे के वर्ग का एक बड़ा जन्तु। गिलौरा=पान का बीड़ा। उदरी∠उन्दुरु=चुहिया। बपुरी=बेचारी। (पान कतरने वाला सिंह, गिलौरा देने वाला घूस, मगल-बधाये गाने वाली उन्दुरि तथा आनन्द-भाव व्यक्त करने वाला कच्छप—ये चारो मन, बुद्धि, चित्त और अहकार रूपमे अन्तः करण चतुष्टय का सकेत करते हैं।) गडरी∠गड्डर, गड्डल=भेड (जीवात्मा) अथवा गडरी=गड्डरिका, अविच्छिन्न धारा, (विपरीत प्रवाह)। परवत∠पर्वत=शिखर (मेरु-शिखर, अर्थात् मेरूदड का ऊपरी भाग)। चकवा=विशेषपक्षी (साधक जीवात्मा)। अगारे=अग्नि, (ज्ञानाग्नि)। समद=समुद्र, (हृदय)। अकासा=आकाश, (सहस्रार चक्र अथवा शून्यावस्था)।

सांकेतिक व्याख्या—उक्त पद मे शाब्दिक अर्थ से किसी प्रकार की सगति नहीं बैठती, क्योंकि अपने अभिधात्मक रूपमे यह रूपक किसी उत्सव के सम्बन्धमे प्रतीत होता है, जिसमे पकौडे खाने, नाचने-गाने आदि का कार्यक्रम है। परन्तु 'ग्यानअचेत फिरै नर लोई, तार्थे जनमि जनमि डहकाये' तथा 'कहै कबीर सुनहुँ रे सतो' प्रयोग पाठक या श्रोता को

१.—कबीर ग्रथावली, —पद १२ (पृ० ९२), तथा परिशिष्ट पदावली-पद १४३ (पृ० २६५)। परिशिष्ट वाले पद मे 'पारे वड़े' के स्थान पर 'ककड़ी के बड़े' का प्रयोग है, जिन्हे कुछ समझदार लोग ही खापाते हैं। इस पद मे विवाहोत्सव का रूपक बाँधा गया है, जिसमे कोई वर किसी सुन्दरी का 'हथलेवा' करने केलिए तत्पर हो रहा है। दोनो पदो मे शब्द-भेद से अर्थ भी बदल गया है।

व्यहृत संकेतों का अर्थ समझने केलिए विवश करते है। प्रयोक्ता ने ऐसे वड़ो की चर्चा की है, जो जलाकर खाने में उपयोगी सिद्ध होते है। इन स्वादिष्ट नमकीन वड़ो को विना जलाए ही खा लेने पर जन्म जन्मान्तरो तक भ्रमित रहना पड़ता है। ये वड़े रूप स्वादिष्ट पदार्थ मानव-जीवन या मानव मन की स्वाद्य स्थिति की ओर सकेत करते हैं। जो (साधक) इस जीवन या मन को विचारपूर्वक, अन्तर्मुखी वृत्ति वाला वनाकर चलता है वह जन्म-जन्म के डहकने से वच जाता है और (अन्तिम दो पंक्तियो मे वर्णित) सावना की चरमावस्था को प्राप्त होता है। यह 'वड़े' रूप मानव-जीवन अथवा मन मूलत: ईश्वरप्रदत्त अथवा सात्विकी वृत्ति वाला है। यदि इसे सावना अथवा सयमन की अग्नि मे तपाया नही जाता तो विषयासक्त होकर अनुपयोगी सिद्ध होता है। फलतः प्रवाह-जीव के समान, विकारों अथवा इन्द्रियोके वशीभूत होकर जीवन की वैसी ही वेमेल हास्यास्पद स्थिति हो जाती है, जो धौरे वैल के द्वारा मृदग, दूसरे वैल के द्वारा रवाव वजाने, कऊए के द्वारा ताल देने, गधे के द्वारा नृत्य-निरत होने, महिप के द्वारा नृत्य कार्य सम्पादन कराने में उत्पन्न होती है। जीवात्माकी यह दशा पंचेन्द्रियो के असंयम, उच्छृखलता तथा पच विकारोके वशीभूत होने की स्थिति का द्योतक है। इनसे काम, क्रोव, लोभ, मोह, मत्सर की प्रवलता व्यजित होती है। ऐसी स्थिति मे जीव इन्द्रियो के अपने-अपने विषयों में निरत रहकर, भ्रमवश कार्य करता रहता है।

इतना ही नही, लोक-प्रवाह मे वहे जाते हुए जीवों का अन्तःकरण चतुष्टय (मन, वुद्धि, चित्त और अहंकार) असंगत कार्यों में लगा रहता है। इस स्थिति के जीवो के विचित्र क्रिया-कलापो को, कवीर ने, चमत्कारिक शैली मे कहा है कि यह स्थिति, सिंह (मन) के द्वारा पान कतरे जाने, घूस (चित्त) के द्वारा पान के वीडे तैयार करने, उदरी (वुद्धि) के द्वारा मांगलिक गीत गाने, कछुए (अहंकार) के द्वारा सुखद अवस्था की अभिव्यक्ति करने को संकेतित करती है। अपने-अपने विपयो के प्रति आकृष्ट होने के कारण, सूक्ष्मजीवी मनुष्य का अन्तःकरण भी कुछ नही कर पाता।

परन्तु, जो हरि के द्वारा दिये गये नमकीन वडो को जलाकर खाते हैं, अर्थात् विचार-पूर्वक, वृत्ति को अन्तर्मुखी वनाकर जो साधक सावनाभ्याम करते रहते हैं, वे भेड़रूप गतानुगतिक जीवात्मा मे वल का संचार करके, पर्वत रूप अहंकार को अभिभूत कर लेते हैं। अथवा धारा को अन्तर्मुखी करके गडरी रूप कुटलिनी के द्वारा मेरुशिखर रूप पर्वत के ऊपर आरुढ़ हो जाते हैं। उस अवस्था में एकाग्र चित्त रूप चकवा, ज्ञान रूप अग्नि अथवा ब्रह्माग्नि का सेवन करता है। उस अवस्था मे साधक समुद्र रूप सीमित हृदय से असीम आकाश की ओर दौड़ने लगता है, अर्थात् साधक का चित्त शून्य स्वभाव अथवा खसमावस्था की ओर अग्रसर होने लगता है।

विशेष—(१) प्रस्तुत उलटवाँसी-पद में तीन स्थितियो का वर्णन है। प्रथम दो पक्तियां में उपदेष्टा गुरू की चेतावनी, मध्य का चार पंक्तियो में असंयमित जीवन की विषयाकृष्ट वृत्ति का परिणाम तथा अन्तिम दो पंक्तियां में साधनाभ्यास के श्रेष्ट फल का वर्णन पूर्णत उलटवाँसी शैली में हुआ है।

(२) पद की प्रथम तथा अन्तिम दो पंक्तियो से अर्थोद्बोधन केलिए सकेत मिल जाते हैं। दूसरी पक्ति के 'जनमि जनमि डहकाये' की व्याप्ति अगली चार पंक्तियोमे है। यह स्थिति पचेन्द्रियो और अन्त करण चतुष्टय के विकार-ग्रस्त होने का ही परिणाम है।[1]

(३) पद को पढकर पाठक या सुनकर श्रोता को अतिक्रात उक्ति के रूप मे हास्य का आभास होने लगता है, परन्तु विचारपूर्वक संकेतों का सबल उसे प्रयोक्ता के मन्तव्य तक पहुँचाने मे सहायक होता है।

(४) पद मे वैचारिक अवस्था को अभिव्यक्ति मिली है, साथ ही उलटबाँसी शैली का आग्रह है। अत: प्रतीक-योजना के साथ ही भाषा भी बिखर गई है। प्रस्तुत पदमें पच-विकार और अन्त.करण चतुष्टय का प्रयोग न होने तथा बैल, कऊआ आदि उपमान रूप प्रतीको की योजना होने के कारण रूपकातिशयोक्ति अलकार जैसी प्रतीति होने लगती है।

(५) उक्त छन्द 'पूर्ण पद उलटबाँसी' का उदाहरण है।

उदाहरण-२ 'संतो ! भक्ति सतगुरु आनी।
नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझहु पंडित ज्ञानी॥
पाहन फोरि गंग एक निकरी, चहुं दिसि पानी पानी।
तिहि-पानी दुइ परबत बूड़े, दरिया लहर समानी॥
उड़ि माँखी तरिबर ते लागी, बोलै एकै बानी।
वहि माँखी के माँखा नाहीं, गरभ रहा बिनु पानी॥
नारी सकल-पुरुष वहि खायो, ताते रहउ अकेला।
कहंहि कबीर जो अबकी समुझै, सोई गुरु हम चेला॥'[2]

संकेतार्थ—नारी=स्त्री, (माया)। दुइ पुरुष=दो पुरुष, (जीव और ईश्वर)।[3] जाया=उत्पन्न किये। पाहन=पाषाण, (सैन्धव घन रूप चेतनात्मा) एक गग=गगा रूप

---

१. टिप्पणी— विषयाकृष्टजीवो की विवशता तथा इन्द्रियों की प्रबलता एवं जीव की परेशानी का वर्णन तुलसीदास जी ने, साकेतिक भाषा में इस प्रकार किया है—
'विषम कहार मार-पद-माते चलहिं न पाउँ बटोरा रे।
मद बिलद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे॥
काँकुराय लपेटन लोटन ठावहिं ठाँउँ बझाऊ रे।
जस जस चलिय दूरि तस तस निज बास न भेंट लगाऊ रे॥'
—विनय पत्रिका, पद १८९

२. —कबीर बीजक, शब्द १ (पृ० ६४)

३. 'मायाख्या कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ' अर्थात् माया रूप कामधेनु के जीव और ईश्वर ये दो बच्चे हैं। —पञ्चदशी, ६।२३६

एक धारा, (गगा रूप आद्या माया)। चहुँदिसि=सर्वत्र। पानी पानी=माया का व्यापक प्रभाव। दुइ परवत=दो पर्वत, (जीव और ईश्वर)। दरिया=समुद्र, (चेतना-सागर)। लहर=तरंग, (लघु ज्ञान तरंग)। माँखी=मक्खी, (वृत्ति, अहम्-वृत्ति)। तरिवर∠तरुवर =वृक्ष, (ससार-वृक्ष)। एकै बानी=एक मात्र वाणी, (अहकार जनित 'अह ब्रह्मास्मि' रूप वाणी)। माँखा=नर मक्खी, (ब्रह्म-ज्ञान, ब्रह्म)। गरभ=गर्भ, (अभिमान)। बिनु पानी =बिना बिन्दु रूप वीर्य के, (बिना सात्विक तत्व या ब्रह्म-तत्त्व के)। सकल-पुरुष=सम्पूर्ण जीवात्माएँ अथवा व्यापक ब्रह्म रूप पुरुष। खायौ=निगल लिया, आच्छादित कर लिया। ताते=इससे। अकेला ही, अनासक्त, असग रहकर।[1] अबकी=इस बार, (इस मानव-जीवन मे)। समुझै=समझ ले, रहस्य को जानले। गुरू=भारी, तत्त्व ज्ञानी। चेला=शिष्य (विनम्र भावना के कारण)।

सांकेतिक व्याख्या—कबीर का (सात्विक वृत्ति प्रधान) सतो को परामर्श है कि सद्गुरु के प्रति भक्ति को दृढ करना चाहिये, तभी व्यापक प्रभाव वाली माया के पाश से मुक्ति मिल सकती है। अरे, अपने को पडित समझने वाले ज्ञानी पुरुषो तुम समझ कर बताओ कि वह कौन-सी एक नारी है, जिसने दो पुरुषो को जन्म दिया है। अर्थात् माया रूपी नारी, विवर्त पूर्वक अपनी प्रतीति के कारण ही जीव और ईश्वर नामधारी दो पुरुषो को अस्तित्व वाला बनाती है।[2] उस (आद्या) माया की निर्मल धारा का प्रवाह, सैन्धव घनरूप चेतनतत्त्व से उसी प्रकार होता है, जैसे पर्वत की शिलाओं के अन्तराल से गगा की निर्मल धारा प्रकट होती हैं। अर्थात् आद्या माया, 'एकोऽह बहुस्याम' की इच्छामात्र से ही, अपनी सात्विक धारा के रूप मे प्रकट होती है। (अपने मूल रूप मे, चेतन से आविर्भूत होने के कारण, सत्त्व प्रधान बताई है।) जैसे-जैसे मात्रा का आवरण या विवर्त बढता जाता है, वैसे-वैसे जीव और ईश्वर के मध्य मे आच्छादन होता जाता है। फलतः उस माया के प्रभाव रूप जल मे, पर्वत के समान स्वतन्त्र अस्तित्त्व वाले, जीव और ईश्वर निमग्न हो जाते हैं। माया के विवर्त के कारण सिन्धु रूप ब्रह्म की व्यापकता लहर के रूप मे सीमित हो जाती है। अर्थात् व्यापक ब्रह्मानन्द की अनुभूति, आवरण के कारण, लहर के समान लघु प्रतीत होती है।

माया के प्रभाव के कारण प्रवृत्ति रूप मक्खी ससार रूपी वृक्ष से आलग्न हो जाती

---

१. 'सङ्ग त्यक्त्वा फल चैव सत्याग. सात्विको मतः।' —श्रीमद्भगवत् गीता, १८।९
'असक्त बुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्य सिद्धिं परमा सन्यासेनाधिगच्छति॥' —श्रीमद्भगवत् गीता, १८।४९

२. 'अव्यक्तनाम्नी परमेश शक्तिरनाद्य विद्या त्रिगुणात्मिका या।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यथा जगत् सर्वमिद प्रसूयते॥'
—विवेकचूड़ामणि, श्लोक, ११०
'अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्द निर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी। महासुप्तिः यस्या स्वरूप-प्रतिबोध-रहिता शेरते संसारिणो जीवाः॥' शारीरकभाष्य, १।४।३
—भारतीय दर्शन, (लेखक पं० बलदेव उपाध्याय), पृ० ७३८ से

है। उस अवस्था में, मिथ्याज्ञानके कारण, अंश भावना 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप में मुखर हो उठती है। यद्यपि उस वृत्ति रूपी मक्खी का ब्रह्मज्ञान रूप माँखे से सम्पर्क भी नहीं होपाता, पर अहकार के कारण मिथ्याज्ञान रूप गर्भ हो जाता है। अर्थात् यह अवस्था वास्तविक ज्ञान की स्थिति नही है। परमावस्था अथवा ब्रह्मज्ञान की अवस्था मे वाणी मूक हो जाती है। अन्तर्मुखी वृत्ति रूप गर्भत्व ब्रह्मानुभूति की अवस्था मे ही टिक पाता है। उस नारी रूप माया के प्रभाव के कारण ज्ञान-विमूढ़ जीव अहकार की अवस्था मे अभिभूत बने रहते है। उस व्यापक प्रभाव वाली नारी रूप माया से बचने का एक मात्र उपाय 'अकेला या असग की अवस्था मे रहना' है। सग अथवा प्रवृत्ति के कारण माया-मोह की विवृत्ति होती है। कबीरदास का कहना है कि जो मनुष्य इस मानव-शरीर या जीवन को प्राप्त करके आत्मज्ञान लाभ करते है, वे ही वास्तव मे 'गुरू' हैं, आदरणीय है। ऐसे तत्त्वज्ञानी गुरुओ केलिए हम शिष्य के समान है।

विशेष—(१) प्रस्तुत उलटवाँसी-पद की प्रथम पक्ति अर्थ-ग्रहण केलिए प्रवेश द्वार है। इस पक्ति की व्याप्ति अन्तिम पक्ति तक है। सत्गुरु की भक्ति को दृढ क्यो किया जाय, इसका समाधान अगली पाँच पक्तियो मे किया गया है। अन्तिम दो पक्तियो की चेतावनी साधक को साधना-सिद्धि कराने तथा जीवात्मा को जीवन की सफलता को लक्षित कराने के लिए है। 'अकेला' पद की ध्वनि असक्तभाव अथवा प्रवृत्ति रहित जीवन-यापन करने केलिए है।

(२) 'बूझहु पडित ज्ञानी' कथन ऐसे ज्ञानी केलिए है जो शास्त्र ज्ञान को व्यवहार में नही लाता। माया जनित स्थिति का ज्ञान वैचारिक अवस्था मे ही सम्भव है। साथ ही प्रयोक्ता का आत्म विश्वास चुनौती के स्वर जैसा लगता है।

(३) 'गग' प्रयोग आद्या सात्विक माया के लिए है, जो बाद मे अपने व्यापक प्रवाह के कारण नानात्मक रूप धारण कर लेती है।

(४) 'वहि माँखी के माँखा नाही' यह पक्ति साख्य दर्शन के 'प्रकृति-पुरुष' की ओर भी सकेत करती है, क्योकि 'प्रकृति' जब तक 'पुरुष' का दर्शन नही कर लेती तब तक उसका व्यापार अवरुद्ध नही होता। दर्शन होने पर द्दष्टा केलिए वह सदा केलिए विलीन हो जाती है। साख्य मे इसे 'विवेक ख्याति' कहते है।[1]

(५) 'अबकी' प्रयोग इसी जीवन मे ज्ञान-प्राप्ति करने केलिए प्रेरित कर रहा है।

(६) इस पद मे 'सार' छन्द का प्रयोग है, जिसमे १६,१२ पर यति के साथ २८ मात्राएँ होती हैं। इसे 'पद' या भजन-पद भी कहते है। सन्तो में इसे 'सबद' या 'शब्द' कहा है।[2]

---

१. —भारतीय दर्शन (प० बलदेव उपाध्याय), पृ० ३५६

२. देखिए—कबीर बीजक, पृ० ६६

उदाहरण-३—'साँई के संग सासुर आई।
सँग न सूती स्वाद न मानी, गौ जीवन सपने की नाँई ॥
जना चारि मिलि लगन सुधायो, जना पाँच मिलि माँडो छायो।
सखी सहेलरी मंगल गावें, दुख सुख माथे हरदि चढ़ावें ॥
नाना रूप परी मन भाँवरि, गाँठी जोरि भई पतियाई।
अरघा दे लै चली सुवासिनि, चौके राँड भई सँग साँई ॥
भयो वियाह चली बिनु दुलह, बाट जात समधी समुझाई।
कहँ कबिर हम गौने जैबे, तरब कंत ले तूर बजाई ॥'[1]

संकेतार्थ—साँई=स्वामी (आत्मतत्त्व, परमात्मा)। सासुर=ससुराल, (जीवात्मा का इह लौकिक जीवन, ससार)। जाई=जन्म लिया। सँग न सूती=साथ सोने का अवसर नहीं मिला, अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान मे तदाकार नही हो पाया। स्वाद न मानी=स्वाद की अनुभूति नही हुई, अर्थात् प्रेम या अज्ञान के कारण 'महासुख' से वचित रही। गौ=व्यतीत होगया। जीवन=यौवन, (जीवात्मा की सामर्थ्य अथवा मानव-जीवन)।[2] सपने की नाँई=स्वप्न की भाँति, (मुहावरा) क्षणिक। जना चारि मिलि=चार जने मिलकर, (मन, बुद्धि, चित्त, अहकार का सवाय रूप अन्तकरण चतुष्टय)। लगन सुधायो=लग्न, मुहूर्त्त निश्चित किया (देह संघात के रूप मे शरीर धारण कराने का हेतु बने)। जना पाँच=पंच-समुदाय, (पंच महाभूत, पंच-विकार, अथवा पंचेन्द्रियाँ)। माँडो छायो=शरीर रूप मण्डप का आच्छादन किया। सखी-सहेलरी=सखियाँ, (अन्य इन्द्रियाँ)। मंगल गावैं=मंगल सूचक गीत गाती हैं, अर्थात् स्व-स्व विषयो मे निरत होने तथा तज्जन्य सुखद अनुभूति की अभिव्यक्ति करना। सुख-दुख=पुण्य-पाप की मूल वृत्ति। हरदि चढ़ाना=हरिद्रा का लेप करना, अर्थात् जीवके भाग्य मे सुख-दुःख के अमिट संस्कारों का अकन करना। भाँवरि=सप्तपदी के रूप में फेरे डालना, अर्थात् मन को वासना के नाना रूपो से आच्छादित करना। गाँठी जोरि=ग्रंथि-बन्धन करके, (चेतन की जड़ के साथ ग्रथि, जीवात्मा रूपी दुलहिन का सांसारिक जड़ पदार्थों के साथ गठ-बन्धन होना। पतियाई=प्रत्यय, विश्वास। अरघा दै=अर्घ्य देकर। सुवासिनी=सुगन्धि अथवा अच्छे वस्त्र धारण करने वाली, अनेक प्रकार के भ्रम-रूपों के आवरण धारण करने वाली जीवात्मा)। चौके=चौक या मण्डप में, (संसार मे)। राँड भई=पतिहीना हो गई, (परमात्मा रूपी पति को भुला बैठी)। संग साईं=स्वामी के होते हुए भी। बाट-जात=मार्ग पर चलते हुए, (गतानुगति जीव)। समधी=वर-वधू के पिता का परस्पर सम्बन्ध, (समत्व बुद्धि वाले सन्त जन)। समुझाई=समझाया, आत्म तत्त्व का उपदेश किया। गौने जाना=(पारिभाषिक रूढ शब्द) द्विरागमन होना अर्थात् पुनः परमात्मा रूप पति के घर जाना। तरब=तरंगी। तूर बजाई=(मुहावरा) तुरही बजाकर, ढिंढोरा पीटकर, डंके की चोट।

---

१. —कबीर बीजक, शब्द-५४ (पृ० १६६-६७)
२. 'यौवन, दिवस और दिन आदिक शब्द नर-तन के बोधक हैं। सखी, सहेलरी आदिक सांकेतिक शब्द इन्द्रियों के बोधक है।' —कबीर बीजक, भूमिका, पृ० ३५

सांकेतिक व्याख्या — व्याख्येय उलटवाँसी-पद में आवागमन के चक्र में पड़े हुए जीवन की चित्तवृत्ति की सबीजता का वर्णन, विवाह का रूपक बाँध कर किया गया है। विचार-काल की अनुभूति को अभिव्यक्त करते हुए कबीर कहते है कि जीवात्मा चेतन-शक्ति को लेकर श्वसुरालय रूप ससार मे आती है। अर्थात् चेतन-तत्त्व के रूप मे परमात्मतत्त्व (स्वामी) सदा ही जीवात्मा के साथ रहता है, परन्तु भ्रम या विवर्त के कारण जीवात्मा सच्चिदानन्द रूप परमस्वाद का अनुभव नही कर पाती और जीवन-काल, स्वप्न के समान, शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। और इस बीच वास्तविक परमात्मा से 'हथलेवा' का मुहूर्त्त सम्पन्न ही नही हो पाता।

जीवात्मा के जन्म के पूर्व ही, अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहकार) उपादान कारण के रूप मे कार्यशील हो जाता है। यही देहादि संघात का, चार जनो के द्वारा लग्न-शोधन है। अर्थात् सबीज-चित्त वृत्ति ही शरीर-धारण कराने का मूल हेतु है। अन्तःकरण चतुष्टय के कार्य कर चुकने के पश्चात् पच महाभूत (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) तथा उनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँच विषयो के सकाश से शरीर रूप मण्डप का आच्छादन होता है। जीव के जन्म लेते ही कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो में निरत रहकर तज्जन्य सुखद अनुभूति की अभिव्यक्ति, मगल-गान करने वाली सखियो के समान, करने लगती है। अर्थात् अविचारिक स्थिति में इन्द्रियाँ विषय भोगो मे प्रवृत्त हो जाती है और इन भोगों के परिणाम स्वरूप पुण्य-पाप रूप सुख-दुःख की भावना का सस्कार जीव के मत्थे मढ़ जाता है। यही जीवात्मा रूप दुलहिन के ऊपर हरिद्रा लेपन है। कितनी विषम स्थिति है कि भोग का अनुभव तो करती हैं इन्द्रियाँ, पर उसका फल भुगतना पड़ता है जीवात्मा को। इस प्रकार संस्कार रूप में वासना की भाँवरि जीवात्मा रूप दुलहिनी के मन मुकर पर पड़ जाती है। फलत. मन-प्रपंच के रूप में, जीवात्मा का गठबन्धन जगत् के जड़ पदार्थों से हो जाता है। इसीलिए दुलहिनि ससार (उपपति) को ही अपना पति मान-कर उसी के साथ अपना प्रत्यय बढाती है। अर्थात् देहासक्ति, देहाभिमान के कारण विषय-जनित सुख को ही जीवात्मा सब कुछ समझ बैठती है और परमतत्त्व, पतिरूप परमात्मा को भूल जाती है। यही जड़-चेतन की ग्रथि है।[1] माया रूप सुन्दर आवरणो वाली वासना, नाना प्रकार से आकृष्ट करती हुई, अर्घ्य देती हुई, जीवात्मा को जगत् की ओर उन्मुख किये रहती है। इस प्रकार चौक रूप ससार में, जीवात्मा, पति रूप परमात्मा के रहते हुए भी विधवा बनी रहती है। अर्थात् पति रूप परमात्मा के साथ अद्वैत का अनुभव न करके, पृथक्त्व या द्वैत के कारण वैधव्य की दशा को प्राप्त करती है। इसी प्रकार शरीर रूप मण्डप मे बैठे-बैठे ही जीवात्मा 'राँड' हो जाती है।[2]

---

१. 'जड़ चेतनहिं ग्रथि परिगई। जदपि मृषा छूटतकठिनई॥,

—रामचरित मानस

२. 'आछत खसम राँड भई धनियाँ, झूठ खसम मन भावत रे।'
'सोतो कहिये ऐस अबूझ। खसम अछत ढिग नाहीं सूझ॥'

—कबीर, पृ० १६९-७० से

पुनः जब वह अपनी स्थिति पर विचार करती है, तो उसे अपने वास्तविक पति अथवा परमपद का बोध होता है और वह बिना दूल्हा अथवा दुर्लभ तत्त्व की प्राप्ति के ही, उसे खोजने केलिए निकल पड़ती है। फलतः उपासनादि षट् कर्मों के विधान में फँस जाती है। यही जीव का बाट पर चलना है। उसकी इस अवस्था को देखकर समत्व बुद्धि वाले सन्तों को दया होती है और वे उसे तत्त्व-ज्ञान का भली प्रकार उपदेश देते हैं। इस प्रकार हृदय के नेत्रों में ज्ञान के प्रकाश का अनुभव होते ही जीवात्मा कह उठती है कि मुझे अपने वास्तविक पति का ज्ञान हो गया है। अब मैं द्विरागमन में उसी के साथ जाऊँगी। इस प्रकार तुरही बजाकर वह संसार-सागर से पार उतरने की घोषणा करती है।

विशेष—(१) इस पद में चित्त-वृत्ति की सबीजता को जीव के आवागमन का मूल कारण बताया है।

(२) विवाह के रूपक से प्रयोक्ता कबीर ने अपने मन्तव्य को प्रभावोत्पादक बना दिया है। पद मे सांगरूपकता का निर्वाह हुआ है। अर्थ-ग्रहण होने पर, एक विशेष जानकारी के कारण, विशेष बौद्धिक-तृप्ति का अनुभव होता है।

(३) गीति-तत्त्व की योजना से प्रभाव द्विगुणित हो गया है।

(४) 'सुख-दुख माथे हरदि चढाई' यह उक्ति व्यजना प्रधान है। इसमें भव-दशा में बढ़े हुए नाना प्रकार के जीवो की विशेष परिस्थिति मुखर हो उठी है। पति के रहते हुए भी, चौक पर, दुलहिनी का विधवा होना' कथन विरोध मूलक है। विषय की दृष्टि से उलटबांसी-पद उपदेश प्रधान है।

(५) 'समधी' शब्द का प्रयोग श्लेपात्मक है और साभिप्रायिक भी। अतः परिकर अलंकार की प्रतीति हो सकती है।

उदाहरण-४—'देखि देखि जिय अचरज होय, ईपद बूझै बिरला कोय।
घरती उलटि अकासहिं जाय, चिउँटी के मुख हस्ति समाय।
बिनु पवने जो परवत उड़े, जिया-जंतु सब बिरछा बूड़े।
सूखे सरवर उठै हिलोर, बिनु जल चकवा करै किलोल।
बैठा पंडित पढ़ै पुरान, बिनु देखे का करै बखान।
कहँहि कबिर जो पद को जान, सोई संत सदा परवान।'[1]

संकेतार्थ—अचरज = आश्चर्य। ई पद = यह पद, छंद विशेष, (अमर पद, आत्म परिचय रूप साध्य पद)। धरती = पृथ्वी, जड़तत्त्व, (सुरति अथवा कुंडली-शक्ति)। उलटि = उलट कर, अन्तर्मुखी होकर, विपरीतकरणी मुद्रा के द्वारा। अकासहिं जाय = आकाश को जाती है, (गगन-मण्डल अथवा शून्यावस्था केलिए अग्रसर होती है। चिउँटी =

१. —कबीर बीजक, शब्द-१०१

पिपीलिका, (सूक्ष्म सात्विक बुद्धि)। हस्ति = हाथी, (विषय प्रवृत्त बाह्य मन)। पवन = वायु, (प्रवृत्ति रूप पवन, माया का प्रभाव)। परबत = पर्वत (पर्वत के समान विस्तृत और भारी मन)। जिया = जीव। बिरछा बूढे = वृक्ष मे डूब गये, (वृक्ष रूप ससार मे निमग्न होगये)। सूखे सरवर = शुष्क सरोवर, (असग हृदय, साधक का निर्लिप्त हृदय)। हिलोर = तरग, (आनन्द की तरंग)। बिनु जल = बिना जलके, (माया के प्रभाव से रहित)। चकवा = पक्षी विशेष, (चित, जीवात्मा)। किलोल = किल्लोल, (आनन्दाभिव्यक्ति)। पडित = पुराण पाठी। पढै पुरान = बिना अनुभव की लिखी-लिखाई या सुनी सुनाई बातो का उपदेश देना। बिनु देखे = बिना अनुभव किये। पद = साध्य। परबान = प्रमाण।

सांकेतिक व्याख्या—विचार-काल की अनुभूति को कबीर इस उलटवांसी-पद के द्वारा अभिव्यक्त करते है। उनका कहना है कि यह देख-देख कर मुझे आश्चर्य का अनुभव होता है कि ससार मे आकर जीवात्मा अनेक साधना-पद्धतियो मे फँसकर, स्वर्गादिक अनेक सुखों की कल्पना के प्रति आकर्षित बनी रहती है, और आत्म-परिचय रूप निज पद अथवा आत्म साक्षात्कार या तदाकार अवस्था केलिए प्रवृत्त नही हो पाती। उस पदवी को कोई विरला शूर ही प्रयत्न करके समझ पाता है। सुरतियोग, अन्तर्मुखी वृत्ति अथवा उलटवास करके साधक उस पद को पालेता है। अर्थात् सत्त्वावस्था मे उच्चपदस्थ होता है।[1] उस अवस्था मे जड बनी हुई मूलाधारस्थ धरती रूप कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी होकर आकाश रूप मेरु-शिखर अथवा गगन-मण्डल केलिए अग्रसर होने लगती है।* अर्थात् साधक वैराग्याभ्यास के नैरन्तर्य से शून्यावस्था अथवा खसमावस्था को प्राप्त होने लगता है। विचार-काल मे साधक की बुद्धि सूक्ष्म और सात्विक होजाती है।[2] वह सात्विक बुद्धि अपनी सूक्ष्म वृत्ति के कारण चीटी स्वभाव की होजाती है। उसकी सूक्ष्म निग्रह-वृत्ति के वशीभूत होकर भवोन्मत्त गजराज रूप मन अपने वेग को अवरुद्ध पाता है। यही चीटी के मुख में हाथी का समा जाना है। आत्म-परिचय के बिना मन का अवरुद्ध होजाना महत्त्वपूर्ण नही, क्योकि उस अवस्था मे वह 'तेली केरे बैल ज्यो घर ही कोस पचास' के समान भीतर ही भीतर चौकड़ी भरता रहता है। प्राणवायु के साधने के बिना ही, प्रवृत्ति रूप पवन से अपरिपक्व-साधको के पर्वत रूप मन उडते रहते हैं अर्थात् अस्थिर अवस्था वाले रहते है। भाव यह है कि आत्म-परिचय

---

१. 'सत्त्वात्सजायते ज्ञान' तथा 'ऊर्ध्वंगच्छन्ति सत्त्वस्था'

—श्रीमद्भगवत गीता, १४।१७-१८

* टिप्पणी-हठयोगियों मे साध्य की प्राप्ति केलिए दो मार्ग प्रचलित हैं—पिपीलिका-मार्ग या मीन-मार्ग तथा विहगम मार्ग। षट् चक्रो का भेदन करते हुए हठयोगी-प्रक्रिया मे अधोमुखी कुण्डलिनी को अभ्यास पूर्वक ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार चक्र तक लेजाया जाता है। यही पिपीलिका अथवा मीन-मार्ग है। यहाँ उसी साधना की ओर सकेत है।

२. 'बन्ध मोक्ष च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।'

—श्रीमद्भगवद् गीता, १८।३०

की गरिमा न आने से, मन अन्तर्मुखी होने पर भी, चंचल वृत्ति को नही छोड़ पाता। (अथवा साधना के विकास-काल में साधक का अहंकार रूप पर्वत विना वायु के ही उड़ जाता है।) इस प्रकार, मन की उस चंचलावस्था मे यावन्मात्र जीव, वृक्ष रूप ससार में निमग्न हो जाते हैं। परन्तु आत्म-परिचय के साथ ही मन के स्थिर होते ही चित्त अपनी चचलता को त्याग देता है[1] और साधक के शुष्क सरोवर रूप असंग, निवृत्त हृदयमें आनन्द की हिलारें उठने लगती हैं। अर्थात् सीमित हृदय में ब्रह्मानन्द की अनुभूति होने लगती है। उस अवस्था में चकवा रूप चित्त विना प्रवृत्ति रूप जल के, तन्मयावस्था में सुखात्मक स्थिति का अनुभव करता है। लोक मे आत्म-परिचय के विना ही पडित नामधारी बहुत होते हैं, जो विना अनुभव के, सुनी सुनाई बातो का पुराण-पाठ करते रहते हैं। अर्थात् स्वयं तो आत्म-परिचय कर नही पाते, पर दूसरो को वैसा उपदेश देकर भ्रम में डालते हैं। वास्तव मे उस साध्य रूप पद की प्राप्ति के विना, उसके सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं। कबीर कहते हैं कि जो इस आत्म-तत्त्व रूप पद को जानते हैं, वे प्रपंच-रहित होकर जीवन्मुक्त होजाते हैं और ऐसे सन्तों की वाणी ही यथार्थ प्रमाण होती है।

विशेष—(१) उक्त उलटवाँसी-पद मे 'पद' शब्द का प्रयोग श्लिष्ट है, जो भजन-पद तथा साध्य अमर पद दोनों की ओर संकेत करता है।

(२) 'धरती', 'अकास', 'चिउँटी', 'हस्ति', 'परवत', 'चकवा' आदि सांकेतिक प्रतीको के द्वारा कुंडलिनी-जागरण की साधना तथा सुरतियोग की ध्वनि निकलती है।

(३) धरती का आकाश की ओर जाना, चीटी के मुख में हाथी का समाना, विना पवन के पर्वत का उड़ना, सूखे सरोवर में हिलोर उठना आदि प्रयोग विरोध मूलक हैं, जिनसे विस्मय तत्त्व की सृष्टि हुई है। उक्त उदाहरण 'पूर्ण पद उलटवाँसी' का है।

उदाहरण-५—'कैसे नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिष बिचषन नारी ।।टेक।।
बैल बियाए गाइ भई बाँझ, बछरा दूहै तीन्यूं साँझ।
मकड़ी धरि माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी ।।
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै साँप पहरइया।
निति उठि स्याल स्यंघ सूं झूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै ।।'[2]

संकेतार्थ—नगरि = नगर, (मानव-शरीर)। कुटवारी = कोतवाली, (रक्षा)।

---

१. 'चले वाते चलं चित्तं, निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ।।' —हठयोग प्रदीपिका,

२. —कबीर ग्रंथावली, पद-८०; —कबीर बीजक, शब्द-६५ ('कबीर-बीजक' मे यह पद कुछ पाठ-भेद से मिलता है, जिसके कारण अर्थ मे कुछ वैचारिक भेद हो गया है।)

पुरिष = पुरुष, (पुरुष स्वभाव का मन)। विचपन = विचक्षण, (विचित्र)। नारी = स्त्री, (कामना, मनसा)। बैल = वृषभ, (विविध सस्कारो से लदा हुआ बैल रूप सदोष मन)। वियाइ जन्म देता है, (नाना प्रकार की काल्पनिक सृष्टि)। गाइ = गाय, (इन्द्रिय, सात्विक निष्क्रिय बुद्धि)। बाँझ होना = प्रसूति धर्म से रहित होना, (निश्चेष्ट होजाना)। वछरा = वच्छ∠वत्स, (सदोष मन पराश्रित इन्द्रियाँ)। तीन्यू साँझ दुहाजाना = त्रिप्रहर दोहन होते रहना अर्थात् इच्छानुसार कामनाओ को साकार रूप देना। मकड़ी = जाला पूर कर जन्तुओ को फँसाने वाली मर्कटक, (माया)। माषी = मक्खी, (वृत्ति, वासना)। छछिहारी —छिछोलियाँ खेलना, (ठिठोली करना)। मास पसारि = मांस फैलाकर, (उपलब्ध विषयों को चारो ओर देखकर)। चीलृह = चिल्ह (सं०), गिद्ध के आकार का एक पक्षी, (मनसा, कामना)। मूसा = मूषक, (सूक्ष्म वृत्ति वाला, पर चचल स्वभाव का मन)। खेवट = केवट, नाविक, (सतरण कराने वाला नायक)। नाव = नौका। विलइया = बिल्ली, (दुष्टमति)। मीडक = मण्डूक, (भ्रम मे पडा हुआ मन)। साँप = सर्प, (सशय)। स्याल∠शृगाल, (भीरु स्वभाव वाली जीवात्मा)। सयघ = सिंह, (प्रवल मन अथवा काल, मृत्यु)।

सांकेतिक व्याख्या—उक्त पद की अभिधा अपने तात्पर्यार्थ के बोझ से दवी जारही है, इसलिए पद का अभिधात्मक रूप असम्बद्ध कथनो की योजना-सा लगता है। पद की प्रथम 'टेक' वाली पक्ति को विचार पूर्वक पढने से प्रयोक्ता का तात्पर्य व्यजित होने लगता है। इस पद मे ऐसे नगर की रक्षा के सम्बन्ध मे कथन है, जिसका पुरुष चचल वृत्ति वाला है और नारी विलक्षण स्वभाव की है। अत: 'नगरि' का अर्थ मानव-शरीर की ओर लगने लगता है, जिसमे चचल स्वभाव वाला मन[1] रूप पुरुष और विलक्षण स्वभाव वाली कामना रूप नारी निवास करती है।

उक्त नगर रूप मानव-शरीर के भीतर वड़ी ही विचित्र और विषम परिस्थिति है। जन्म-जन्मातरो के नाना प्रकार के संस्कारो से लदा हुआ, बैल के समान, प्रवृत्ति-मार्गी सदोष मन इस नगर मे नित्य-नवीन सृष्टि किया करता है और वेचारी सात्विकी बुद्धि को निष्क्रिय रूप मे वन्ध्या बन जाना पड़ता है, क्योकि अपनी चचलता, प्रवलता के कारण मन सात्विकी बुद्धि की कोई वात नही सुनता। यही बैल का प्रसूति धर्म स्वीकार करना और गाय का बाँझ रहना है। उक्त परिस्थिति के फलस्वरूप मन के आश्रित बछड़े रूप अन्य इन्द्रियां तदनुकूल रहकर विषयो से दुग्ध का दोहन करती है। अर्थात् मन इन्द्रियो से मन माना काम लिया करता है। यही बछड़े का तीनो प्रहर दोहन होना है।

मक्खी रूप वासना या प्रवृत्ति, मकड़ी रूप माया के घर मे छिछोलियाँ खेला करती है। (मक्खी की शक्तियाँ मकड़ी की अपेक्षा सीमित होती है। जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले मे जन्तुओ को फँसा लेती है, वैसे ही मायाकृत जाल वड़ा विचित्र और मोहक होता है, जिसमे जीवों की वृत्ति रूप मक्खी आबद्ध बनी रहती है।) अर्थात् माया की सीमा में

---

१. 'चचलं हि मन: कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।' —श्रीमद्भगवद्गीता, ६।३४

मनसा का कार्य-व्यापार होता रहता है । विपयाकृष्ट सदोप कामना, अपने चारों ओर उपलब्ध मास रूप विपयों की रक्षा मे तत्पर बनी रहती है । उक्त सदोपी मन के कार्य-व्यापार में बिल्ली रूप दुष्टमति, नाविक अथवा केवट बने हुए मूपक रूप चंचल मन केलिए नौका का कार्य करती है । अर्थात् दुर्मति को आधार बनाकर मन अपने कार्यो मे प्रवृत्त बना रहता है । इस विपम परिस्थिति में भ्रमावस्था वाला मण्डूक रूप मन, अपने निकट सर्प रूप सशय को (क्योंकि भ्रम या सन्देह की अवस्था में मन सशयालु रहता है ।), जागरूक देखकर भी, सुख की नीद सोने का दम्भ करता रहता है । वह यह भूल जाता है कि अवसर पाते ही सर्प रूप सशय उसे निगल जायेगा । इस प्रकार चचल पुरुष रूप मन और विचित्र स्वभाव वाली मनसा के हाथों नगर रूप मानव-शरीर का रक्षा कार्य अव्यवस्थित बना रहता है । इस परिस्थिति में भी चतुर पर भीरु स्वभाव वाला शृगाल रूप जीव, आत्मा की प्रेरणा से, स्थिति को सुधारने अथवा दृढ करने केलिए, नित्यप्रति अर्थात् निरन्तर अभ्यास से अथवा प्रत्येक जन्म में, सिंह रूप काल अथवा प्रबल मन से सघर्ष करता रहता है । तात्पर्य यह है कि साधक रूप जीवात्मा को, नगर की व्यवस्था या परमपद पाने केलिए विपय-वन मे स्वेच्छाचारी होकर मृगया करने वाले सिंह स्वभाव के मन से अथवा सिंह के समान बली काल से सघर्ष करना पडता है । कबीर का कहना है कि इस विपम परिस्थिति के वैचारिक रहस्य को कोई विरला ही जान पाता है ।

विशेष—(१) द्वितीय तथा अन्तिम पक्ति की समानार्थी (सिद्ध ढेण्ढणपा की) ये पक्तियां प्रसिद्ध है—

'बलद बिआअल गविआ बाँझे । पिटा दुहिअइ एतिणा सांझे ।
निति निति सियाला सिंहे सम जुझअ । ढेण्ढणपाएर गीत विरले बुझअ ।'[1]

(२) शैली के कलेवर मे विशेपोक्ति, असगति, विभावना, विरोध आदि अलकार सहज ही प्रविष्ट हुए प्रतीत होते हैं ।

(३) विपय की दृष्टि से उक्त पद में साधना-मार्ग की परीक्षा, विपम परिस्थिति आदि का सकेत है । इसकी अन्तिम पक्ति मे परिस्थिति को काबू मे करने केलिए साधनाभ्यास के नैरन्तर्य की व्यजना हो रही है ।

(४) व्यवहार क्षेत्र से प्रतीकों के चयन, व्यवहारिक भाषा के प्रयोग तथा गीतितत्त्व के सहयोग से पद की मार्मिकता बढ़ गई है । 'कैसें' पद के प्रयोग से परिस्थिति की विपमता, 'अचरज' से विस्मय, 'बिरला बूझै' से चुनौती का स्वर और साध्य की दुष्करता मुखर हो रही है ।]

(५) 'कबीर-बीजक' मे उक्त पद पाठान्तर से आया है, जिसमें पाँच के स्थान पर चार पक्तियाँ हैं और 'पुरुप' तथा 'नारी' शब्दो का प्रयोग नही है । 'बीजक' वाले पद मे चुनौती का स्वर कुछ तीव्र है । उस नगर की, जिसमे नाना प्रकार की विपमताएँ,

१. —चर्यागीतिकोपः, पृ० १०८

अव्यवस्थाएँ फैली हुई हैं, उसकी कोतवाली (रक्षा) कौन कर सकता है ? अर्थात् रक्षा-कार्य दुष्कर है। यहाँ 'नगर' का अर्थ समार पक्ष में अधिक लगता है, जिसमे रहने वाले जीव, मन की चंचल वृत्ति के वशीभूत होकर नाना प्रकार की असगतियो मे फँसे रहते है। उस विपम स्थिति मे सुधार केलिए सिंह स्वभाव वाले, आत्मतत्त्व प्रधान जीवात्मा को स्यार रूप मनसे सघर्ष करना पडता है।

उदाहरण-६—'अवधू जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ कलप नहीं व्यापै, देही जुरा न छीजै ॥टेक॥
उलटी गंग संमुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।
नवग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल मे ब्यंब प्रकासै ॥
डाल गह्यां थैं मूल न सूझै, मूल गह्यां फल पावा।
बंबई उलटि शरप कौं लागी, धरणि महारस खावा ॥
बैठि गुफा मे सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटै धनकि पारधी मार्‌यौ, यहु अचिरज कोइ बूझै ॥
औंधा घड़ा न जल मे डूबै, सूधा सूभर भरिया।
जाकौं यहु जग घिण करि चालै, ता प्रसादि निस्तरिया ॥
अम्बर बरसै धरती भीजै, यहु जांणै सब कोई।
धरती बरसै अम्बर भीजै, बूझै विरला कोई ॥
गांवणहारा कदे न गावै, अणबोल्या नित गावै।
नटवर पेखि पेखनां पेखै, अनहद बेन वजावै ॥
कहणीं रहणीं निज तत जाणें, यहु सब अकथ कहाणीं।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसां की वांणीं ॥
बाझ पियालै अमृत सोख्या, नदी नीर भरि राख्या।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, धरणि महारस चाख्या ॥'[1]

संकेतार्थ— नीद=निद्रा, (आलस्य)। काल न खाइ=मृत्यु के वशवर्ती न होना। जुरा=वृद्धावस्था। उलटी गग=उलटी धारा, (प्राणो की ऊर्ध्वगति, वृत्ति का रहना) समुद्र=भव-सागर। ससिहर-सूर=चन्द्र सूर्य, (हठयोग प्रतिपादित मेरु-शिखर पर, ब्रह्म-रन्ध्र मे स्थित चन्द्राकार विशेप स्थान तथा मूलाधारस्थ सूर्यरूप विशेष स्थान अथवा इड़ा-पिंगला नाम्नी योग-नाडियाँ)। रोगी=रुग्ण, (साधक, योगाभ्यासी)। नव-ग्रिह= शरीर के नवद्वार। जल में=पानी मे, (माया के प्रभाव मे अथवा वीर्य निर्मित शरीर मे)। व्यव=प्रतिछाया, प्रतिबिम्ब (ब्रह्म-ज्योति)। डाल=शाखा, (बाह्यरूप, संसार)। मूल=जड, आदि (आदि पुरुष परमात्मा)। फल=साध्य। बबई=बांबी (शरीर)। शरप=सर्प (सशय)। धरणि=पृथ्वी, (जड़ रूप शरीर अथवा जाग्रत होने से पूर्व जड रूप बनी हुई कुडलिनी)। महारस=महासुख, (ब्रह्मानन्द)। गुफा=कन्दरा (घट, हृदय,

१. —कबीर ग्रथावली, पद १६२, —कबीर बीजक, शब्द २ (पाठ भेद के साथ)

शरीर)। वहरि=बाह्यान्तर (बहिर्मुखी वृत्ति प्रधान होने की स्थिति)। धनकि=धनुष, (ध्यान)। पारधी=शिकारी, (साधक)। मार्यो=समाप्त कर दिया (साधक से सिद्ध बना दिया)। औघा घड़ा=अन्तर्मुखी घट या हृदय। जल मे=माया के प्रभाव मे। प्रसादि=कृपा से। निस्तरिया=निस्तार हो जाता है, पार लग जाता है। धरती=पृथ्वी (प्राण तत्त्व को धारण करने वाली काया अथवा कुंडलिनी)। अवर=आकाश (गगन-शिखर, सहस्रार चक्र)। अनबोल्या=मौन। गांवणहारा=वाचाल। अनहद वैन=अनहद नाद। पुरिसा=पुरुष, (जीवन्मुक्त पुरुष) वाँझ=वन्ध्या, (सात्विक निष्क्रिय बुद्धि) पियालै=प्याला, पात्र (सूक्ष्म घेरा। अमृत=अमरतत्त्व। नदी=प्रवाह, अधोगामी प्रवाह। भरिराप्या=अवरुद्ध कर लिया (अन्तःसत्त्व की स्थिति प्राप्त हुई)।

(उक्त उलटवाँसी-पद मे अन्तर्मुखी साधना तथा सिद्धावस्था मे साधक की दशा का कथन है)।

परवर्ती सन्त और उनके उलटवाँसी-प्रयोग :

धनी धर्मदास जी. (सम्वत् १४७५-१६०० के मध्य मे)। वेलविडियर प्रेस से 'शब्दावली' नाम से आपकी बानियो का सग्रह प्रकाशित हुआ है। आपकी बानियो मे उलटवाँसी शैली की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। आप की शब्दावली के बीस पदो मे उलटवाँसी शैली के तत्त्व सम्यक् रूप से विद्यमान है। विषय की दृष्टि से इन उलटवाँसी-पदों में हठयौगिक साधना, माया का प्रभाव तथा सिद्धि-अवस्था जन्य अनुभूति की सघनता का वर्णन मिलता है। 'भेद का अग' शीर्षक के अधिकाश 'शब्द' उलटवाँसी शैली प्रधान हैं। प्रतीक-योजना की दृष्टि से आपके उलटवाँसी-पदों मे नवीनता नही मिलती। प्रायः कबीर के उलटवाँसी-पदो मे प्रयुक्त प्रतीको को ही अपनाया है। शरीर केलिए 'चोली' तथा दुलहिनि से सम्बन्धित 'पीहर' 'ससुराल' आदि प्रतीको की योजना मे परिस्थिति जन्य व्यंजना की मार्मिकता देखने को मिलती है। भाषा मे पूर्वीपन के पुट के कारण माधुर्य गुण की अनुभूति होती है। उलटवाँसी शैली की प्रयोग विषयक प्रवृत्ति और सिद्धि के सम्बन्ध में उनके दो उलटवाँसी मूलक पद प्रस्तुत है :—

उदाहरण-१— 'हमें एक अचरज जानि पड़ै ॥ टेक ॥
जल भीतर इक वृच्छा ऊपजै, ता में अगिन जरै।
ठाढ़ी साखा पवन झकोरै, दीपक जोति बरै ॥
माथे पर तिरवेनी बहत है, चढ़ि ऊपर असनान करै।
लरजै गरजै दामिनि दमकै, कामिनि कलस भरै ॥
मट्टी का गढ़ कोट बना है, जा में फौज लड़ै।
सूरबीर कोउ नजरि न आवै, नाहक रार करै ॥
साहेब अमर मरै ना कबहूँ नाहक सोच करै।
धरमदास या पद को गावै, फिर कबहुँ न टरै ॥'[1]

---

१ —धनी धरमदास जी की शब्दावली (भेद का अग), शब्द-६

संकेतार्थ—अचरज=आश्चर्य, अचम्भा। जल-भीतर=पानी के अन्तराल में, (माया के प्रभाव मे)। वृच्छा=वृक्ष, (ससार अथवा शरीर)। अगिन=अग्नि, (त्रय ताप, ज्ञानाग्नि या जठराग्नि)। ठाढ़ी शाखा=सीधी टहनी, (लम्बवत् मेरुदड)। पवन झकारै=वायु को प्रवाहित करती है, (प्राणवायु को उद्वेलित करती हे)। दीपक जोति=दीप का प्रकाश अर्थात् ज्ञान-ज्योति। बरै=दीपित होती है। माथे पर=मस्तक मे, (ललाटस्थ त्रिकुटी स्थान में)। तिरवेनी=त्रिवेणी, (इडा, पिंगला, सुपुम्ना नाम्नी गगा, यमुना, सरस्वती रूप नाडियो का सगम स्थान)। चढि ऊपर=ऊपर चढकर अर्थात् सुपुम्ना मार्ग से ऊर्ध्वगामी होकर। स्नान=तदाकार वृत्ति मे निमग्न होना। दामिनि दमकै=विद्युत चमकती है, (आत्म-ज्योति का प्रकाश होता है)। कामिनि कलस भरै=सुन्दरी घट भरती है, (साधक जीवात्मा अथवा सुरति रूप कामिनी हृदयरूपी घर को तत्त्व ज्ञान के जल से परिपूर्ण करती है)। मिट्टी का गढ-कोट=मिट्टी निर्मित किला, (मृत्तिका पिण्ड अर्थात् मनुष्य का शरीर)। फौज लडै=सेना द्वन्द्व करती है, (इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय की ओर आकृष्ट होकर खीचातानी करती है)। सूरवीर=शूरवीर अर्थात् योगाभ्यासी साधक। नाहक=व्यर्थ मे। रार=झगडा। साहेव=स्वामी, परमात्मा। अमर=शाश्वत। सोच=चिन्ता। न टरै=विचलित नही हो सकता।

विशेष—उक्त पद मे, साधना निरत रहने तथा अमर पद परमात्मा के ध्यान मे लगे रहने से अटल पद की प्राप्ति होती है, इस आत्म विश्वास को अभिव्यक्ति मिली है। साथ ही सासारिक अथवा शरीर सम्बन्धी विपमता की ओर सकेत भी है।

उदाहरण-२— **'साहेब मोरे दीन्ही चोलिया नई ॥टेक॥**
तीन पाँच मोरि चोलिया के घुंडी, लागी कुमति सुमतिया की पाती।
यह चोलिया मोरे ससुरे से आई, चोलिया पहिरि धनि भई अलमाती॥
सुनहु हो मोरी पार परोसिन, यह चोलिया बिरला जन जानी।
पहिले बियाह मोर भयो सतगुरु से, चोलिया के बँद मोरे सतगुरु खोली॥
धरमदास विनवै कर जोरी, बिसरि गई नइहरवा की बोली॥'[1]

संकेतार्थ—साहेव=स्वामी, पति रूप परमात्मा। नई चोलिया=वस्त्र विशेष, (नवीन जीवन या शरीर)। तीन घुडी=त्रिगुण की ग्रथियाँ। पाँच घुडी=पचेन्द्रियो का सवाय। पाती=पत्ती अर्थात् कुमति सुमति का सस्कार। ससुरे से=श्वसुरालय से, (पति रूप परमात्मा के यहाँ से)। धनि=युवती, (जीवात्मा)। अलमाती=मदमस्त। पार-परोसिन=अन्य जीवात्माएँ। बिरला जन जानी=विरले सन्तो ने ही इस (चोली) का रहस्य समझा है। बियाह=विवाह, सम्बन्ध, परिचय। बँद=ग्रँथियाँ, अज्ञान का वन्धन। बिसरिगई=विस्मृत होगई। नइहरवा=पीहर, (पिता का घर अर्थात् ससार)*।

---

१. —धनी धरमदास जी की शब्दावली (मिश्रित का अग), शब्द-७

* **टिप्पणी**—विरहिणी अथवा उद्‌बुद्ध जीवात्मा केलिए इह लोक पितृगृह तथा पर-लोक श्वसुरालय है तथा वद्ध जीवात्मा केलिए ससार श्वसुरालय और परलोक-पीहर के रूप मे वर्णित हुआ है।

रैदास जी—(१५वे शतक का उत्तरार्द्ध तथा १६वे शतक का पूर्वार्द्ध) 'रैदास जी की बानी' नाम से आपकी बानियो का एक सग्रह 'वेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। आपकी बानी मे उलटबाँसी शैली के प्रयोग की प्रवृत्ति बहुत कम देखने को मिलती है। परन्तु, कुछ उदाहरण ऐसे अवश्य मिल जाते है, जिनमे रूढ़ पारिभाषिक शब्दो की योजना तथा प्रतीको के प्रयोग से उलटबाँसी शैली व्यजित होने लगती है। ऐसे प्रयोग परम्परा-निर्वाह केलिए ही प्रतीत होते हैं। इनमे प्रयोग सम्बन्धी विलक्षणता नही दिखाई देती। ऐसा ही एक उदाहरण है :—

'देहु कलाली एक पियाला, ऐसा अवधू है मतवाला ॥टेक॥
हेरे कलाली तै क्या किया, सिरका सा तै प्याला दिया।
कहे कलाली प्याला देऊँ, पीवनहारे का सिर लेऊँ ॥
चंद सूर दोउ सनमुख होई, पीवै प्याला मरै न कोई।
सहज सुन्न मे भाठी सरवै, पीवै रैदास गुरुमुख दरवै ॥'[1]

संकेतार्थ—कलाली=मदिरा विक्रेता, (गुरु)। पियाला=प्याला, मदिरा पात्र, (शरीर अथवा भक्ति तत्त्व)। सिरका सा=सिरके के समान, (तुच्छ पेय जो मदिरा के समान उत्तेजक नही होता)। पीवनहारे का=प्रेम अथवा साधक का। सिरलेऊँ=शीश लेना अर्थात् सर्वस्व लेना अथवा सर्वस्व बलिदान। चद्र-सूर्य=चन्द्र-सूर्य रूप इडा-पिंगला नामक योग नाड़ियाँ। मरै न कोई=विनाश नही होता, परमात्मा के प्रेम की मदिरा पान करने वाले का विनाश नही होता। सहज=सहज समाधि। सुन्न=शून्य, (गगन शिखर)। भाठी सरवै= सहस्रारचक्र के अमृत की वर्षा होती है। गुरुमुख होना=गुरु की कृपा का होना।

गुरु नानक : (स० १५२६-१५९५) लेखक ने आपकी सम्पूर्णवाणी का अध्ययन नही किया है। 'संतबानी सग्रह' मे आपकी जो बानियाँ सग्रहीत हैं, उनसे प्रतीत होता है कि आपकी वाणी में व्यवहारिक उपदेशात्मकता की अधिकता है, गोपन की प्रवृत्ति कम। कहीं-कहीं उदाहरण केलिए कोई उलटबाँसी मूलक कथन मिल जाता है। जैसे :—

'धर अम्बर विच बेलड़ी, तहँ लाल सुगंधा बूल।
झंखर इक नाँ आयाँ, नानक नहीं कबूल ॥'[2]

इस साखी मे माया रूप वेलि की व्याप्ति का कथन है, जिसमे आकर्षण रूप लाल पुष्प लगा है, पर काँटे नहीं दिखाई देते। नानक देव जी इस वेलि को स्वीकारोक्ति नही देते।

दादूदयाल जी. (१६०१-१६६०) आपकी बानियो का सग्रह 'वेलविडियर प्रेस' से दो भागो (साखी और पद) में प्रकाशित हुआ है। आपकी साखियो मे उलटबाँसी मूलक

---

१. —संत बानी सग्रह (दूसरा भाग), पृ० ३३
२. —सन्त बानी सग्रह (पहला भाग), पृ० ७०

कथनो का प्रयोग नही के बराबर है। पर, 'शब्दो' मे उलटवाँसी शैली के सम्यक् उदाहरण मिलते हैं। उनमे भी 'पूर्णपद उलटवाँसी' रूप मे 'शब्द' नही मिलते, वरन् कुछ पक्तियो मे उलटवाँसी शैली की प्रतीति होती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आपका स्वभाव किसी बात अथवा साधना के रहस्य को गूढ बनाकर कहने का नही था। प्रवृत्ति सूचक एक 'शब्द' यहाँ प्रस्तुत है—

'ऐसा ज्ञान कथौ नर ज्ञानी। इहि घर होइ सहज सुख जानी॥
गंग जमुन तहँ नीर नहाइ। सुषमन नारी रंग लगाइ॥
आप तेज तन रह्यौ समाइ। मै बलि ताकी देखौ अघाइ॥
बास निरंतर सो समुझाइ। बिन नैनहु देखि तहँ जाइ॥
दादू रे युह अगम अपार। सो धन मेरे अधर अधार॥'[1]

संकेतार्थ—घर=शरीर। गग-जमुन=गगा-यमुना रूप इडा-पिंगला। सुषमन नारी =सुषुम्ना नाड़ी। बास=वास, निवास। बिन नैन=बिना चर्म चक्षुओ के अर्थात् प्रज्ञा चक्षुओ से। (इस पद मे साधना-प्रक्रिया व्यजित है।) इसी प्रकार विरोधाश्रित निम्न पक्तियो के द्वारा सिद्धि अवस्था की ओर सकेत है—

'तहँ अनहद बाजै अद्भुत खेल। दीपक जलै बाती बिन तेल॥
अखंड जोति तहँ भयौ प्रकास। फाग वसन्त जो बारहमास॥
त्रि-अस्थान निरंतरि निरधार। तहँ प्रभु बैठे समरथसार॥'[2]

निरंजनी सम्प्रदाय के सन्त—इस सम्प्रदाय के सन्तो मे हरिदास, तुरसीदास, सेवादास इन तीन सन्तो की कुछ बानियाँ 'निरजनी सम्प्रदाय और सत तुरसीदास निरजनी' शीर्षक पुस्तक मे डॉ० भगीरथ मिश्र ने सम्पादित की है। उन्ही के आधार पर उक्त सन्तो की उलटवाँसी शैली के प्रयोग-प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे यहाँ विवेचन प्रस्तुत है।

(१) हरिदास जी : 'हरिदास जी ने अपनी रचनाओ मे कबीर और रैदास का उल्लेख किया। इससे स्पष्ट है कि इनका समय इनके बाद का है।'[3] उक्त सग्रह मे संग्रहीत आपकी बानियो मे 'साखी' भाग मे उलटवाँसी शैली की प्रवृत्ति कम दिखाई देती है। पदो मे कई पद 'पूर्णपद' तथा 'अशपद' उलटवाँसी के मिलते है। आपके उलटवाँसी-पदो मे मौलिक प्रतीको का प्रयोग कम दिखाई देता है। पारिभाषिक रूढ शब्दावली का ही अधिक प्रयोग है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

---

१ —दादू दयाल की बानी (भाग २), पृ० २६

२. —दादू दयाल की बानी (भाग २), पृ० १६०

३ —निरजनी सम्प्रदाय और सत तुरसीदास निरजनी, पृ० १५

उदाहरण— 'बेली लो ततबेली लो, काटी बेलि बघेली लो ।।टेक।।
चंद सूर दोज सम करि राख्या, सास सबद संग लाया लो ।
गंगा मूल तहाँ रस उलटै, बेलित कौ रस पाया लो ।।
निज निरसिंघ आगह अभिअन्तरि, बरण विवरजत वांणी लो ।
इला पिंगला सुषमनि मेला, ता सुष बेलि समानी लो ।।
तरवर अगम अणी तहाँ लागी, बेलि कीया विस्तारा लो ।
काटी बेलि अमर फल लागा, बिन काटी फलधारा लो ।।
वास विकट कोई पान न पड़ै, मृग बसै ता माँही लो ।
पाइक पाँच पहरवा राख्या, उदय अस्त दोइ नाही लो ।।
गगन मंडल में बेलि विलूंधी, मूल मता मै आया लो ।
जन हरीदास आतमा कै अंतरि, सतगुर साँच बताया लो ।।'[1]

(२) तुरसीदास जी : 'काशी प्रचारिणी सभा की खोज मे तुरसीदास की वाणी की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख हुआ है, जिसमें 'इतिहास समुच्चय' की प्रतिलिपि भी सम्मिलित है । 'इतिहास समुच्चय' के अत मे लिखा है कि उसकी प्रति वि० सवत् १७४५ (१६८८ ई०) मे उधोदास के शिष्य लालदास के शिष्य तुरसीदास ने की थी । इसलिए महाभारत की प्रति स० १७४५ मे लिखना सत्य जान पड़ता है । अत: तुरसी का समय विक्रमीय १८वी शताब्दी का प्रारम्भ कहा जा सकता है । इस प्रकार ये प्रसिद्ध महात्मा तुलसीदास के समसामयिक किंतु कुछ पश्चात् अवतरित हुए थे ।'[2] तुरसीदास जी की बानियो मे साकेतिक और पारिभाषिक रूढ प्रतीको की योजना के माध्यम से, ज्ञान-विरह की अवस्था मे अनेक उलटवाँसी-शब्दों की सृष्टि हुई है । 'ज्ञान-विरह' की अवस्था मे साधक को सासारिक व्यापार प्रतिकूल लगने लगते है ।[3] आपके साखी और पद दोनों मे ही विरोध मूलक तथा रूपक तत्त्व प्रधान उलटवाँसी मूलक कथन मिलते हैं । परम्परा की दृष्टि से आपके उलटवाँसी-पदो का महत्व है, प्रयोग की दृष्टि से कुछ नए प्रतीकों के अतिरिक्त कोई नवीनता देखने को नही मिलती । उनकी बानियो से उलटवाँसी शैली के दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है:—

उदाहरण-१— 'जल माँही एक झल उठी, सीतल सुधि सुभाव ।
तुरसी ता पावक महीं, मीन करै विचराव ।।

---

१. —निरजनी सम्प्रदाय और सन्त पुरसीदास निरजनी (वानी-सग्रह), पृ० १६५
२. डॉ० भगीरथ मिश्र 'निरजनी सम्प्रदाय और सत तुरसीदास निरजनी', पृ० २०-२१
३. 'आत्मा इस अवस्था मे ससार के वातावरण को अपने अनुकूल नही पाती है और परम ज्योति से मिलने केलिए कामना रहती है । इस दशा का वर्णन कठिन है और यह आत्मदर्शन के साथ की दशा है । कबीर और तुरसी आदि संतो ने इसका वर्णन उलटवाँसी के रूप मे किया है ।'
डॉ० भगीरथ मिश्र 'निरजनी सम्प्रदाय और सत तुरसीदास निरजनी' पृ० ६६

पानी में प्रवेस किये, महर महर बरै अंग ।
तुरसी पावक परस ते, उपजै गंग तरंग ।।
दौ लागी दरियाव में, दगध भया पानी ।
तुरसी या गति कोऊ समुझै जग ग्यानी ।।'[1]

आनुभूतिक सघनता को साकेतिक प्रतीक शैली मे निम्न प्रकार अभिव्यक्त किया है:—

उदाहरण-२— 'बाबा यहु गति बूझै विरला कोई ।
जापरि कृपा करिहि कृपासिंध, सुधि पावै जन सोई ।।टेक।।
गहि गुर धरम धसै दरिया मँहि, जहाँ जाइ थिर होई ।
बिन नैनों पूरन पद पेपै, पाप पुनि मल धोई ।।
जल में पैसि लगावें ज्वाला, तामें होमै लोई ।
निरभै होइ निरंतरि पेलै, परसि परम सुष सोई ।।
उर मांही आरांम विचारै, धुनि मे ध्यांन संजोई ।
जन तुरसी ऐसा जन जोगी, बहुरि न जनमै सोई ।।'[2]

(३) **सेवादास** जी : 'इनकी भी रचना का एक सग्रह डॉ० बडथ्वाल जी के पास था जिसमे ३५६१ साखियाँ, ४०२ पद, ३९९ कुंडलियाँ, १० छोटे ग्रथ, ४४रेख़ता, २०कवित्त और ४ सवैया है। सेवादास, हरिदास निरजनी की परम्परा मे छठी पीढी मे हुए और ये दयालदास के शिष्य थे । उनकी जीवनी 'सेवादास परची' नाम से पद्य मे मिलती है, जिसे कि उनके शिष्य अमरदास के शिष्य रूपदास ने सवत् १८३२ (१७६५) मे वैसाख कृष्णपक्ष को लिखी थी । इसके अनुसार इनकी मृत्यु ज्येष्ठ कृष्ण अमावस स० १७९२ वि० मे हुई थी ।'[3] सग्रहीत बानियो मे आपकी अनेक साखी, पद, कुडलियाँ उलटवाँसी शैली की मिलती हैं । कई पद और साखी साकेतिक प्रतीक-प्रधान उलटवाँसी है और अनेक पारिभाषिक रूढ-प्रतीको मे लिखे गये हैं । प्रयोग की दृष्टि से आपकी बानियो मे उलटवाँसी शैली का विरोधाश्रित चमत्कार आकर्षक और शैली के परम्परा विकास मे विशेष सहयोगी है । यहाँ दो उदाहरण प्रस्तुत है:—

उदाहरण-१— 'एक अचंभा ऐसा भया, उलटि स्याल सिंघ कूँ गह्या ।।टेक।।
बकरी उलटि चीता कूँ घेर्‌या, फिरि मूसै गही मंजारी ।
मुसै स्वांन कूँ बन मे घेर्‌या, अब भया अचंभा भारी ।।
फिरि सिंघ गाइ की रछ्‌या करही, मींडक साप वसि कीया ।
मकड़ी कू माषी गहि राषो, चिड़ै सिचाण गहि लींया ।।

---

१. —निरजनी सम्प्रदाय और सत तुरसीदास निरजनी, पृ० ३९
२. —वही, (बानी-सग्रह), पृ० १४४
३. —भूमिका 'निरजनी सम्प्रदाय और सत तुरसीदास निरजनी' पृ० १६

फिरि मुरगं दौड़ि बिलाई पकड़ी तीतर सिकरा मार्‌या ।
मृघ भील कूं चौड़े रोवयां, वावर सरप सिंघ डार्‌या ॥
राज करैं बांझ के बेटो, अखिल सबै सिधारैं ।
जन सेवादास सोई जन सूरा, या पद का अरथ बिचारैं ॥"[1]

उक्त पद मे ज्ञान-विरह, विचार-दशा अथवा अन्तर्मुखी साधक के साधनाभ्यास का फल सांकेतिक प्रतीकों के माध्यम मे, विरोधाश्रित उलटवांसी-पद के रूप मे अभिव्यक्त किया है ।

उदाहरण-२— 'सषी हो भाग हमारे पूरा ।
पेलू सब संत पीव संगि बाजै अनहद तूरा ॥ टेक ॥
इला पिंगला समि करि राषूं, मधि सुषमनां आंनी ।
पांच सषी मिलि पेलन लागी, नौ घर भरैं न पांनी ॥
घर घर आनंद होत परमसुष, सुनि मंडल कै छाड़ै ।
परमात्मा सूं आत्ममेला बेणि मधुर धुनि बाजै ।
मन निहचल निरभैसुष लागा, परमसुष मन पाया ।
जन सेवादास आनंद सुष विलसै, सतगुरु अलष लषाया ॥"[2]

इस पद मे रूढ शब्दावली के द्वारा हठयोगिक साधना की व्यंजना है ।

बाबा मलूकदास : (स० १६३१-१७३९) 'मलूकदास जी की बानी' में उलटवांसी शैली की प्रवृत्ति बहुत कम देखने को मिलती है । परम्परा-निर्वाह केलिए यत्र-तत्र उलट-वांसी मूलक कथनों की योजना है । हाँ, परम्परा-निर्वाह के रूप मे भी कई उलटवांसी-पद व्यजना प्रधान बन पड़े है । आपकी विचित्र 'नैया' देखिये जो विषम परिस्थिति मे भी सभी प्रकार चलती है, अवसर पडने पर यह पर्वत का भार-वहन करने तथा सूखे मे सतरित होने की सामर्थ्य वाली है । इस नौका को कोई विरला केवट ही समझ पाता है । देखिये—

उदाहरण-१— 'नैया मेरी नीके चलने लागी ।
आँधी मेंह में तनिक नहिं डोलै. साहु चढ़े बड़ भागी ॥
राम राय डगमगी छोड़ाई, निर्भय कड़िया लैया ।
गुन लहासि की हाजत नाहीं, आछा साज बनैया ॥
अवसर पड़ें तो पर्वत बोझै, तहूं न होवै भारी ।
धन सत गुरु यह जुगत बताई, तिन की मैं बलिहारी ॥
सूखे पड़ें तो कछु डरनाहीं, ना गहिरे का संसा ।
उलटि जाय तो बार न बांके, या का अजब तमासा ॥
कहत मलूक जो बिन सिर खेवै, सो यह रूप बखानै ।
या नैया के अजब कथा, कोइ विरला केवट जानै ॥[3]

---

१. —निरजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरजनी, (सेवादास की वानी), पृ० १६५
२. —निरजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरजनी वही, पृ० २००
३. मलूकदास जी की बानी, पृ० ३

सुन्दरदास जी : (वि० स० १६५३-१७४६) आप महात्मा दादूदयाल जी के शिष्य थे। उलटवाँसी शैली के परम्परा-विकास मे ये ऐसे प्रयोक्ता सन्त हुए है, जिनकी शिक्षा-दीक्षा विधिवत् हुई थी। आपकी बानियाँ 'सुन्दर ग्रंथावली' नामसे, पुरोहित श्री हरि-नारायण शर्मा द्वारा 'राजस्थान रिसर्च सोसाइटी' कलकत्ता, से प्रकाशित हुई हैं।

सन्त सुन्दरदास उलटवाँसी शैली के सफल प्रयोक्ता है। आपने उटलटवाँसी-पदों को 'बिपर्ज्जय' अथवा विपर्यय अग के अतर्गत रचा है और उलटवाँसी को 'उलटी बात', 'उलटा ख्याल', 'उलटा ज्ञान' आदि शब्दो द्वारा अभिहित किया है। आपके लगभग पचास साखियाँ और तीस सवैया खरे उलटवाँसी-पद हैं। इनके अतिरिक्त 'पूर्वी भाषा बरबै' (सु० ग्र०, द्वितीय खण्ड, पृ० ३७७) शीर्पक मे भी कुछ उलटवाँसी मूलक कथन हैं।

अपके उलटवाँसी-पदों की भाषा परिनिष्ठित, छंद-विधान मात्रा-दोष से रहितहै। विषय की दृष्टि से आपके उलटवाँसी-पद ज्ञान-दशा अथवा साधक की विचार-दशाके अनुभव को प्रकट करते है, पर रूपक तत्त्व प्रधान भाव-दशा की अभिव्यक्ति का अभाव है। प्रतीक-चयन की दृष्टि से आप के उलटवाँसी-पद सर्वाधिक समृद्ध कहे जा सकते है, क्योंकि आपके प्रतीको का चयन-क्षेत्र विस्तृत पीठिका लिए हुए है। आपके उलटवाँसी-पदो मे 'पंडित ज्ञाता,, 'ज्ञानी' आदि सम्बन्धो का, अर्थोद्‌वोधन केलिए, प्रयोग कम है। फिर भी अर्थ उद्‌घाटन केलिए उन्हें सजग अवश्य किया गया है, जिनमें चुनौती का स्वर कम होने पर भी सावधान रहने की ध्वनि अधिक निकलती है। सभी 'सवैया' पदो की अन्तिम पंक्ति प्राय: प्रयोक्ता का नाम और पद का अर्थ प्रकट करने केलिए कुछ सकेत लिये रहती है। आपकी उलटवाँसी शैली की रचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आपने इस शैली को, अपनी प्रतिभा और प्रयोग कुशलता के बल पर, सुदृढ भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। आपके उलटवाँसी-पदो की प्रवृत्ति देखने केलिए कुछ उदाहरण, सकेतार्थ सहित* यहाँ प्रस्तुत हैं—

उदाहरण-१— 'कुंजर कौं कीरि गिलि बैठी, सिंघहि षाइ अघानो स्याल।
मछरी अग्नि माँहि सुख पायो, जल में हुती बहुत बेहाल॥
पंगु छड्यो पर्वत कै ऊपर, मृतकहि देषि डरानौ काल।
जाको अनुभव होइ सु जानै, सुन्दर ऐसा उलटा ख्याल॥"[1]

संकेतार्थ—कुजर=गज, (विषय-प्रवृत्त मन, काम)। कीरी=चीटी (सूक्ष्म सात्त्विक बुद्धि)। गिलि बैठी=निगल गई (अभिभूत कर लिया)। सिंघ∠सिंह, (प्रचण्ड क्रोध अथवा अन्तर्मुखी प्रबल मन)। स्यार=श्रृगाल (प्रबुद्ध जीवात्मा)। मछरी=मछली (अन्तर्मुखी वृत्ति)। अग्नि=ऊष्मा (ब्रह्म-विचार रूप अग्नि, ज्ञानाग्नि)। सुख पायौ=

---

* टिप्पणी—साकेतिक व्याख्या केलिए 'सुन्दर ग्रथावली' (द्वितीय खण्ड) की 'पीताम्बरी-टीका' तथा 'सुन्दरानन्दी टीका' से पर्याप्त सहायता लीगई है।

१. —सुन्दर ग्रथावली (द्वितीय खण्ड), अग २२, सवैया ३

आनन्दानुभूति। जल=पानी, प्रवाह, (लोक-धारा, माया का प्रभाव) वेहाल=वेचैन, दुखी। पंगु=अपाहिज (अन्तर्मुखी, निवृत्त मन)। पर्वत=शिखर (मेरु शिखर)। मृतक=प्राणहीन, (मरजीवा, जीवन्मुक्त)। काल=मृत्यु। उलटा ख्याल=उलटा विचार (उलट-वास की अवस्था का विचार)।

सांकेतिक व्याख्या—अभिधारूप मे उक्त सवैया का अर्थ वडा विचित्र लगता है। प्रतीकों में निहित संकेतो में अर्थ की संगति उचित वैठ जाती है। वैराग्याभ्यास की स्थिति में निरन्तर विचार करते-करते अन्तर्मुखी साधक ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है जव उसकी सात्विक और निवृत्त बुद्धि अति सूक्ष्मता को प्राप्त हो जाती है। उस अवस्था में कुजर रूप विषय-प्रवृत्त मन चीटी रूप सूक्ष्म वुद्धि के अकुश में आजाता है और चतुर शृगाल रूप प्रवुद्ध जीवात्मा, (सव पापो की जड़) सिह रूप प्रचण्ड क्रोध को, आत्मिक शक्ति के द्वारा, अभिभूत कर लेती है। इस प्रकार वैचारिक सूक्ष्मता के वल पर साधक काम और क्रोध रूप दो प्रवल शत्रुओ को जीत लेता है। जो प्रवृत्ति विचार-काल से पूर्व माया के प्रभाव रूप जल मे असंतोष का अनुभव करती थी, वेचैन वनी रहती थी, वही वृत्ति, अन्तर्मुखी होकर ज्ञानाग्नि अथवा ब्रह्म विचार रूप सत्त्व की ऊष्मा में आनन्द का अनुभव करने लगती है। जीव के प्रवाह-काल मे जो वहिर्मुखी मन पर्वतरूप अहकार से अभिभूत वना रहता था, वही निवृत्त होकर अन्तर्मुखी अवस्था मे अपनी चचलता को छोड़कर पगुवत् वना रहता है और उसी अवस्था मे ही वह अहकार को दवा लेता है। अथवा निवृत्त होकर वह साधक की ऊर्ध्वमुखी वृत्ति के रूप में पर्वत रूप मेरु-शिखर पर अधिष्ठित होजाता है। लोक-प्रवाह मे, अज्ञान जनित भ्रम के कारण, वद्धजीव काल से नित्यप्रति भयभीत वने रहते हैं। परन्तु मरजीवा अथवा जीवन्मुक्तावस्था मे सिद्ध रूप साधक सुख-दु:ख की अवस्था का अतिक्रमण कर जाता है, उसकी वृत्ति देह संघात से ऊपर उठ जाती है और ब्रह्म-रूप होकर कालादि के भय से मुक्त हो जाता हैं। इसके विपरीत अपनी सीमा का अतिक्रमण देखकर स्वय काल को ही भय होने लगता है, क्योकि जीवन्मुक्त का सारा-कार्य स्वेच्छया होता है, किसी संस्कार अथवा वन्धन के कारण नही। सुन्दरदास जी कहते है कि इसप्रकार के उलटवाँसी-पद अथवा उलटे ख्याल का ज्ञान उसी को हो सकता है, जो विचारपूर्वक अनुभव करता है। अर्थात् अविचार मे इस प्रकार की विपर्ययोक्तियो का अर्थ असम्वद्ध अथवा विपरीत लगेगा, परन्तु अनुभवी विचारक को इसमें किसी प्रकार का विरोध अथवा असम्भवता नहीं प्रतीत होगी।

अन्य सन्तों की समानार्थी पंक्तियाँ :

गोरखनाथ— 'पंगला तरवर चढ़िया।'

कवीर— 'चींटी के पग हस्ती बांधे'; 'चींटी के मुख हस्ति समाना।'
'उलट स्यार सिंह को खाइ।'

दादूदयाल— 'कीड़ीये हस्तीये विडार्‌यो तेन्हें वैठी पाये।'

हरिदास निरंजनी— 'मृतक जम कूं दई सांसना।'

उदाहरण-२— 'कपरा धोबी कौं गहि धोवै माटी बपुरी घरै कुम्हार।
सुई बिचारी दरजिहि सीवै सोना तावै पकरि सुनार॥
लकरी बढ़ई कौं गहि छीलै, षाल सु बैठी धवै लुहार।
सुन्दरदास कहै सो ज्ञानी जो कोउ याकौ करै विचार।।'[1]

संकेतार्थ— कपरा=वस्त्र, (साधक की काया)। धोवी=रजक, (राजोगुण प्रधान मन)। माटी=मृत्तिका, (वृत्ति)। बपुरी=वेचारी। घरै=गढती है। कुम्हार=कुम्भकार, (नानात्मक रूप देने वाला मन)। सुई=सूचिका, (सुरति)। दरजी=दर्जी (फारसी), (विश्लेषण-सश्लेषण करने वाली मन की वृत्ति। सीवै=सीदेती है (नानात्व मे एकत्व करती है, जीव-ब्रह्म की एकता का ज्ञान कराती है।)' सोना=स्वर्ण (स्मरण, जप, तत्त्व ज्ञान)। सुनार=स्वर्णकार ('मोहक रूप बनाने वाला मन)'। लकरी=लकडी, (लय, निष्काम वृत्ति)। बढई=वर्धक या वर्धकि (सस्कृत), खाती या कठ छोला (बढ़ाने घटाने वाला मन अथवा निरन्तर बाह्य कर्मों मे निरत मन)। षाल=चर्म, (श्वोसोच्छ्वास)। लुहार=लोहकार. (तामस प्रधान मन अथवा जीव)। धवै=धौकता है। ज्ञानी=तत्त्वज्ञाता। याकौ=इसका।

सांकेतिक व्याख्या—विचार-काल से पूर्व, अज्ञान अवस्था मे, रजोगुण प्रधान धोबी रूप मन कपडा रूप काया को बाहर से स्वच्छ रखकर मोहक बनाए रहता था, पर विचार की सूक्ष्मता के कारण सयत शरीर मन को शुद्ध बनाने मे सहायक होता है। अथवा श्वेतवस्त्र रूप सात्त्विक गुण धोबी रूप रजोगुण को प्रच्छालित करता है, शुद्ध बनाता है, क्योकि सात्विक अवस्था मे मन कर्त्तव्य तथा संगत्व दोष से मुक्त हो जाता है। अन्तर्मुखी वृत्ति, बुद्धि अथवा मनसा रूप माटी, आत्म साक्षात्कार के समय, नानात्व का विधान करने वाले मनरूप कुम्भकार को गढने लग जाती है। अर्थात् उलटवास के समय मन अन्तर्मुखी वृत्ति से ही प्रेरणा लेता है। सूचिका रूप सुरति अथवा सूक्ष्म वृत्ति अविचार-काल मे अहकार से दबी पडी रहती है और विश्लेषण करने वाले बहिर्मुखी मन से प्रेरित रहती है, परन्तु ज्ञानवस्था में स्वरूपाकार होने के कारण वही वृत्ति अन्तर्मुखी होकर, जीव को ब्रह्म से मिला देने अथवा नानात्व को एकत्व के रूप मे परिवर्तित करने का कार्य करती है। यही सुई के द्वारा दर्जी का सिआ जाना है। साधक स्मरण अथवा नाम-जप के द्वारा अथवा वृत्ति की सात्त्विकता से मोहक रूप प्रदान करने वाले मन रूप सुनार को परिष्कृत करता है। अमावस्था मे जीव की सुरति-शक्ति उपहित बनी होने के कारण लकड़ी के समान, निरन्तर क्रियाशील मनरूप बढ़ई के द्वारा छीली जाती थी। अर्थात् लकड़ी रूप वृत्ति अथवा बुद्धि, माया से उपहित जीवत्मा द्वारा इच्छानुकूल उपयोग मे लाई जाती थी। पर, स्वरूपाकारिता को प्राप्त होकर वही अन्तर्मुखी वृत्ति, उपहित मन अथवा जीवात्मा को, छील-छील कर माया की मिथ्या उपाधि से रहित करती है। साधना-काल मे साधक, प्राणायाम आदि के द्वारा प्राण-वायु का आयाम करके, लुहार रूप तामसी मन को शुद्ध करता है। यही खाल (धौकनी) का लुहार को धोकना है। सुन्दरदास जी कहते है कि जो कोई इस विपर्यय के अर्थ को विचार पूर्वक कहता है, वही ज्ञानी है।

१.—सुन्दर ग्रथावली (द्वितीय खण्ड, अग २२), सवैया ९

उपदेश की ध्वनि में उक्त सवैया का अर्थ इस प्रकार होगा—'विचारक को चाहिए कि वह कपड़ा रूप काया से, शुभ कर्म करके, धोबी रूप मन को परिष्कृत करे। उसे माटी रूप मनन अथवा अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा, कुम्भकार रूप मन को अपने अनुकूल गढ़ना चाहिए। विचारक को सुई रूप सुरति से विकल्प-संकल्पात्मक मन को एकाकार बनाना चाहिए, जिससे जीवात्मा परमात्मा का एकत्व स्थापित हो सके। साधक को चाहिए कि वह स्वर्ण रूप शुद्ध-सात्विक-स्मरण से, मोहक रूप प्रदान करने वाले मन को परिष्कृत करे तथा साधनाभ्यास द्वारा बढ़ई रूप मन के कर्मों को लकड़ी रूप लय या सुरति की शक्ति से सूक्ष्म करते हुए क्षीण कर दे। साधक को प्राणायाम द्वारा, प्राण-वायु को ऊर्ध्वमुखी बना कर लुहार रूप मन के तामसिक रूप को परिष्कार देना चाहिए, जिससे उसका चांचल्य समाप्त हो जाए। सुन्दरदास जी कहते हैं कि जो इस स्थिति को अनुभव पूर्वक कहता है, वही यथार्थ ज्ञानी है।

समानार्थी पंक्ति :

गोरखनाथ— 'काया गढ़ भीतरि धोवणि रांणी।
कपड़ा धोवै अवधू विन सिल पांणीं॥'

उदाहरण–३— 'बढ़ई चरषा भलो संवार्‌यौ फिरनैं लाग्यौ नीकी भांति।
बहू सास कौं कहि समुझावै तू मेरे ढिग बैठी काति॥
नैन्हों तार न टूटै कबहूँ पूनी घटै दिवस नहिं राति।
सुन्दर विधि सौं बुनैं जुलाहा पासा निपजै ऊँची जाति॥'[1]

संकेतार्थ—बढ़ई=लकडी छीलने वाला, (उपहित माया तत्त्व को ज्ञान रूप बसूले से छील देने वाला तत्त्वज्ञानी गुरु अथवा चर्खा रूप शरीर का निर्माता परमात्मा) चरषा∠ चर्खा=रेंहटा, सूत कातने का चक्र, (साधक का चित्त अथवा शरीर) सवार्‌यौ=सभाला, बनाया, (सयमित किया, सुचारू से संचालित किया)। फिरनैं लाग्यौं=घूमने लगा, (कार्य शील होने लगा)। नीकी भांति=भली प्रकार से। बहू=वधू, (विद्या जन्य विवेक रूप पुत्र की पत्नी बुद्धि अर्थात् विवेक जन्य बुद्धि) सास=सुरति, (विद्या जन्य विवेक की पत्नी बुद्धि, क्योंकि बुद्धि विवेक के आश्रित रहती है, अत. वह उसकी वधू है। बुद्धि, विवेक जन्या होने से, पश्चात् वर्तिनी है, और सुरति पूर्ववर्तिनी होने से, क्योंकि सुरति-योग होने से साधक का जन्म होता है, सुरति को सास कहा है।) काति=सूत कातने का कार्य कर अर्थात् सुरति द्वारा परमात्मा से लय अथवा डोरि लगा। नैन्हो तार=महीन धागा. (सूक्ष्म स्मरण, सूक्ष्म सुरति) पूनी=पौनी, (प्रीति, भावना)। राति दिवस घटै नहिं=कभी क्षीणता को प्राप्त न हो। विधि सौं=युक्ति पूर्वक। जुलाहा=वयनजीवी, (जीवात्मा)। पासा श्रेष्ठ वस्त्र (सद्‌गुण, श्रेष्ठभक्ति)। ऊँची जाति=उच्च स्तर का, श्रेष्ठ।

१.—सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड, अंग २२), सवैया १९

सांकेतिक व्याख्या—वैचारिक सूक्ष्मता की दशा में साधक गुरु के अनुग्रह के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हुआ कहता है कि बढ़ई रूप सत्गुरु ने (गुरु अनेक प्रकार के दोषों को, साधक के चित्त से, अपने शब्द रूप बसूले से छीलकर दूर कर देता है) अनेक प्रकार के बाह्य कार्यों मे प्रवृत्त होने वाले चर्खा रूप चित्त को वाणी रूप बसूले से भली प्रकार गढ़-कर, छीलकर, सुरति रूप धागा निकालने के लिए, कार्यशील बनाया है। तात्पर्य है कि गुरु ने अपने उपदेशामृत से, संसारोन्मुख साधक के चित्त को सत्त्ववृत्ति प्रधान किया है। अथवा सम्पूर्ण जीवों के विधायक विधाता रूप बढ़ई ने मानव के चर्खे रूप शरीर को भली प्रकार सभाला है, (मानव का शरीर अन्य जीवों से कुछ विशिष्ट गुण सम्पन्न है, यही उसका भली प्रकार सभाला जाना है)। जो पूर्व जन्म के शुभ कर्मों के फल स्वरूप इस जन्म में भली प्रकार कार्यशील है। विचार काल में वधूरूप सात्विक बुद्धि अनुभवी सास रूप सुरति से कहती है कि तू मेरे निकट बैठकर, निश्चित होकर, कातने का कार्य सम्पन्न कर। अर्थात् साधक का, सात्विक बुद्धि के आश्रय में ही, लय-सुरति का कार्य सम्पन्न होता है। इस रूप मे जो सूत काता जायेगा अथवा सूक्ष्म ध्यान किया जायेगा, वही अखण्डित सिद्ध होगा। साधक विघ्न-बाधाओ से बाधित न होकर, सुरति रूप धागे को अखण्डित बनाये रखता है, यह सूत के तार का कभी न टूटना है। जिस प्रकार सूत के लिए कपास की पौनी उसका उपादान कारण है, उसी प्रकार सुरति लय की अखण्डता, सूत्र बद्धता, सूक्ष्मता के लिए भावना अथवा प्रीतिरूप पौनी का होना आवश्यक है। अतः सुरति योगी को चाहिए कि वह प्रीति रूप पौनी को किसी भी काल में क्षय को प्राप्त न होने दे। इस प्रकार जुलाहा रूप प्रबुद्ध जीवात्मा के द्वारा, सूक्ष्म धागारूप सात्विक स्मरण से सुरति का श्रेष्ठ-वस्त्र तैयार होता है जो अत्यन्त शोभा धायक एवं उत्तम प्रकार का होता है। तात्पर्य यह है कि चिन्तन, मनन आदि के निरन्तर अभ्यास के द्वारा जो आत्म साक्षात्कार होता है, वही मानव-जीवन का परमलक्ष्य है। सुन्दरदास जी कहते हैं कि जो जुलाहा (प्रबुद्ध जीवात्मा) इस विधि से श्रेष्ठ प्रकार का सात्विकता रूप वस्त्र बुन लेता है, वह प्रशंस-नीय है।

समानार्थी पंक्तियाँ :

गोरखनाथ—'बहू ब्याई नै सासू जाई।'

कबीर— 'चरषा जिनि जरै।
कातौंगी हजरी का सूत, नणद के भइया की सौं ॥'

उदाहरण-४— 'विप्र रसोई करने लागो, चौका भीतरि बैठो आइ।
लकरी माँहे चूल्हा दीयो रोटी ऊपर तवा चढाइ ॥
खिचरी माँहें हँडिया राँधी सालन आक धतूरा पाइ।
सुंदर जीमत अति सुखपायो अबकैं भोजन कियो अघाइ ॥'[1]

संकेतार्थ—विप्र=विप्र, ब्राह्मण, (शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक)। रसोई कर

---

१. —सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड अंग २२), सवैया २१

लागो=भोजन पकाने की क्रिया करने लगा, (भाव-भक्ति में निरत होकर अथवा विचारावस्था में तल्लीन रहकर मोक्ष-सम्पादन रूप रसोई केलिए तत्पर हुआ)। चौका भीतर=रसोई घरमे, (शुद्ध अन्तःकरण चतुष्टय, अर्थात् निवृत्तिमुखी मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की सीमा में)। लकरी∠लकड़ी=काष्ठ (लय, सुरति, शुष्क-वृत्ति)। मांहि=मे। चूल्हा दीयौ=चूल्हे को आरोपित किया (चित्त को तल्लीन किया)। रोटी=चपाती, (रटणि, स्मरण अथवा प्रारब्ध कर्म की योग्यता रूप रोटी। तवा=लोहे की मोटी गोल वाली पर्त, जिस पर रोटी सेकी जाती है (तत्त्व ज्ञान)। पिचरी=खिचडी, (भक्ति-ज्ञान और वैराग्य का मिश्रित रूप)। हँडिया=हाँडी, पतीली, (काया)। राँधी=पकाई, (सात्विक रूप प्रदान किया)। सालन=शाक, (आक-धतूरे का सालन खाना अर्थात् काम-क्रोधादि अनेक दुर्वासनाओ को पचा जाना)। जीमत=भोग लगाते हुए (स्वरूपानन्द का अनुभव करते हुए)। अतिसुख पायौ=अत्यन्त तृप्ति का अनुभव हुआ। अबकै=इस मनुष्य-जीवन में ही। अघाइ=पूर्ण तृप्ति के साथ।

सांकेतिक व्याख्या—साधना के विकास-काल मे विप्ररूप शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक, मन, बुद्धि,चित्त और अहकार की सात्विकता को लेकर, भाव-भक्ति से, विचारपूर्वक मोक्ष सम्पादन रूप रसोई तैयार करने मे तत्पर हो जाता है। वह अपने अन्तर्मुखी चूल्हा रूप सात्विक चित्त को लकड़ी रूप सुरति या लय मे लगा देता है और रोटी रूप नाम-स्मरण (रटणि) अथवा प्रारब्ध कर्म की भोग्यता रूप रोटी के ऊपर तत्त्वज्ञान रूप तवा को चढ़ाकर, खिचड़ी रूप भक्ति-ज्ञान और वैराग्य भावना के मिश्रित रूप मे, इन भावो के आश्रय-स्थान हाँडी रूप काया को परिष्कृत करके शुद्ध बना देता है। ऐसा अभ्यास करते हुए साधक आक-धतूरे के सालन रूप (परिणाम मे तिक्त) काम क्रोधादि अनेक दुर्वासनाओं का भोग लगाकर दुर्वासनाओ को समाप्त कर देता है। सुन्दरदास जी कहते है कि इस प्रकार से भोग लगाते हुए, स्वरूपानन्द का अनुभव करते हुए अत्यन्त तृप्ति का अनुभव होता है और इसी जीवन मे परम सुख रूप भोजन का तृप्तिदायक स्वाद मिल जाता है।

उदाहरण-५—'षसम परयौ जोरू के पीछे कह्यौ न मानें भौंडी राँड।
जित तित फिरै भटकती यौं ही तें तौ किये जगत में भांड॥
तौ हू भूख न भागी तेरी तूं गिलि बैठी सारी मांड।
सुन्दर कहै सीष सुनि मेरी अब तूं घर घर फिरवौ छांड॥'[1]

सकेतार्थ - षसम=पति, (शून्य स्वभाव का मन, परमात्मा)। जोरू=पत्नी, (मनसा, कामना, वासना अथवा माया) भौडी=भद्दी। राँड=विधवा (वास्तविक पति को भूल जाने वाली मनसा या जीवात्मा)। जित तित=इधर-उधर, (अन्यान्य आकर्षणो के पीछे)। जगत मे भाँड=जगत् मे भडाफोड (सम्पूर्ण जगत् को नष्ट करना, वासना का प्रवल रूप)। भूप=भूख, (कामना, आंकाक्षा, भोग-वृत्ति);। गिलि बैठी=निगल गई, भोग

1. —सुन्दर ग्रथावली, (द्वितीय खण्ड, अग २३)

लगा लिया। मांड=ओदन (चावल) का निकला हुआ तरल पदार्थ (विषय--भोग)। सीष=शिक्षा। घर घर फिरवो छांड=घर-घर जाना छोड़ दे (ससार के आकर्षण के प्रति आकृष्ट होना छोड दे)।

यारी साहब . (वि० स० १७२५-१७८०) आपकी वानियो का एक सग्रह 'यारी साहब की रत्नावली' नाम से 'वेलविडियर प्रेस' प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। इसमे सग्रहीत वानियो के आधार पर कहा जा सकता है कि आपकी प्रवृत्ति साधनात्मक रहस्यो को उलटवाँसी शैली मे कथन करने की थी। 'विरहिनी मदिर दियना वार', 'चद तिलक दिये सुन्दरि नारी', 'हरिजन जीवता नहि मूआ' आदि कई पद अपनी प्रेषणीयता मे मार्मिक बन पड़े है। छद की दृष्टि से आपके उलटवाँसी-पद परिष्कृत हैं, परन्तु सख्या मे अधिक नहीं है। आपके उलटवाँसी-पदो मे साकेतिक और पारिभाषिक दोनो ही प्रकार के प्रतीको की योजना है। फारसी उर्दू के शब्दो का प्रयोग अधिक है। प्रकृति और प्रयोग केलिए दो पद यहाँ द्रष्टव्य हैं—

उदाहरण-१— 'मन मेरा सदा खेलै नटबाजी, चरन कमल चित राजी ॥ टेक ॥
बिनु करताल पखावज बाजै, अगम पंथ चढि गाजी।
रूप बिहीन सीस बिनु गावै, बिनु चरनन गति साजी।
बाँस सुमेरू सुरति कै डोरी, चित चेतन संग चेला।
पाँच पचीस तमासा देखहि, उलटि गगन चढ़ि खेला ॥
यारी नट ऐसी विधि खेलै, अनहद ढोल बजावै।
अनंत कला अवगति अनमूरति, बानक बनि बनि आवै ॥'[1]

संकेतार्थ – (यहाँ अन्तर्मुखी सूक्ष्म मन की ऊर्ध्वमुखी साधना को, नट-विद्या के रूपक के रूप मे, उलटवाँसी-शैली के माध्यम से व्यजित किया है।) अगम पथ=कठिन-मार्ग (दुष्कर ऊर्ध्वमुखी -साधना)। बाँस सुमेरू=सुमेरू पर्वत रूप बाँस, (मेरूदड)। सुरति=लय। डोरी=सूत्र (ध्यान की सूक्ष्मता, सूत्र बद्धता)। चेला=शिष्य, साधक, (सात्विक वृत्तिवाला साधक)। पाँच=पचेन्द्रियाँ अथवा पचविकार। पचीस=पचेन्द्रियो की पच्चीस वृत्तियाँ। गगन=आकाश (गगन-शिखर, ब्रह्माण्ड, शून्य)। अनहद ढोल= अनहद नाद। बानक=सयोग, अद्भुत दृश्य। (उक्त पद मे प्रथम पक्ति कुछ अधिक अभिधात्मक हो गई है। इससे उलटवाँसी-पद की गरिमा शिथिल दिखाई देती है। फिर भी पाँच-पचीस आदि साकेतिक प्रयोगो, प्रतीक, साधना को लेकर असम्बद्धता' उलटवाँसी शैली मे मुखर है।)

उदाहरण-२— 'जमी बरखै असमान भींजै, बिन बातिहि तेल जलाइये जी।
उहाँ नूर तजल्ली बीच है रे, बेरंगी रंग दिखाइये जी ॥

१ —यारी साहब की रत्नावली (शब्द १२), पृ० ४

फूल बिना जदि फल होवै, तदि हीर की लज्जत पाइये जी।
यारी कहै यहि कौन बूझै, यह का सों बात जनाइये जी ॥'[1]

संकेतार्थ—(सिद्धि अवस्था का वर्णन है।) जमी=पृथ्वी (जड़ बनी हुई काया, चेतनानुभूति के सकाश से, अथवा जड़ बनी हुई सुपुप्त कुंडलिनी ऊर्ध्वस्थ होकर, आनन्द-रस को वरसाने लगती है)। आसमान=आकाश (सहस्रार चक्र, गगन-शिखर) बाती=वर्त्तिका (वृत्ति)। तेल=तेल (स्नेह, भाव)। नूर तजल्ली=आध्यात्मिक प्रकाश (ब्रह्म-ज्योति)। वेरंगी=रंगहीन (वर्णहीन)। साधक समाधि-काल में, चित्तवृत्ति को त्रिकुटी के मध्य मे स्थिर करके, आनन्द की अनुभूति करने लगता है। उस समय वर्त्तिका, तेल आदि प्रकाश के उपादान कारण के न होने पर भी, ब्रह्म-ज्योति रूप प्रकाश विद्यमान रहता है। उस निरावरण और निराकार अवस्था मे भी दिव्य अनुभूतियो के रंग देखे जाते हैं। यद्यपि उस अवस्था में किसी प्रकार का पार्थिव पुष्प नही होता, फिर भी मुक्ति अथवा बन्धन-हीनता रूप जो फल होता है, उसकी आभा हीरे की शोभा को भी क्षीण कर देती है। अर्थात् आत्मा का प्रकाश हीरे के प्रकाश से श्रेष्ठ है।

जगजीवन साहव : (सं० १७२७-१८१७) आपकी बानियो के सग्रह 'जग जीवन-साहव की शब्दावली, नाम से दो भागो में, 'वेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुए है। प्रथम भाग में 'विनय', 'गुरु-महिमा' आदि के सम्वन्ध में उपदेशात्मक कथन ही अधिक हैं। दूसरे भाग में विरह, प्रेम, हिंडोला, होली आदि शीर्षकों में दिव्य-जीवन की अनुभूति को अभिव्यक्त किया है। इन्ही प्रसंगों में भावनातिशयता के क्षणो मे, उलटवाँसी मूलक कथन मार्मिक वन पड़े हैं। पदों में पारिभाषिक रूढ़ शब्दों का ही अधिक प्रयोग है, सांकेतिक नये प्रतीकों की योजना कम दिखाई देती है। पारिवारिक सम्वन्धों के आधार पर जीवात्मा-परमात्मा के नैकट्य की अनुभूति के कथन, साधक की सिद्धि अवस्था को द्योतित करते हैं। एक अग 'भेद बानी' नाम से है, जिसके अधिकाश 'शब्द' उलटवाँसी मूलक हैं। आपके सांकेतिक कथन भाव-विरह की अवस्था को व्यंजित करते हैं, ज्ञान-विरह की अवस्था को नही। इसलिए विधि-विरोध अथवा धर्म-विरोध प्रधान उलटवाँसी-पद आपकी बानियो मे नही मिलते। आपके उलटवाँसी मूलक कथनो की प्रवृत्ति देखने के लिए दो उदाहरण द्रष्टव्य है—

उदाहरण-१— 'साधो इक बासन गढ़ै कुम्हार।
तेहि कुम्हार का अंत न पावो, कैसे सिरजन हार ॥
अग्नि उठाय निकासत पानी, रचि रँगि रूप सँवार।
तीन चौथ दरवाज बनायो, नौ महँ नाँहि किवार ॥
भीतर रंग विरंग तिरंगे, उठत अहींह धुधकार।
पवन ब्रह्म तहँ बाजहि आपुहि, आप बजावनहार ॥

१. —यारी साहव की रत्नावली (झूलना ११), पृ० १५

आपु जनावत आपुहिं जानत, आपुहिं करत बिचार।
आपुहिं ज्ञान ध्यान तें लाग्यो, आप बिबेक विस्तार॥
छिनछिन गावत छिन छिन रोवत, छिन छिन सुरति सुधार।
जगजीवन आपुहिं सब खेलत, आपुहिं सब तें न्यार॥"[1]

संकेतार्थ—(इस पद मे विधाता परमात्मा के द्वारा मानव-शरीर की सृष्टि के सम्बन्ध में प्रतीकात्मक भाषा में कथन है और सांकेतिक शब्दावली एवं असम्बद्धता को प्रश्रय मिला है।) वासन=बर्तन (शरीर)। गढ़ै=निर्माण करता है। कुम्हार=कुम्भकार, (मानव-शरीर रूप घट का निर्माता प्रजापति)। अग्नि=ऊष्मा (उत्तेजन)। पानी=जल, विन्दु (वीर्य्य)। रूप=वर्ण। तीन-चौथ=तीन चौथाई। दरवाज=द्वार, आवागमन के मार्ग (आँख, कान, नाक, मुखादि शरीर-छिद्र।) नौ=(दो आँखे, दो श्रवण, दो नासिका छिद्र, एक मुख तथा गुदा और शिश्न ये नौ इन्द्रियो के छिद्र। किवार=किवाड़ (अवरोधक पट)। भीतर=हृदय मे। रग विरग तिरगें=नाना प्रकार की भावनाएँ। पवन ब्रह्म =प्राणवायु। सब खेलत=सब प्रकार का खेल खेलता है। न्यार=निराला।

उदाहरण-२— 'साधो भले अहैं मतवारे।
कुत्ते पाँच किये बसि डोरी, ऐको रहत न न्यारे॥
कुत्ती पचीस ताहिं सँग लागीं, ताहि संग अधिकारे।
सबै बटोरि एक माँ बांध्यो, साधे रहहिं सँभारे॥
सो लै जाय गये मँडफ कहँ, जोगी आसन मारे।
भे गुरुमुखी ताहि ढिग बैठे, महा दिप्त उँजियारे॥
पावत अमी अमर ते जुग जुग, रहत हैं जुगुत विचारे।
जगजीवन दास अचल ते साधू, नाहिं टरत हैं टारे॥"[2]

सांकेतिक व्याख्या—प्रस्तुत पद मे जगजीवन साहब अन्तर्मुखी, साधनाभ्यासी सन्तो के सम्बध मे कहते हैं। ऐसे साधक सन्त श्वान रूप पच विकारो को, डोर रूप सुरति, ध्यान अथवा लय से वशवर्ती किये रहते हैं। उनमे से कोई भी अपने विषय की ओर आकृष्ट होकर साधक की सुरति मे विघ्न उत्पन्न नही कर पाता। अर्थात् पंचेन्द्रियो की पाँच विषयोकी ओर बाह्य-प्रवृत्ति एक होकर, अन्तर्मुखी सूक्ष्मता मे एकरूपता प्राप्त हो जाती है। उस अन्तर्मुखी अवस्था मे पाँच विषयो की, श्वान-स्वभाव वाली पच्चीस प्रकृतियाँ अनुकूल होकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं। उस अवस्था मे वे बाह्य विषयो की ओर दौड नही लगाती। सासारिक प्रवाह-काल मे काया को बाह्य विषयो मे प्रवृत्त करने वाले जो मन आदि अधिकारी बने रहते है, वे भी साधनाभ्यास के फलस्वरूप, अन्तर्मुखी सूक्ष्म वृत्ति के वशवर्ती हो जाते है। और साधक प्रयत्न पूर्वक उन सबको एक ही सूक्ष्म-वृत्ति मे बाँधे रहता है। वह

१—जगजीवन साहेब की शब्दावली (दूसरा भाग), भेद-बानी, पृ० ४३
२.—जगजीवन साहेब की शब्दावली (दूसरा भाग), पृ० ९४

वैराग्य और अभ्यास के बल पर धीरे-धीरे चित्तवृत्ति को उर्ध्वमुखी बनाता है। अथवा आसनादि के अभ्यास से, प्राणायाम तथा गुरु कीकृपा के माध्यम से कुंडलिनी-शक्ति को त्रिकुटी स्थान, मेरू शिखर अथवा सहस्रार चक्र मे प्रवेश कराता है। सिद्धि की उस अवस्था मे सर्वत्र ज्ञान-ज्योति का प्रकाश छिटकने लगता है। और स्वरुपानन्द का अमृतपान करते हुए साधक काल की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। विचारपूर्वक युक्ति ही उनके जीवन-निर्वाह का माध्यम होती है।

दरिया साहब (बिहार वाले) : (स० १७३१-१८३७) आपके द्वारा रचित ग्रंथो में 'दरियासागर', 'ज्ञान दीपक', 'ज्ञानरत्न', 'ज्ञानमूल', 'निर्भय ज्ञान', 'बीजक', 'सतसइया' आदि बताए जाते हैं, परन्तु प्रकाशित ग्रथो में 'दरियाग्रन्थावली' ही उपलब्ध हो सकी है।

'दरियासागर' की रचना दोहे-चौपाइयो मे है। इसमे सांकेतिक भाषा के द्वारा छप-लोक की बात पर बल दिया है।[1] उनकी मान्यता है कि उस अगम पंथको कोई विरला पुरुष ही जान पाता है। जो उसे समझ लेता है, वही निर्मल ज्ञानी है और शीघ्र ही परमपद को पा लेता है ('जो बूझै सो पहुँच सवेरा', द० सा०, पृ० ७)। आपकी वाणी में वर्णनात्मकता अधिक है, जिसमें साधना के (विशेष रूप से हठयोगी-साधना) गुह्य सिद्धान्तों का कथन अधिक हुआ है। परन्तु इस प्रकार की वाणी के रहस्य को समझने केलिए भी 'पंडित' के प्रति चुनौती का स्वर सुरक्षित है।[2] आपकी वाणी में उलटवाँसी शैली का आग्रह तो देखने को मिलता है, पर, हठयोगी साधनाओं का हीं पारिभाषिक रूढ़ शब्दो के माध्यम से, अधिक कथन हुआ है, जिनमें उपदेश की प्रवृत्ति मुखर है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

'करम जोग जम जीतै चहई। चढ़ि पिपीलिका फिरि भव रहई॥
बीहंगम चढ़ि गयउ अकासा। बइठि गगन चढ़ि देखु तमासा॥
महा मुदरा उनमुनि पेखै। अनन्नि भाँति मोति तहँ देखै॥
छटा चमकि बरिसै घन आनी। परिमल अग्रबास रस सानी॥
इँगला पिंगला सुखमनि घाटा। बंकनाल रस पीवै बाटा॥
खोड़स दल कँवल बिगसाना। लपटि लगै मधुकर ललचाना॥
सलिता तीनि संगम तहँ मयऊ। बारि बयारि अमृतरस पयऊ॥
चंद सूर दुइ करहिं बिलासा। उदय अस्त फिरि होय प्रगासा॥'[3]

(उक्त पंक्तियों में पिपीलिका और विहगम-मार्ग से वृत्ति को ऊर्ध्वस्थ करने की ओर सकेत हैं। रूढ़ शब्दावली में हठयोग की साधना का उपदेश है।)

---

१. 'वेद विधि नहिं, करेउ बखाना, छप लोक साहब असथाना॥'—दरियासागर, पृ० १
'छपलोक की अकथ कहानी'—दरियासागर, पृ० ३८
२. 'बूझहु पडित सत कै बानी।'—दरियासागर, पृ० ४८
'जो तुम पडित बूझहु आई।'—दरियासागर, पृ० ३७
३.—दरिया सागर, पृ० ५५-५६

दरियासाहब (मारवाड़ वाले)—(सं० १७३३-१८१५) आपकी बानियो का संग्रह 'दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी' नाम से 'वेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। आपकी बानियो मे उलटवाँसी शैली का सम्यक् प्रयोग देखने को मिलता है। आपकी साखियों मे पारिभाषिक रूढ़ शब्दावली मे अनेक उलटवाँसी मूलक कथन मिलते है। मुस्लिम परिवार में जन्म होने पर भी आपकी साखियों मे हठयोगिक साधना का वर्णन सफलता के साथ हुआ है, जिसमे फारसी-उर्दू के शब्दों का बहुत कम प्रयोग है। साधक के लिए आपने मौन-मार्ग को श्रेष्ठ बताया है।[1] आपके प्रयुक्त प्रतीको मे चयन सम्बन्धी नवीनता न होते हुए भी, प्रयोग सम्बन्धी कुशलता देखी जाती है। आपने विधि-विरोध और धर्म-विरोध के रूप में कई उलटवाँसी-पदो मे वैचारिक अवस्था की अभिव्यक्ति सफलता से की है। शैली सम्बन्धी प्रवृत्ति की सूचना देने वाला एक पद उदाहरणीय है—

उदाहरण-२— 'अब मेरे सतगुर करी सहाई।
भरम भरम बहु अवधि गवाई, में अपहि में थित पाई।। टेक।।
हिरनी जाय सिंघ घर रोका, डरप सिंहनी हारी।
सोता साह होय कर निर्भय, बस्तु करै रखवारी।।
अजगर उड़ा सिखर को डांका, गरूड़ थकित होय बैठा।
भौम उलट कर चढ़ी अकासा, गगन भौम में पैठा।।
सिंघ भया जाय स्याल अधीना, मच्छा चढ़ै अकासा।
कुरम जाय अगना में सोता, देखै खलक तमासा।।
राजा रंक महल में पोढ़ा, रानी तहाँ सिधारी।
जन दरिया वा पद को परसै, ता जन की बलिहारी।।'[2]

सांकेतिक व्याख्या—ज्ञान-विरह की अवस्था मे साधक की वैचारिक वृत्ति परिवर्तित हो जाती है। वह सत्गुरू की कृपा तथा वैराग्य और अभ्यास के नैरन्तर्य से आत्म साक्षात्कार की दशा को प्राप्त हो जाता है, परन्तु उससे पूर्व बहिर्मुखी वृत्तियाँ, अन्तर्मुखी होकर अपना विषयोन्मुख स्वभाव धारण किये रहती है। इसी अवस्था का संकेत प्रस्तुत उलटवाँसी-पद मे है। विचार-काल मे साधक इन्द्रियो की बाह्य प्रवृत्तियों को बदल कर अन्तर्मुखी कर लेता है और प्रबुद्ध सूक्ष्म वृत्तियो द्वारा बहिर्मुखी प्रबल इन्द्रियो के वेग को संयत बना लेता है। उस समय हिरणी रूप सात्विक बुद्धि (इन्द्रिय), सिंह रूप मन की प्रबलता या बहिर्मुखता को घट के भीतर ही अवरुद्ध कर लेती है, जिससे सिंहनी रूप मनसा या वासना भयभीत होकर चकित रह जाती है और अपनी विषय-प्रवृत्ति को त्याग देती है। उस समय अन्तर्मुखी सात्विक मन शाह रूप मे नि.शंक होकर (सात्विक-

---

१. 'जन दरिया यह अकथ कथा है, अकथ कहा क्या जाई।
पछी का खोज मीन का मारग, घट घट रहा समाई।।'
— दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी, पृ० ४१

२.—दरिया साहब (मारवाड वाले) की बानी, पृ० ४५

अवस्था मे) सोता है, क्योंकि उसे किसी प्रकार की शका या विकल्प आदि का भय नही रह जाता और वह अपनी इस संकल्पात्मक स्थिति मे वस्तु रूप आत्मा या आत्मरक्षा मे लगा रहता है। सोते हुए से, तात्पर्य अन्तर्मुखी होने से है। अजगर रूप जो अहकार है, (जो अपने गुरूत्व के लिए प्रसिद्ध है) वह बुद्धि की सूक्ष्मता से उड़ा दिया जाता है और विचार की अवस्था मे अहकार अपने सूक्ष्म रुप मे 'मेरुशिखर' पर आरूढ़ हो जाता है विचार की सूक्ष्मता से प्रभावित होकर गरुड़ रूप मन की शक्ति (वेग) अवरुद्ध हो जाती और अन्तर्मुखी होकर इधर उधर उड़ना छोड़ देती है। साधनाभ्यास से साधक मूलाधारस्थ भूमि अथवा जड़वत् बनी कुँडलिनी शक्ति को, सुषुम्ना-मार्ग से गगन मण्डल पर चढा लेजाता है। अथवा उस अवस्था मे अधोमुखी चित्तवृत्ति ऊर्ध्वमुखी होकर शून्य स्वभाव की हो जाती है। और गगन रूप शून्यत्व साधक की मृत्तिका रूप काया मे प्रवृष्ट हो जाता है। अर्थात् शून्य रूप ब्रह्म साधक के हृदय की सीमा मे समा जाता है।[1] अथवा हृदय की व्याप्ति ब्रह्ममय हो जाती है। मीन-मार्ग से, आकाश पर आरूढ़ होने से (कुडलिनी को मेरु-शिखर अथवा गगन-शिखर पर अधिष्ठित करने से) शृगाल रूप साधक का चतुर और कुशल जीव तत्त्व सिह रूप काल को अपने वश मे कर लेता है। अर्थात् सिद्धावस्था मे जीवन्मुक्त होकर काल की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। उस अवस्था मे कूर्मरूप ब्रह्माण्ड या सृष्टि, सूक्ष्म रूप मे, साधक के हृदय रूप आगन मे सुषुप्ति भाव से पड़ी रहती। साधक की इस अवस्था को देखकर सम्पूर्ण लोक आश्चर्य का अनुभव करता है। अथवा उस अवस्था मे सम्पूर्ण इन्द्रियाँ निवृत्त होकर तटस्थ हो जाती हैं। उस अवस्था मे रजोगुण प्रधान राजा रूप मन, सात्विक होकर, रक महल (रङ्कु=मृग) अर्थात् निष्क्रिय बनी हुई इन्द्रियों के समुदाय में सुखासीन हो जाता है और रानी रूप सात्विकी बुद्धि उसकी सेवा करती है। दरिया साहब का कहना है कि जो इस परपद का स्पर्श अथवा अनुभव कर लेता है, उसका सौभाग्य है। मैं ऐसे ज्ञानी की बलिहारी जाता हूँ।

विशेष—(१) पद में सिंघनी, अजगर, कुरम, अगना, रानी, रंक-महल आदि नए प्रतीको की योजना हुई है अथवा अपने विशेष प्रसग में इनको प्रयोग किया गया है।

(२) रूपकतत्त्व की अन्विति से पद में विस्मय तत्त्व की वृद्धि हुई है।

(३) प्रकृति-विरोध तथा धर्म-विरोध के माध्यम से उलटबाँसी-पद प्रभावपूर्ण बन पड़ा है।

दूलन दास जी : आप का कार्य-काल अठाहरवे शतक के मध्य मे माना जाता है। आपकी बानियो का सग्रह 'दूलनदास जी की बानी' नाम से बैलविडियर प्रेस से प्रकाशित हुआ है। आपकी बानियो मे उलटबाँसी शैली की प्रवृत्ति कम ही देखने को मिलती है। कुछ साखियो मे पारिभाषिक रुढ शब्दावली में उलटबाँसी मूलक कथन मिलते है और पदोमें भावात्मक दशा के वर्णन मे कहीं-कही उलटबाँसी-तत्त्वो का प्रभाव देखने को मिलता है। उदाहरण केलिए निम्नांकित पद मे विरहिणी जीवात्मा की साधनात्मक अवस्था की ऊर्ध्ववृत्ति तथा आत्मतत्त्व की व्यापकता का सकेत है।

---

१. 'जल में कुंभ कुंभ मे जल है, बाहरि भीतरि पानी।' —कबीर ग्रथावली,

'साहिब अपने पास हो, कोइ दरद सुनावै ।। टेक ।।
साहिब जल थल घट घट व्यापत, धरती पवन अकास हो।
नीची अटरिया की ऊँची दुवरिया, दियना बरत अकाश हो।
सखिया इक पैठी जल भीतर, रटत पियास पियास हो ।।
मुख नहिं पियै चिरूआ नहिं पीयै, नैनन पियत हुलास हो।
साई सरवर साई जगजीवन चरनन दूलनदास हो ।।'[1]

बुल्ला साहब : (स१७५०-१८२५), आपकी बानियो का एक सक्षिप्त संग्रह 'बुल्ला साहेब का शब्दसार' 'बेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। आपके उलटवाँसी शैली मे लिखित मार्मिक पद मिलते है। 'भेद' शीर्षक अग मे सांकेतिक और पारिभाषिक रूढ़ प्रतीक शब्दो की योजना वाले कई उलटवाँसी-पद हैं। छद-प्रयोग की दृष्टि से आपके उलटवाँसी-पद परिष्कृत है। आपकी साखियो मे उलटवाँसीशैली का उतना आग्रह नही है, जितना कि 'शब्दो', 'अरिल छदो' मे देखने को मिलता है। विषय की दृष्टि से आपके उलटवाँसी-पदो मे सिद्धि अवस्था, साधना-मार्ग पर अग्रसर होने के लिए उपदेश तथा साधक की साधना सम्बन्धी परीक्षा का कथन अधिक है। प्रथम उदाहरण मे रूढ़ पारिभाषिक शब्दावली और साकेतिक प्रतीको के प्रयोग से बहिर्मुखी जीवन को अन्तर्मुखी बनाने की ओर सकेत है। देखिए—

उदाहरण-१—'संतों जोग जानै तौन।
आपु आपु बिचारि लेवै, रहै घट में मौन ।।
चाँद सूर एकग्र करिकै, सुखमना धरि पौन।
तहँ होत है अनहद, मिटो मन को धौन ।।
लाल पहिरि सपेद पहिरै, जरद हरिया जौन।
स्याम पहिरि कै बनो दूलह, मिट्यो आवागौन ।।
पहिरि के जब उलटि चलि भा, भयो घर में चैन।
तब दास बुल्ला बानि बोलै, निर्त तायेइ बैन ।।'[2]

दूसरे पद मे मानव-शरीर के मूल्य, विषयाकर्षणो मे प्रवृत्त इन्द्रियो की खीचातानी के बीच प्रारम्भिक साधक की विषमता और विवशता का, उलटवाँसी शैली के माध्यम से अच्छा चित्रण मिलता है—

उदाहरण-२— 'मैं कस राखों पाँच नारि। बरज न मानै बड़ी खुवारि ।।
जिन आपन घर किया उजारि। कबहु न सुमिरहिं देव मुरारि ।।
अबकी उजरै छाइ न जाइ। कासें कहौं यह गति बनाइ ।।
मनुवां मकरी रहै समाइ। लै लै जात है संग लगाइ ।।
भला भयल मन चलल कोहांइ। बीचहिं में मिलिगे गुरु राय ।।
हमरे हो तुम सदा सहाय। जन बुल्ला तुम्हरि बलि जाय ।।'[3]

१. —दूलनदास जी की बानी, पृ० २५
२ —बुल्ला साहेब का शब्द सार, पृ० ८-९
३. —बुल्ला साहेब का शब्द सार, पृ० २६

(उक्त पद की प्रथम दो पंक्तियों में विषयासक्त इन्द्रियों की ओर 'नारि' के माध्यम से सकेत किया गया है। अपना घर अपने आप उजाड़ने वाले का कार्य असम्बद्ध अवश्य कहलाया जायेगा।)

चरनदास जी : (आविर्भाव काल सं० १७६०-१८३९), आपकी बानियो का सग्रह 'चरनदास जी की बानी' नाम से दो भागों मे 'वेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। पहले भाग में विनय, प्रेम आदि के उपदेश प्रधान वर्णनात्मक पद हैं, जिनमे उलटवाँसी मूलक कथन बहुत कम हैं। यत्र-तत्र पारिभाषिक (रुढ़) हठयौगिक शब्दावली की योजना से उलटवाँसी शैली की ध्वनि निकलती है। दूसरे भाग में 'भेद-बानी' नाम से पैंतीस पदो का संग्रह है, जिन मे अधिकांश पद उलटवाँसी मूलक है। कुछ पंक्तियाँ लोकोक्ति के रूप में बड़ी ही व्यंजनात्मक बन पड़ी हैं। देखिए—

'गुप्त मते की बात हेली जानै सोइ जानै।—च० बा० (भाग २), पृ० १८
'होनहार ने उलटी कीन्हीं जल में आग लगाइ।' —वही, पृ० ४०

निम्नलिखित 'पूर्ण पद उलटवाँसी' मे साकेतिक प्रतीकों की योजना से, विधि-विरोध और धर्म-विरोध के सकेतो से अन्तर्मुखी वैचारिक दशा का कथन है। देखिए—

उदाहरण-२— 'कोइ जानै संत सुजान उलटे भेद कूँ ।।टेक।।
वृच्छ चढ़ी माली के ऊपर धरती चढ़ी अकास।
नारि पुरुष बिपरीत भये हैं देखत आवै हाँस।।
बैल चढ़ी संकर के ऊपर हंस ब्रह्म के सीस।
सिंह चढ़ी देवी के ऊपर गुरुहीं की बकसीस।।
नाव चढ़ी केवट के ऊपर सुत की गोदी माय।
जो तू भेदी अमर नगर को तो तू अर्थ बताय।।
चरनदास सुकदेव सहाई अब का करिहै काल।
बाँबी उलटि सर्प में पैठी, जबसूँ भये निहाल।।"[1]

संकेतार्थ—उलटा भेद=उलटा रहस्य, (अन्तर्मुखी साधना की वाणी)। वृच्छ=वृक्ष (शरीर, जिसके ऊपर अब तक माली रूप मन का अधिकार था)। माली=पेड़-पौधों की काट-छाँट करने वाला (विश्लेषक संश्लेषक मन, अर्थात् साधना निरत शरीर मन की बहिर्मुखी वृत्तियो को दबाकर निश्चल हुआ)। धरती=पृथ्वी (मूलाधारस्थ कुडलिनी रूप धरती अथवा जड़ बनी हुई काया)। नारि-पुरुष=स्त्री-पुरुष (मनसा और मन)। विपरीत भये हैं=विपरीत स्वभाव वाले हो गये हैं (अन्तर्मुखी वृत्ति वाले हो गये हैं)। बैल=भार-वाहक वृषभ (अनेक संस्कारों के बोझ से लदा हुआ बैल रूप मन, सत्त्वस्थ होकर, अन्तर्मुखी होकर शिवत्व रूप शकर के ऊपर अधिष्ठित हुआ अर्थात् शिवत्व से प्रेरित है)। हंस=

१. —चरनदास जी की बानी (भाग २), पृ० १६-१७

निर्मल स्वभाव वाला पक्षी विशेष (ब्रह्म-ज्ञानी साधक)। ब्रह्म=ब्रह्मा (ब्रह्म-भावना के ऊपर अर्थात् ब्रह्म या शून्य स्वभाव का होना)। सिंह=(बहिर्मुखी प्रबल मन)। देवी=शक्ति, दुर्गा, (सूक्ष्म बुद्धि अथवा कुंडलिनी शक्ति)। नाव=नौका, (सुमति, सगठित वृत्ति)। केवट=नाविक, (नायक, संचालक मन)। सुत=बेटा (विवेक)। माय=माता (माया)। भेदी=रहस्योद्घाटक। काल=मृत्यु। बाँबी=साँप का बिल, बल्मीकि (शरीर)। सर्प=साँप, वक्रगति से चलने वाला (वक्रगति से चलने वाला श्वासोच्छ्वास, प्राण वायु)। निहाल=उद्धार।

विशेष—उक्त पद मे साकेतिक प्रतीकों की योजना नवीन प्रसगो मे हुई है। 'नारि पुरुष विपरीत भये हैं देखत आवै हास' कथन व्यंजनात्मक है।

गरीबदास जी : (आविर्भाव काल सं० १७७४-१८३५), आपकी बानियो का संग्रह 'गरीबदास जी की बानी' नाम से 'वेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। आपकी बानियो मे उलटबाँसी शैली में कथन करने की प्रवृत्ति कम दिखाई देती है। हा, हठयौगिक साधना को लेकर पारिभाषिक (रुढ) शब्दावली मे उलटबाँसी मूलक कथन सम्यक् रूप से मिलते हैं। पर, ऐसे कथनो मे उलटबाँसी शैली की प्रयोग विषयक नवीनता देखने को नहीं मिलती। पदो मे उपदेशात्मकता के रूप मे वर्णन की प्रवृत्ति ही अधिक है। प्रवृत्ति सूचक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

उदाहरण-१— 'इक पींजरे पास मंजार बैठा रहै, खोज कर खोज कर खोज खोजी।
कौन से भेद से अरस झूलत रहै, चुगैं मत चुगा यह ऋद्ध रोगी॥
सुन्न ताक में पाँच परपँच हैं, तीन के भवन पर नमन कीजै॥
खड़ा मंजार सिर पीट रोवै सदा, उड़ै आकास वृद्ध अछै लीजै॥
प्रेम बानी पढ़ै नाम नि.चै रटै, चंद चकोर ज्यूँ ध्यान ध्यानी।
दास गरीब यह खेल जो याद है, तो पींजरा छोड़ नहिं ब्रह्म ज्ञानी॥'[1]

(ऋद्ध रोगी=ऋद्धि अर्थात् विभूति रोग रूप है। मगर=बिलाउ रूप काल। पिंजरा=पिंजर रूप शरीर।)

इसी प्रकार ऊर्ध्वमुखी हठयोगी साधक की निम्न उक्ति उलटबाँसी मूलक है—

उदाहरण-२— 'धरती धूत अकार न पाऊँ, मेरूदंड पर मेला।
गगन मँडल में आसन करहूँ, तो सतगुरु का चेला॥
तिल परमान ब्रह्म दरबाजा, तिस घाटी ले जाऊँ।
चींटी के पथ हस्ती बाँधूं, अधर धार ठहराऊँ॥
दखिन देस में दीपक जोऊँ, उत्तर धरूँ धियाना।
पछिम देस में देवल हमारा, पूरब पंथ पयाना॥
पिंड ब्रह्मंड दोऊ से न्यारा, अगम ज्ञान गोहराऊँ।
दास गरीब अगम गत आपै, सिंधै सिंध मिलाऊँ॥'[2]

---

१. —गरीबदास जी की बानी (झूलना ४), पृ० १०८
२. —गरीबदास जी की बानी, पृ० १६१

गुलाल साहब : (सं० १७५०-१८००), 'गुलाल साहेब की बानी' नाम से आपकी वानियो का एक सग्रह 'वेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। आपकी वानियो में उलटवाँसी शैली में कथन करने की सहज प्रवृत्ति सम्यकरूपेण देखने को मिलती है। रूपकतत्त्व की योजना से विरहिणी जीवात्मा की दशा को उलटवाँसी शैली के माध्यम से मार्मिक बना दिया है। ऐसे उल्टवाँसी मूलक कथनो में अनुभूति की सच्चाई अभिव्यजित रहती है। भाषा मे पूर्वीपन की अमिट छाप है। निम्न 'शब्द' मे 'नैहर' रूप संसार में जीवात्मा की विपम परिस्थिति को, उलटवाँसी शैली में अभिव्यक्त किया गया है। देखिए—

उदाहरण-१— 'नैहर गरव गुमनिया हो, फरलि करम कै डार।
ससुरे संगति नहि जाइब, करबहु कौन विचार॥
सासु ननद कै झगरा हो, सवति जो हमरी अपारि।
सइयाँ हमरे कुबुजवा हो, हम धन अल्प कुमारि॥
गाँव के लोगवा निरवै हो, छिन छिन देह निहार।
पार परोसिन डाहै हो, निस दिन करत कुफार॥
घर कै मर्म नहि जान्यो हो, महा कठिन दुखभार।
अँचरा पसार धन विनवै हो, कब दहु मरै भरतार॥
भोर भइल मन मान्यो हो, छुटल सकल संसार।
जन गुलाल सत वोलहि हो मिललहि कंत हमार॥'[1]

(कुबुजवा=कुब्जा, बूढ़ा-टेढ़ा। निरवै=घूरते हैं, परेशान करते हैं। डाहै∠डाह। कुफार=झगड़ा-टटा। धन=धनि, स्त्री।)

इसी प्रकार निम्न अरिल्ल छन्दों में पारिभापिक (रूढ) शब्दावली मे उलटवाँसी मूलक कथन हैं—

उदाहरण-२— 'सुन्न सरोवर-घाट फूल इक पाइया।
बिनु डाँडी का फूल केतिक मन भाइया॥
अमी पियाला पिया, भँवर रस पाइया।
कहै गुलाल अतीथ राम गुन गाइया॥
निर्मल रूप अपार सों सुरति लगाइया।
बिनु पग चालो चाल अनँदपुर जाइया॥
देत दमामा ढोल सो जमहि नचाइया।
कहै गुलाल सोइ सूर सहज घर पाइया॥'[2]

बिनु डाँडी का फूल=सहस्रार-चक्र।

१.—गुलाल साहेब की वानी (शब्द १६), पृ० ५३-५४

२.—गुलाल साहेब की वानी, पृ० ६०, ६२

भीखा साहब : (उन्नीसवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध), आपका असली नाम भीखानन्द था। आपकी बानियो का एक सग्रह 'भीखा साहब की बानी' नाम से 'वेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। 'भेद बानी' शीर्षक मे उलटवाँसी मूलक कथनों की प्रवृत्ति अधिक है। शेष बानियो मे भी पारिभाषिक (रूढ) शब्दावली के प्रयोग से उलटवाँसी मूलक कथनो का प्रयोग मिलता है। विधि-विरोध और धर्म-विरोध की सूचना देने वाले साकेतिक प्रतीको की योजना नही के बराबर है। हठयौगिक साधना को विषय बनाकर आपने विवेच्य शैली को माध्यम बनाया है। रूपकतत्त्व से उदाहरणो मे मार्मिकता बढ़ गई है। अन्तर्मुखी साधक की सूक्ष्म वृत्ति का चित्रण निम्न रूपक प्रधान उलटवाँसी-पद मे देखिये—

उदाहरण-१—'जोग जुक्ति गुरु लगन लगाई। साजि बरात बियाहन जाई॥
उर्ध पवन मन धुजा बिराजै। सुतरी अस्पी अनहद बाजै॥
नरसिंघा तुरही सहनाई। घंटा धुनि अम्बर पर छाई॥
पालकी सुरति निरति लौ लीना। लगे पांच कहार प्रवीना॥
अठकट साज बरनि नहिं जाई। सँगी सो इक एक सोहाई॥
अचरज एक जु देखा भली। दुलहिन खोजन पिय को चली॥
सुन्न सिरबर पर माँडो छायो। इँगला पिंगला चौक पुरायो॥
प्रेम प्रीति कै साज सजाई। कुंभक पूरक कलस भराई॥
गावहिं पांच पचीसो गुनी। सुनत मगन ह्वै साधू मुनी॥
सेंदूर उदित जोति जग मगै। आपन नाह आपु से पगै॥
दुलहिन नाम सेव करि पाई। नाद बिंद बहुतै भौजाई॥
भीखा मगन रहै हर हाल। तजि परपंच जगत कौ ख्याल॥'[1]

सांकेतिक व्याख्या—'दुलहिन खोजन पिय को चली' यह पक्ति स्वयवर का चित्र साकार कर रही है। पर, यह स्वयवर है बहुत विचित्र। दुलहिनि ने निराकार प्रियतम के ग्रीवा मे जयमाल डालने की प्रेरणा सत्गुरु से ली है। गुरु ने योग-युक्ति बताकर इस दिव्य-विवाह का विधान कराया है। इस विवाह मे दुलहिन रूप जीमात्मा इन्द्रियो समेत मन, बुद्धि, चित्त अहकारादि को साथ लेकर स्वय-वरण के लिए ऊर्ध्वमुखी हो रही है। (बरात की विशेषता है कि स्वय वधू ही बरात सजाकर वर को खोजने जा रही है।) प्राणायाम के द्वारा ऊर्ध्व पवन ही शोभित होने वाली ध्वजा है। अनहदनाद ही सुतरी, अस्पी नामक घोड़ो पर बजने वाले बाजे हैं। नरसिंघा, तुरही, शहनाई, घटाध्वनि आदि अनेक प्रकार के अनहदनाद सूचक शब्द भी हो रहे है।[2] वधू ने निरतिशयता प्राप्त करने

१—भीखा साहब की बानी (शब्द १९), पृ० ६३-६४

२.—'आदौ जलधि जीमूत भेरी झर्झरसंभवाः।
मध्ये मर्दलशखोत्था घटाकाहलजास्तथा॥
अंते तु किंकिणी वशीवीणाभ्रमरनि:स्वना।
इति नानाविधा नादाः श्रूयते देहमध्यगाः॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४। ८५-८६

के लिए 'सुरति-निरति' रूप पालकी सजाई है, जिसमें निवृत्ति-मार्गी पंचेन्द्रियों रूप पाँच कहार सजे हैं (इन कहारों को कुशल इसलिए बताया है कि जब बहिर्मुखी वृत्ति वाले होते हैं, तो ये शरीर रूप पालकी को विषयों की ओर आकृष्ट कर ले जाते हैं।) इस प्रकार द्रष्टा रूप जीवात्मा परमात्मा के साक्षात्कार केलिए निकल पड़ी हैं अथवा साधना निरत हो गयी है। इस दृश्य को देखकर अन्य इन्द्रियाँ विस्मय विमुग्ध हो गई हैं। परिणय के लिए शून्य-शिखर पर मण्डप का आच्छादन हुआ है। इड़ा-पिंगला नामक योगनाड़ियों ने चौक पूरा है। इस चौक पर 'कुंभक और पूरक' दो कलश भरकर रखे हैं। अर्थात् प्राणायाम साधना मे साधक को कुंभक-पूरक नामक प्राणायाम की दोनों विधियों को सम्पन्न करना पड़ता है। सहस्रार चक्र पर शक्ति के पहुँचते ही पंचेन्द्रियाँ और उनकी पच्चीस प्रकृतियाँ स्वरूपाकार स्थिति में विलीन हो जाती हैं, यही उनका मंगल गान करना है। इस अवस्था को पहुँच कर संत-साधक आनन्द की दशा में डूब जाते हैं। और सुन्दरी रूप जीवात्मा के मस्तक पर सिंदूर की ज्योति स्वयं ही निखर उठती है। उसे अपना पति-परमेश्वर स्वयं मे ही तन्मय दिखाई देने लगती है। तत्पश्चात् दुलहिनि जीवात्मा 'अजपाजाप' के द्वारा प्रियतम का स्मरण करती रहती है। उस अवस्था में विन्दु 'नाद' मे तन्मय हो जाता है। अर्थात् ज्ञान के माध्यम से नाद-विन्दु का संयोग हुआ है और ज्ञान जीवात्मा का सहोदर है। अतः नाद-विन्दु का भौजाई रूप कल्पित किया है। क्योंकि नाद-विन्दु का भव-जन्म (भौजाई) जीवात्मा के साथ ही हुआ है। यद्यपि प्रतीक में लिंग दोष विद्यमान है। भीखा साहब कहते हैं कि जगत् के प्रपंचों को त्याग कर, साधना रूप इस विवाहोत्सव की तैयारी करके, आत्म-साक्षात्कार रूप परम सुख मे तन्मय हो जाना चाहिये।

पलटू साहब: आपका जन्म-समय और मृत्यु-समय के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। आप नवाब शुजाउद्दौला (सं० १८२७) के समकालीन थे, अतः विक्रम का १९वाँ शतक आपका कार्य-काल माना गया है।

आपकी बानियों का संग्रह तीन भागों में 'पलटू साहेब की बानी' शीर्षक से 'वेल-विडिर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। प्रथम भाग में कुंडलिया छन्द है, जिसके अनेक छन्द उलटवाँसी शैली में लिखे गये हैं। दूसरे भाग के अरिल्ल, सवैये, झूलने आदि छन्दों में उलटवाँसी-पद मिलते हैं। तीसरे भाग में शब्द और साखियाँ संग्रहीत हैं, जिनमें व्यवहारिक उपदेश प्रधान बातों का कथन अधिक है, उलटवाँसी शैली का आग्रह कम।

आपके संग्रहों में सर्व प्रथम उलटवाँसी शब्द के समक्ष 'उलटावती' शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] 'उलटावती अंग' में तीन उलटवाँसी-पदों का संग्रह है। इसके अतिरिक्त भेद की अंग, उपदेश की अंग, तथा सूरमा, ध्यान, प्रेम, नाम, गुरुदेव आदि अंगों में भी उलटवाँसी-पद मिलते हैं। दूसरे भाग में 'भेद' आदि अंगों में रेख्ता, झूलना, अरिल्ल आदि

1.—पलटू साहब की बानी (पहला भाग), पृ० ७४ (कुंडलिया १७९)

छन्दो मे उलटवाँसी शैली के माध्यम से, साधना विषयक अथवा साधक की वैचारिक अवस्था के कथन हैं।

पलटू साहब के उलटवाँसी-पदो की भाषा व्यवहारिक, सरल और प्रसाद-गुण सम्पन्न है। छन्द नियमों की कसौटी पर खरे उतरते हैं। शब्दावली संस्कृत, अरबी, फारसी, उर्दू आदि के शब्दो से समृद्ध है। प्रतीक-योजना ध्वन्यात्मक और मार्मिक है। व्यग्य की दृष्टि से आपके कथन बड़े ही सफल सिद्ध हुए है। कुडलिया छन्दो के उलटवाँसी-पदो की प्रथम पक्ति 'टेक' रूप मे सम्पूर्ण पद का केन्द्र कही जा सकती है। आपकी उलटवाँसियो मे अन्योक्ति स्वय व्यजित होती है। अनेक पक्तियाँ लोकोक्ति, कहावत आदि की कोटि में पहुँच गई हैं।[1] आपकी उलटवाँसियो की विरोधमूलकता प्रायः धर्म-विरोध और विधि-विरोध पर आश्रित है। कही-कही शब्द श्लेपत्व से कथन मे चमत्कार सहज ही आ गया है। उलटवाँसी-पदो मे हठयोगी-साधनाओ से सम्बन्धित, पारिभाषिक (रूढ प्रतीक) शब्दावली मे भी कथन मिलते है। ससार-प्रवाह मे प्रवाहित होती हुई बद्ध जीवात्माओ की अज्ञानावस्था का चित्रण बहुत मार्मिक रूप मे हुआ है। गीतितत्त्व के सहयोग से आप के उलटवाँसी-पद और अधिक प्रेषणीय हो गये हैं। साराश मे कहा जा सकता है कि उलटवाँसी शैली के परम्पराविकास मे पलटू साहब के उलटवाँसी-पदो ने, विषय और प्रयोग दोनो की दृष्टि से, परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया है। पदो की प्रकृति और प्रवृत्ति विषयक सूचना के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत है—

उदाहरण-१— 'खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान ॥टेक॥
जोरू गावै तान फिरा अहिबात हमारा।
झूठ सकल संसार माँग भरि सेंदुर धारा॥
हम पतिबरता नारी खसम को जियतै मारी।
वा को मूड़ौ मूड़ सरबर जो करै हमारी॥
बुतिया गई है भागि सुनौ अब राध परोसिन।
पिया मरे आराम मिला सुख मोकहूँ दिन दिन॥
पलटू ऐसे पद कहै बूझै सोइ निरबान।
खसम बिचार मरि गया जोरू गावै तान॥'[2]

---

१. 'कमठ दृष्टि जो लावई सो ध्यानी परमान।'
—पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ३८
'मरजीवा ह्वै जाय लाल को तुरत निकारै।'
—पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ५३
'चोर मूँसि घर पहुँचा मूरख पहरा देइ।'
—पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ५८
'अँधरन केर बजार में गया एक डिठियार।'
—पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ८१

२. —पलटूसाहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ७५ (कुडलिया १८०)

सांकेतिक व्याख्या—उक्त कुंडलिया मे आत्मसाक्षात्कार करने के समय जीवात्मा की मानसिक दशा का चित्रण है। जिसने परमात्म तत्व से अपना सम्बन्ध जोड लिया है, ऐसी जोरू रूप प्रबुद्ध जीवात्मा का (आनन्दित अवस्था मे) कथन उपपति के रूप मे जो 'ससार' (मन या अहंकार) पति बन गया था, ज्ञानावस्था मे उसके तिरोभाव से उसका वास्तविक सौभाग्य (सुहाग) पतिस्वरूप परमात्मा के परिचय के रूप मे पुनः प्राप्त होगया है। इसलिए जीवात्मा का परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने वाली 'सुरति' मगलगान कर रही है। विचार-काल मे सम्पूर्ण संसार मिथ्या हो जाता है। और परमात्मा से लय ही जीवात्मा की सिन्दूर रेखा सिद्ध होती है। उस अवस्था मे प्रबुद्ध जीवात्मा कह उठती है, पति रूप परमात्मा पर एकनिष्ठ होकर जीवन-निर्वाह करने वाली पतिव्रता जीवात्माएँ ससार रूप खसम को देखते-देखते ही समाप्त कर देती है। हमारी उस उच्चावस्था की जो जीवात्माएँ तुलना करने का प्रयत्न करती है, उसका भी अहंकार रूप सिर साफ कर दिया जाता है, तभी वे उस अवस्था की समता करने मे समर्थ हो पाती है। उस अवस्था में द्वित्व की भावना समाप्त हो जाती है, क्योंकि वह तदाकारिता की अवस्था होती है। इस प्रकार संसार अथवा प्रिय रूपों की ओर आकर्षित करने वाले मन रूप प्रियतम के मृतकवत् होने पर जीवात्मा नित्यप्रति सुख का अनुभव करने लग जाती है। पलटू साहब कहते है कि जो उक्त विपरीतकरणी के चर्चा करने वाले पदों को समझने की क्षमता उत्पन्न कर लेता है, वह निर्वाण अवस्था की प्राप्ति केलिए समर्थ हो जाता है।

उदाहरण-२—

'पच्छिउँ गंगा बहे पानी है जोर का।
बीच मँहै इक कुंड मुरेरा तोर का॥
उलटी बहै बयार नाव मुरकाय दै।
अरे हाँ पलटू, उतरै येहि के पार तो सूधी जाय दै॥'[1]

साकेतिक व्याख्या—प्रस्तुत उलटबांसी मूलक अरिल्ल छद मे सन्त पलटू दास ने संसार-प्रवाह की विषमता, वीभत्सता का, रूपक तत्व की योजना से, चित्रण किया है। इस पद मे समर्थ गुरु, साधक को सावधान करते अथवा चेतावनी देते हुए प्रतीत होता है। साधना-मार्ग पर अग्रसर होने पर साधक असावधानी या आलस्य आदि के कारण अथवा सांसारिक आकर्षणो मे फँसने के रूप मे विचलित न हो जाय, जिससे उसकी जीवन-नैया इस भव-सागर में ही गोते न खाती रहे। अतः जीवो पर सहज दया करने वाले गुरू उसे उद्बुद्ध करते हैं। यह भव-प्रवाह विपरीत क्रम से है, जिसमे पड़कर जीवात्मा की शरीर रूप नौका कही की कही पहुँच जाती है। इस भव-धारा के पानी का प्रवाह अर्थात् माया का प्रवाह बहुत ही प्रबल है। इस धारा के बीच मे एक भयकर भँवर-चक्र वाला खड्ड भी है, जिसमें फँसकर निकलना कठिन है। अर्थात् वासनात्मक आवर्त्त अथवा विषयो की ओर प्रवृत्त कराने वाली कामिनी ही इस विचित्र धारा के मध्य मे स्थित कुण्ड है, जिसमें फँसकर जीवात्माओं का निकलना कठिन होता है। इस धारा में इन्द्रियादि आकर्षणो की विपरीत-

१.—पलटू साहेब की बानी (दूसरा भाग), पृ० ७८

वायु झकोरे ले रही है। इस विषम परिस्थिति मे साधक को भव-धारा मे प्रवाहित अपनी काया-नौका को साधना-पथ पर अग्रसर करना पड़ता है। अत. सत्गुरु की चेतावनी है कि वह इस विषम परिस्थिति में अपनी प्रवृत्ति रूप नौका को उलटकर निवृत्ति मार्गी कर दे। जब वह इस विषम परिस्थिति को पार करले अर्थात् विषयाकर्षणो से ऊपर उठ जाये, तब सहज-मार्ग से अपने सिद्धि रूप लक्ष्य की ओर निरन्तर बढता रहे।

तुलसी साहब : (कार्य-काल स० १८२०-१८९९ या १९००) आपकी बानियो के सग्रह कई भागो मे 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' पहला भाग, दूसरा भाग, तीसरा भाग 'घटरामायण' पहला भाग, दूसरा भाग, 'रत्न सागर' आदि बेलविडियर प्रेस से प्रकाशित हुए है।

आपकी बहुविधि बानियो के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि आपकी कथन-शैली ही उलटवाँसी मूलक थी। आपके सग्रहो मे उलटवाँसी शब्द के समकक्ष 'उलटमासी' शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] उक्त शीर्षक के अन्तर्गत तेरह उलटवाँसी-पदो का सग्रह है। उलटवाँसी का अर्थ बताते हुए आपने एक स्थान पर 'उलटवास' शब्द का प्रयोग किया है।[2] आपकी बानी मे 'भेद', 'चेतावनी', 'होली', हिंडोला', 'मगल', 'बसत' आदि शीर्षको मे अनेक उलटवाँसी-पद सग्रहीत है।

प्रयोग की दृष्टि से आपके उलटवाँसी-पदो मे विरोध मूलक, सादृश्य मूलक, गूढार्थ-प्रतीतिमूलक सभी प्रकार के उलटवाँसी-पद मिलते है। विरोधमूलक मे भी विधि-विरोध, धर्म विरोध, प्रकृति विरोध के आधार वाले प्रतीक रूप उपमानो की योजना सफलता से हुई है। प्रतीको में परम्परा के अतिरिक्त कुछ नए प्रतीको की योजना तथा नए प्रसगों का विधान भी हुआ है। पारिभाषिक (रूढ़) शब्दावली के अनेक प्रतीक मिलते है। विषय की दृष्टि से साधक की हठयौगिक साधना अथवा वैचारिक अवस्था का वर्णन आपके उलटवाँसी-पदो मे मिलता है। आपके उलटवाँसी-पदो मे विस्मय-कुतूहल का तत्त्व सम्यक् रूप में देखने को मिलता है। भाव-विरह की अवस्था मे लिखे गए पदो की भाषा सरस और सरल है। पर, कही-कही प्रतीको की अधिकता, पारिभाषिक (रूढ) शब्दो के बाहुल्य के कारण प्रयोक्ता की कूट-रचना-प्रवृत्ति का आधिक्य दिखाई देता है। अनेक पक्तियाँ लोकोक्ति अथवा कहावतो की क्षमता लिए हुए है।[3]

१.—तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली (पहला भाग), पृ० १३६

२. 'उलटवास संतन ने भाखी। जाकी समझ सूर कोइ राखी॥
सुलटी को उलटी कर बूझा। उलटी सुलटी समझ न सूझा॥
अब याको इक सब्द सुनाऊँ। उलटि सुलटि वोहि माँहि दिखाऊँ॥'
—घटरामायण (दूसरा भाग), पृ० १७७

३. 'तुलसी बूझ बिचार बिन दुनिया दधि को जाय।
तीन लोक के बीच मे बंझा गऊ बियाय॥'—तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३४
'जुग जुग देखो खेत में काला बैल जुताय।'—तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३४
'नर से निकसी इक नारी। कोइ बूझै साध विचारी॥'
—तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३४; (दूसरा भाग), पृ० १६६

सारांश मे कहा जा सकता है कि उलटवाँसी शैली के प्रयोग मे तुलसी साहब, पलटू साहब से एक पग आगे बढ़े हुए दिखाई देते है। भाव-विचारों की सफल अभिव्यक्ति में आपकी प्रयोग-समर्थ भाषा तथा रूपक तत्त्व का बहुत बड़ा हाथ है। अनेक उलटवाँसी-पदो की भाव-व्यजना काव्यत्व को मुखर करती है। प्रवृत्ति सूचक दो पद, साकेतिक व्याख्या सहित, यहाँ प्रस्तुत हैं—

उदाहरण-१— गुइयाँ हो गुरन गुहरावा, सुन अचरज ख्याल ।। टेक ।।
अगिनि जरै जल माहीं, दिया बाती बिन तेल ।
धरनि अधर पर छावा, गगना भूमि मेल ।।
सखीरी नगर इक ठाँवाँ, सिंघनि व्याई बैल ।
पपील ने पील गिरावा, ऊँटवा से करै केल ।।
पंछी पहाड़ उड़ावा, गये गगना की गैल ।
गैया गली लख पाई, करै नित नित सेल ।।
हिरना चरै हरी दूवा, चितवा चलै पेल ।
उलटे गगन नद नीरा, चकवा चलै छैल ।।
तुलसी तरक मन माहीं, पाये पाये पिया मेल ।।"[1]

सांकेतिक व्याख्या—प्रस्तुत उलटवाँसी-पद मे साधक की विचार अवस्था का, अनेक प्रतीकों की योजना के द्वारा चित्रण किया गया है। विचार-काल मे कोई प्रबुद्ध जीवात्मा अपने अनुभव को किसी दूसरी जीवात्मा के प्रति कहती है। हे सखि, गुरु के द्वारा बताए गये 'अचरज-ख्याल' अथवा उलटवाँसी-पद को सुन। विचार-काल की अन्तर्मुखी सूक्ष्म अवस्था बड़ी विचित्र है। इस अवस्था मे विना तेल और वत्ती (उपादान-कारण) के जल के भीतर अग्नि जलती है। अर्थात् जलरूप माया-तत्त्व के भीतर विद्यमान रहते हुए भी साधक का अन्तर्मुखी चित्त प्रज्ज्वलित, उद्दीप्त, उद्बुद्ध बना रहता है। अर्थात् साधक का हृदय ज्ञान-ज्योति से दीपित रहता है। धरनि रूप जड़ काया अथवा मूलाधारस्थ जड़वत् बनी हुई कुडलिनी, सिद्धि अवस्था मे, आकाश रूप ब्रह्मरन्ध्र अथवा गगन-शिखर पर अधिष्ठित हो जाती है। और आकाश रूप शून्यवस्था भूमि रूप अधोगति वाली काया मे समाहित हो जाती है। प्रबुद्धवस्था मे जीवात्मा एक ऐसे नगर की सृष्टि करती है, जिसमे 'बैल' के गर्भ से 'सिंहनी' का प्रसव होता है। अर्थात् विभिन्न सस्कारो से लदा हुआ बैल रूप मन सत्तव पुष्ट हो अन्तर्मुखी होकर सिंहनी रूप सात्विक उद्दीप्त बुद्धि को जन्म देता है, (अथवा सिंहनी रूप आत्म साक्षात्कार की प्रबुद्ध अवस्था आ जाती है)। उस अवस्था में पिपीलिका रूप सूक्ष्म बुद्धि वहिर्मुख मदमत्त 'पील' रूप मन को वशवर्ती कर लेती है। और प्राणायाम की अवस्था मे ऊँट रूप वक्रगति प्राणवायु स्वयं मे ही श्वासोच्छ्वास के रूप में क्रीड़ा करती रहती है। पक्षी स्वभाववाला मन, अन्तर्मुखी होकर, पर्वत रूप अहंकार (अज्ञान) का उच्छेद कर देता है। और तब वह गगन-मार्ग से ऊर्ध्वमुखी

१.—तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली (पहला भाग), पृ० १३५

होता रहता है। उस अवस्था में गाय रूप सुरति (सुरभि) साधना के सूक्ष्म मार्ग का अवलोकन कर लेती है। फलतः नित्यप्रति वह उसी मार्ग पर आती जाती है अर्थात् तल्लीन बनी रहती है। उलटवास के विचार-काल मे हिरण स्वभाव वाला मन, अन्तर्मुखी होकर, दूर्वा रूप साधना जन्य तृप्ति का आस्वाद लेता रहता है। और सूक्ष्मचित्त उसी मार्ग का नित्य प्रति आवर्त्तन करता रहता है। समाधि-काल मे गगन रूप ब्रह्मरन्ध्र से नीर रूप अमृत की वर्षा होती रहती है। और उस आनन्द की अवस्था मे चकवा रूप चित्त विभोर बना रहता है। प्रबुद्ध जीवात्मा के शब्दों मे तुलसी साहब कहते है कि हे सखि, शरीर के भीतर ही तू उक्त ज्ञानावस्था का भावन कर। फलतः प्रिय रूप परमात्मा की प्राप्ति हो जायगी। अर्थात् आत्मसाक्षात्कार हो सकेगा।

विशेष—उक्त पद मे प्रकृति विरोधी, धर्मविरोधी प्रतीक रूप उपमानो की योजना से साधक की हठयौगिक साधना की सिद्धि अथवा विचार-काल में बुद्धि की सूक्ष्मता की ओर सकेत मिलते हैं।

उदाहरण-२ —

'जुग जुग देखै खेत में काला बैल जुताय ॥
काला बैल जुताय जाय घर अपने नाहीं।
मालिक करै अवाज फेर करि चितवै नाहीं ॥
ऐसा बडा अयान ज्ञान मन में नहिं लावै।
उलटि चलै असमान आदि घर अपना पावै ॥
तुलसी ततमत चीन्ह कर गति मति भिन्न लखाय।
जुग जुग देखै खेत मे काला बैल जुताय ॥'[1]

सांकेतिक व्याख्या—उक्त उलटवाँसी मूलक कुडलिया छन्द मे, विभिन्न कर्मों के बोझ से लदे हुए बहिर्मुखी और तामस वृत्तियो वाले तथा जन्मान्तरो से अनेक कर्मों के जुए के नीचे विचारहीन होकर जुते रहने वाले बैल रूप मन की प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे कथन है। प्रयोक्ता तुलसी साहब इस कथन के माध्यम से सासारिक लोगो को उपदेश देते है कि, अरे लोगो, तुम क्या देखते नही हो कि काला बैल युगो तक खेत मे जुतता रहता है। अर्थात् अपनी तामसवृत्तियो के कारण मन को ससार रूपी खेत मे कर्मों का बोझ लादना पड़ता है। यद्यपि अन्त.करण की आवाज या ज्ञान-स्वर के रूप मे मालिक-परमात्मा उसे अपनी ओर बुलाने का सकेत करता है। परन्तु वह अपने अज्ञान जन्य अहकार के कारण उसकी ओर उन्मुख भी नही हो पाता। अर्थात् अन्तर्मुखी होकर साधना-मार्ग पर अग्रसर नही होता। वह अपने कर्मों के बोझ से ऐसा विमूढ बना रहता है कि ज्ञान-वृत्ति का प्रवेश उसमे नही हो पाता। ज्ञान-पथ पर अग्रसर होने अथवा वास्तविक घर तक पहुँचने का एकमात्र उपाय है—ससार-क्रम से विपरीत होकर आचरण करना अथवा अन्तर्मुखी होकर हठयोगी-साधना द्वारा त्रिकुटी रूप आकाश की ओर गमन करना। परन्तु वह बैल रूप मन इस प्रकार उलटकर चलने का अभ्यासी नही है। तुलसी साहब का

---

१. —तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली (पहला भाग), पृ० ३४

कहना है कि तात्त्विक अवस्था के समझ लेने पर, अर्थात् आत्म साक्षात्कार कर लेने पर ज्ञान-दशा और भाव-दशा दोनो पृथक्-पृथक् दिखाई देने लगती हैं। पर, विचारपूर्वक इस स्थिति तक न पहुँचने पर, जीवात्माओं के तामस वृत्ति वाले बैल रूप मन खेत रूप ससार या कर्म-चक्र मे जुतते रहते हैं।

स्वामी शंकरदास : आपका आविर्भाव काल उन्नीसवी शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक है। आपकी बानियो के कई सग्रह प्रकाशित हुई है, जिनमे एक 'ब्रह्म ज्ञान प्रकाश' 'देहाती पुस्तक भण्डार, दिल्ली' से छपा है। विचारो में आप वेदान्त-ज्ञान से अधिक प्रभावित है। उक्त संग्रह मे अनेक उलटवाँसी-पद मिलते हैं, जिनमें विषय और प्रयोग की दृष्टि से नवीनता न होते हुए भी, परम्परा-निर्वाह की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। एक उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें विरोधमूलक शैली मे, अनेक प्रतीकों की योजना के द्वारा साधक की विचार-दशा का चित्रण है—

'उलटा ज्ञान समझ के देखा जद ये मन पतियाया है।
सुनकर अरज जक्त मानता कीड़ी ने हस्ती जाया है ॥टेक॥
बूँद माँहि सों सिंधु निकासा मावस में से चन्दा।
मोती में से सीप निकासी, देखत भया अनन्दा ॥
जोगी में से मढ़ी निकासी पोटी कर कर धन्दा।
तागा उठ गुदड़ी को सींवे देखत हो शरमन्दा ॥
पद को कोई समझे पूरा आपस में आप मिलाया है।
उलटा ज्ञान समझ के देखा जद ये मन पतयाया है ॥
तरवर में से बाग निकासा तासे उपजा एक माली।
साह चुरावै अपने धन को चोर करै है रखवाली ॥
सर्प में से बम्बी निकासी स्वेत पीत नहीं काली।
तृण अन्दर पाखान समाना कुदरत देख निराली ॥
सतगुरु टेर शब्द की देकर स्याबत कर दर्शाया है।
उलटा ज्ञाग समझ के देखा जद ये मन पतयाया है ॥'

सन्त शिवदयाल जी : आपका जन्म १८८५ मे आगरे मे हुआ था। आपने राधा-स्वामी सम्प्रदाय चलाया है। आपके विचारो पर तुलसी साहब (हाथरस वाले) के विचारो की स्पष्ट छाप है। आपकी बानियो का संग्रह 'सारवचन छन्द बन्द' नाम से—'राधास्वामी ट्रस्ट, स्वामी बाग' आगरा से दो भागों में प्रकाशित हुआ है। आपने उलट-वाँसी शैली के तथा-कथित रूप को सम्यक् रूप से अपनाया है। इस शैली के माध्यम से आपने साधक की विचार-दशा के, परम्परानुसारेण सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। कथनो में वर्णनात्मकता ही अधिक है। प्रतीक-चयन में भी किसी प्रकार की नवीनता देखने को नही मिलती है। प्रयोग की दृष्टि से एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

१.—ब्रह्मज्ञान प्रकाश, पृ० १७२-७३

'गुरु अचरज खेल दिखाया। सेते नाम रतन घट पाया।।
बकरी ने हाथी मारा। गउ कीन्हा सिंह अहारा।।
चींटी चढ़ गगन समाई। पिंगला चढ़ पर्वत आई।।
गूंगा सब राग सुनावै। अन्धा सब रूप निहारै।।
मक्खी ने मकड़ी खाई। भुनगे ने धरन तुलाई।।
धरती चढ वृक्षा बैठी। पक्षी ने पवन चुगाई।।
जंगल में वस्ती व्याई। वस्ती सब खिलकत खाई।।
मूसे से बिल्ली भागी। पानी में अग्नी लागी।।
कउआ धुन मधुरी बोलै। मेंढक अब सागर तोलै।।
मूरख से चतुरा हारा। धरती में गगन पुकारा।।
राधास्वामी उल्टी गाई। उल्लू को सूर दिखाई।।'

संकेतार्थ—उक्त शब्द मे साधक की विचार-दशा का वर्णन है। ज्ञान-विरह मे साधक बाह्य संसार को विपरीत क्रम से देखने लगता है। सत्गुरु घट-मठ मे ही आश्चर्य वाला खेल (ससार) का अनुभव करा देता है। उन्ही की कृपा से साधक को रत्न रूप 'सुरति' की उपलब्धि होती है। ससार-दशा मे जो, जीवात्मा की सुरति रूप बकरी दीनता प्रकट करते हुए मिमियाती रहती थी, वही विचार-काल मे, गजरूप मनमथ अथवा बहिर्मुखी मन को वशवर्ती करने मे समर्थ हो जाती है। इस अवस्था मे गऊ रूप सात्विक वृत्ति, सूक्ष्म बुद्धि अथवा सुरति सिंह रूप क्रोध अथवा काल को वशीभूत कर लेती है। चीटी रूप सूक्ष्म बुद्धि अथवा सुरति मेरु शिखर रूप आकाश में अधिष्ठित हो जाती है। अर्थात् शून्य स्वभाव की हो जाती है। अन्तर्मुखी होकर पगु बना मन पर्वत रूप अहकार को दबा बैठता है। अथवा ऊर्ध्वमुखी मन पर्वत रूप 'मेरु शिखर' पर अधिष्ठित हो जाता है। मूक वाणी से साधक अनुभूतिकाल मे शब्द-ब्रह्म की ध्वनि को प्रकट करने मे समर्थ हो जाता है। जो नेत्रेन्द्रिय को बाह्य ससार से उलट कर साधनाभ्यास करता है, वह अलौकिक रूप के दर्शन करने लगता है। विचार-काल मे मक्खी रूप वृत्ति अथवा अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति, जो पहले मकडी के जाले मे फँस जाती थी, मकडी रूप माया के जाले को विदीर्ण करने वाली हो जाती है। सूक्ष्म जीवन व्यतीत करने वाले भुनगे रूप साधक ने सूक्ष्म-वृत्ति वाला होकर आकाश या शून्य को ही अपने मे समेट लिया है। अन्तर्मुखी साधना की उच्चावस्था मे धरती रूप कुडलिनी (जो अब तक जडवत् पडी थी) सुरति वृक्ष रूप मेरु अशिखर थवा त्रिकुटी स्थान पर अधिष्ठित हो जाती है। और पक्षी रूप मन प्राणायाम के समय पवन का भक्षण करता है। विचार-दशा में साधक सम्पूर्ण सृष्टि या 'बस्ती' को पिण्ड के भीतर ही देख लेता है, जो पिण्ड अब तक बहिर्मुखी लतादिक रूप इन्द्रियो के कारण जगल रूप बना हुआ था। इस समय साधना की फलावस्था में बाह्य सृष्टि शून्याकार वाली होकर समाप्त हो जाती है। मूषक रूप अन्तर्मुखी सूक्ष्म मन को देखकर बिल्ली रूप दुर्मति अथवा दुष्ट वृत्ति भाग जाती है। ज्ञान-विरह की इस अवस्था

१. —सारवचन छन्द बन्द (दूसरा भाग), पृ० ४५२-५४

में साधक केलिए पानी रूप माया के इस संसार में आग लगी हुई दिखाई देती है। अर्थात् विचारक, ज्ञान-दशा में, नाना कर्मों से लदे हुए ससार को जलता हुआ देखता है। जो मन पहले कउए के समान विष्टा रूप विषय-पदार्थों की ओर दौड़ता रहता था और विषयो का भोग करते हुए अमधुर स्वर बोलता था, वही मन अन्तर्मुखी होकर मधुर शब्द करने लग जाता है। पहले भ्रमावस्था में रहने वाला मेढक रूप मन अपने भ्रम की सीमा मे ही उछला कूदा करता था, वही सात्त्विक और सूक्ष्म होकर ब्रह्माण्ड की नाप-जोख करने में प्रवृत्त हो जाता है। जो मन प्रवृत्ति मार्गी होकर ससार में चतुर कहलाता था, वही अन्तर्मुखी अवस्था मे (लोकदृष्टि से) मूर्ख होकर चतुर को हराने में समर्थ हो जाता है और साधक को धरती रूप पिंड मे आकाश रूप ब्रह्म अथवा व्यापक तत्त्व की अनुभूति होने लगती है। इस प्रकार अन्तर्मुखी होकर राधा-स्वामी, विपरीतकरणी के उलटवाँसी पद को गा रहे हैं और उस उलटी अवस्था में उल्लू रूप अन्तर्मुखी साधक को सूर्य रूप ज्ञान अथवा परमात्मा के दर्शन हो जाते है। अर्थात् साधक आत्मसाक्षात्कार कर लेता है।

सप्तम अध्याय

उलटवाँसी-पद—काव्यशास्त्रीय परिवेश

उलटवाँसी शैली तथा अलंकार :

उलटवाँसी शैली का आधार—अलकार कथन की शैली विशेप होते है। सन्तो की उलटवाँसियाँ भी एक विशेष ढग से अनुभूति या विचार को मुखरित करती हैं। अत. इस अर्थ मे उलटवाँसी शैली एक अलकार है, जिसका अलकार्य साधनात्मक सत्य अथवा कोई विशेष विचार-दशा है। उलटवाँसी का अपना एक शिल्प है, जिसमें कतिपय अलकारो की सीमा का स्पर्श रहता है, अलकारो का प्रयोग जिस कौशल की अपेक्षा रखता है, वह उलटवाँसियो मे नही मिलता, अत. अलकार प्रयोग की सूक्ष्मताओ की अपेक्षा उलटवाँसी-पदो में नही करनी चाहिए। जितने भी अलकार मिलते है वे सहज रूप से ही उलटवाँसी के कलेवर मे प्रविष्ट हैं।

उलटवाँसी-पदो में कुछ प्रमुख अलंकार : 'विरोध' उलटवाँसी के अनिवार्य तत्त्व मे से एक है। प्राय. विरोधमूलक अलकार उलटवाँसियो मे पाये जाते है। उलटवाँसी-पदो मे विरोधाभास साधन बन कर आया है। अत: पश्चाद्वर्ती होने पर भी विरोधमूलक अलकार-वर्ग का विवेचन प्रथमत: किया जा रहा है। इस वर्ग के अतिरिक्त उलटवाँसियो मे सादृश्यमूलक, गूढार्थप्रतीति मूलक वर्ग के अलंकारो के उदाहरण भी मिलते है।

(क) विरोधमूलक अलकार : इस वर्ग के विरोध या विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, विषम, असगति, विचित्र, विशेष, व्याघात तथा अधिक अलकारो का रचना-साम्य उलटवाँसियो मे रहता है। 'सम' तथा 'अन्योन्य' इसी वर्ग के होने पर भी, अपनी आकृति-प्रकृति मे उलटवाँसी के निकट नही पडते। उलटवाँसी-पदो विरोधमूलक अलकारो मे से कुछ अलकारो की शास्त्रीय प्रक्रिया यहाँ प्रस्तुत है—

(१) विरोधाभास—आचार्य मम्मट के अनुसार 'विरोध न रहने पर भी (विरोध की प्रतीति कराने वाले) विरुद्ध रूप से वर्णन करना विरोध (या विरोधाभास अलकार) होता है।'[1] सूत्र की वृत्ति मे उन्होने लिखा है कि वास्तव मे अविरोध होने पर भी जो विरोध कथित रहता है वह विरोध होता है।[2] विरोधाश्रित उलटवाँसियो में भी वाच्य का

---

१. 'विरोध सोऽविरोधोऽपि विरुद्धत्वेन यद्वच.।'—काव्यप्रकाश, १०। सूत्र १६६
२. 'वस्तुवृत्तेनाविरोधोऽपि विरुद्धयोरिव यदाभिधान स विरोध .।'
—काव्यप्रकाश, १०। १६६ (वृत्ति)

विरोध दिखाई देता है। प्रतीक-सकेतों का अर्थ लगते ही उस विरोध का परिहार हो जाता है। उलटवाँसियों में प्रयोक्ता सन्त विरोध को अप्रकृत करके अपने उद्देश्य की सिद्धि करते हैं।[1] उलटवाँसियों में मुखर विरोधाभास के माध्यम से आध्यात्मिक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति मिली है।[2] डॉ० रामधन शर्मा का यह कथन, 'कबीर के कूटों मे सबसे अधिक महत्त्व उलटवाँसियों का है। वे प्राय. विरोधाभास पर आश्रित हैं, जिनमें विपरीत क्रम और परिस्थितयो मे कार्य की उत्पत्ति होती है'[3] कबीर पर ही नही उलटवाँसी के सभी प्रयोक्ता सन्तों के विषय मे चरितार्थ होता है। उलटवाँसी शैली में विरोधाभास के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

उदाहरण-१— 'अगनि जु लागी नीर में कंदू जलिया झारि।
उतर दखिन के पंडिता रहे विचारि विचारि॥'[4]

'अगनि' का स्वभाव दहनशील है और 'नीर' का आर्द्र। ये दोनो विरोधी स्वभाव के है। नीर में अग्नि का लगना सम्भव नही। जैसे ही प्रतीक-सकेतों के बल पर साधक की विचार-दशा के पक्ष मे अर्थ किया जाता है, विरोध का स्वत. परिहार हो जाता है। उस समय 'नीर' हृदय का प्रतीक होकर उसमे ज्ञानाग्नि के प्रज्ज्वलित होने और 'कंदू' रूप अन्तस् की दुष्प्रवृत्तियो के समाप्त होने का सकेत मिलता है।

उदाहरण-२—'कैसे नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिष विचषन नारी॥
बैल बियाइ गाइ भई बाँझ, बछरा दूहै तीन्यूँ साँझ॥
मकड़ी धरि माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी॥
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै सांप पहरइया॥
नित उठि स्याल स्यंघ सूँ झूझै, कहै कबीर कोई विरला बूझै॥'[5]

इस पद में बैल, गाइ बछरा, आदि जातिवाचक शब्दो के प्रसवत्व, वन्ध्यात्व और दुग्धत्व आदि जो गुण बताए हैं, उनमे 'जाति' का गुण के साथ विरोध है। मास के साथ चील्ह का रक्षा-कर्म, मीढक का साँप के द्वारा पहरा देना आदि में जाति का क्रिया-विरोध है। स्याल का स्यंघ के साथ जूझना मे 'जूझना' क्रिया का तथा स्याल और स्यंघ इन जाति वाचक शब्दों के साथ जातिगत विरोध है। परन्तु जैसे ही इन प्रतीकात्मक शब्दों का,

---

१. 'संतों का उद्देश्य विरोधाभास को अप्रकृत करके उसके अन्तर्निहित महान् अर्थ को प्रकृत बनाना है।' —हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३५
२. 'संतों ने विरोधाभास अलंकार का आश्रय लेकर आध्यात्मिक अनुभूतियो तथा तत्त्वों एवं दार्शनिक विचारों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।' —हिन्दी सन्त-साहित्य, पृ० १२२
३. —कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० ८६
४. —कबीर ग्रंथावली, पृ० ११३
५. —कबीर ग्रंथावली, पृ० ११३

प्रसंग-पूर्वक अर्थ लगाया जाता है, वैसे ही विरोध समाप्त हो जाता है। इस विरोध के परिहार के लिए 'नगरि' को मानव-शरीर और 'पुरिष' एव 'नारि' को मन तथा मनसा का प्रतीक मान लेने पर कथन के विरोध को एक निश्चित दिशा मिल जाती है। उस समय 'स्याल' जीव और 'स्यध' काल के प्रतीक हो जाते है। संसार-चक्र मे पड़े हुए जीव को अपनी स्थिति मे सुधार करने, अमरत्व पद पाने केलिए नित्यप्रति या प्रत्येक जीवन मे सुधार करने (अमरत्व पद पाने केलिए नित्यप्रति या प्रत्येक जीवन मे) केलिए प्रयत्न करना पड़ता है, परन्तु मानव-शरीर की विषमता के कारण वह कृतकार्य नही हो पाता। इस वैषम्य के कारण विविध संस्कारों से लदा हुआ 'वैल' सदृश सदोष मन नाना प्रकार की सृष्टि करता रहता है। सात्विक बुद्धि वन्ध्या गाय के समान निष्क्रिय हो जाती है। फलतः इन्द्रियो से मनमाना दोहन किया जाता है। इस दुर्व्यवस्था के कारण माषी (मनसा) मकडी (माया) के घर की मालकिन वन जाती है और 'चीलह' के समान मलिनवृत्ति होते हुए भी उपलब्ध मास (विषयो) की रक्षा मे दत्तचित्त रहती है। बिल्ली रूप दुर्मति नाव जैसी बन जाती है और चूहा रूप मन केवट के समान खेने का दम्भ करता है। उसके निकट सशय रूपी सर्प पहरा देता है, फिर भी वह मेढक के समान आलस्य मे पड़ा रह कर सुख की नींद सोने का ढोंग करता है।'[1] इस रहस्य को बिरला जन ही समझ पाता है और समझने पर इसका दृष्ट विरोध समाप्त हो जाता है। विरोधाभास के के कुछ और उदाहरण देखिए—

कबीरदास— 'अवधू ऐसा ग्यान विचारं।
भेरे चढे सु अधधर डूबे, निराधार भये पारं।।'[2]

सुन्दरदास— 'कीडी कुंजर कों गिले स्याल सिंह कों खाइ।
सुन्दर जल की माछली दौरि अग्नि में जाइ।।'[3]

दरिया साहब— 'बूंद के माहीं समुंद समाना, राई में परवत डोलै।
चींटी के माहीं हस्ती बैठा, घट में अघटा ओलै।।
कूंडा माहीं सूर समाना, चंद्र उलट गयां राहू।
राहु उलट कर तार समाना, भौम में गगन समाऊ।।'[4]

(उक्त उदाहरण में विरोध के परिवेश में 'अधिक' अलकार सजीव हो उठा है।)

पलटू साहब— 'महुवा में लागा दाख भांग में भया लुवाना।
सांप के बिल के बीच जाय के मूस लुकाना।।
पलटू संत बिवेकी बुझि हैं सबद सम्हार।
गगा पाछे को बही मछरी चढ़ी पहार।।'[5]

---

१. —कबीर साहित्य की परख, पृ० १७७
२. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १४७
३ —सुन्दर ग्र थावली (द्वितीय खण्ड), अग २०, साखी ४
४. —दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी, पृ० ४४
५ —पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ७५

तुलसी साहब— 'देखा अचरज भाई रे, कहूँ कहा न जाई ।।टेक।।
धरती घुमर गरज जल बरषा, बादर भींज वहाई ।
तुलसी चन्द्र चलै पानी में, मछरी अकास अन्हाई रे ।।'[1]

(२) विभावना—'क्रिया अथवा कारण का निषेध होने पर भी फल की उत्पत्ति होने पर विभावना (अलकार) होता है ।'[2] अर्थात् हेतु रूप 'क्रिया' (कारण) का निषेध अथवा अभाव होने पर फल की (कार्यरूप फल की) प्राप्ति विभावना है । इस अलकार के मूल मे 'अभेद अध्यवसाय' रहता है, जिसमे आरोप के विषय को न कहकर केवल आरोप्यमाण का उल्लेख किया जाता है । कबीर आदि सन्तो की उलटवाँसियों मे जहाँ प्राणो के विना सांस लेना; विना वस्ती का देश, विना पिण्ड का पुरुष; विना जल के भारी बूँद का गिरना; बिना बादल के बिजली चमकना; बिना सीपी के मोती उत्पन्न होना आदि कथनों में विभावना का चमत्कार दिखाई देता है । गोरखनाथ के निम्नलिखित उलटवाँसी-पद मे विभावना देखी जा सकती है—

उदाहरण-१—'बूझौ पंडित ब्रह्म गियांनं, गोरष बोलै जाण सुजांनं ।।टेक।।
बीज बिन निसपती मूल बिन बिरषा पान फूल बिन फलिया ।
बाँझ केरा बालूड़ा, प्यंगुल तरवरि चढ़िया ।।
गगन बिना चंद्रम ब्राह्मांड बिन सूरं, झूझ बिन रचिया थानं ।
ए परमारथ जे नर जांणें, ता घटि परम गियांनं ।।'[3]

'बीज बिन निसपती, मूल बिन बिरषा' में अकारण से कार्य की उत्पत्ति होने में 'चतुर्थ विभावना',[4] बाँझ होने पर भी बालूड़ा; प्यंगुल होने पर भी तरवरि पर चढना, गगन न होने पर भी चन्द्र का चमकना, ब्राह्मांड के न होते हुए भी सूर्य के होने में प्रतिबन्धक कारण के रहते हुए भी, कार्य-कथन में 'तृतीय विभावना'[5] है । विभावना मे सदा बीज रूप मे विरोध रहता है । उसका परिहार करने पर ही चमत्कार घटित होता है । उक्त पद में भी 'बीज बिन निसपती' अर्थात् सृष्टि-मूल और पान फूल बिन फलने वाला वृक्ष अर्थात् संसार; बाँझ का बालूड़ा अर्थात् आसक्त बुद्धि से उत्पन्न ज्ञान; प्यगुल अर्थात् मन आदि अर्थ करने पर विरोध का परिहार हो जाता है। विभावना के उदाहरण के रूप मे गोरखनाथ के पद से प्रभावित कबीर का निम्न पद उल्लेखनीय है—

---

१. —तुलसी साहिब (हाथरस वाले की) शब्दावली (पहला भाग), पृ० १३६
२. 'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ।' —काव्यप्रकाश., १० । सूत्र—१६२
तथा 'विभावना विना हेतु कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।' —साहित्य दर्पण, १० । ६६
३. —गोरख-बानी, पृ० १०८
४. 'अकारणात् कार्यजन्म चतुर्थी स्याद्विभावना' —कुवलयानन्द :, ३४ । ८०
५. 'कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात् सत्यपि प्रतिबन्धके ।' —कुवलयानन्दः, ३४ । ७६

उदाहरण-२—'बांझ का पूत बाप बिन जाया, बिन पांऊं तरवरि चढ़िया।
बीज बिन अंकुर पानि बिन सरवर बिन साखा तरवर फलिया।।
रूप बिन नारी पुहुप बिन पूजा, बिन पांखा भंवर बिलंबिया।
सूरा होइ जु परम पद पावै, कीट पतंग होइ सब जरिया।।'[1]

उक्त पद मे तीसरी और चौथी विभावना के अतिरिक्त 'बाझ का पूत बाप बिन जाया' कथन मे विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति बताने मे 'पचम विभावना'[2] है। विभावना के कुछ और उदाहरण प्रस्तुत है—

दादूदयाल— 'दह दिसि दीपक तेज के बिन बाती बिन तेल।'[3]

यहाँ कारण के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति होने से 'प्रथम-विभावना'[2] है।[4]

यारी साहब— 'बिरहिन मंदिर दियना बार।
बिन बाती बिन तेल जुगति सो, बिन दीपक उंजियार।।'[5]

'चांद बिना जहं चांदनी रे, दीपक बिना जगमग जोती।
गगन बिना दामिनि देखौ, सीप बिना सागर मोती।।'[6]

चरनदास— 'कोटि चंद सूरज उजियारी रवि ससि पहुँचत नाहीं।
बिना सीप मोती अनमोलक, बहु दामिनि दमकाही।।
बिन ऋतु फूल फूले रहत हैं, अमृत रस फल पागे।
पवन गवन बिन पवन बहुत है, बिन बादर झरि लागे।।'[7]

पलटू दास— 'बिन हाथ से ताल मृदंग बाजे, बिन जंत्री जंत्र बजावता है।
पलटू बिन कान से हम सुना, बीना कोई सकस बजावता है।'[8]

(३) विशेषोक्ति—सम्पूर्ण कारणो के रहने पर भी फल का न कहना विशेषोक्ति है।

---

१. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १४०
२. 'विरुद्धात् कार्यसंपत्तिर्दृष्टा काचिद्विभावना' —कुवलयानन्दः, ३४। ८१
अर्थात् जहाँ विरोधी कारण (कारण के ठीक विरोधी तत्त्व) से कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाय।
३. —दादूदयाल की बानी (भाग १), पृ० ५४
४. 'विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत्।' —कुवलयानन्द, ३४। ७७
अर्थात् जहाँ प्रसिद्ध कारण के बिना भी कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाए।
५ —यारी साहिब की रत्नावली, पृ० १
६ —यारी साहिब की रत्नावली, पृ० १६
७ —चरनदास जी की बानी (पहला भाग), पृ० ९
८. —पलटू बानी (भाग २), पृ० २७

अर्थात् कारण की समग्र शक्तियों के उपस्थित रहने पर भी फल-प्राप्ति न होने का कथन 'विशेषोक्ति' अलंकार है।[1] गोरखनाथ की निम्नलिखित 'सबदी' मे विशेषोक्ति है। देखिए—

उदाहरण-१— 'अमावस कै घरि झिलमिलि चंदा, पूनिम कै घरि सूरं।
नाद कै घरि व्यंद गरजै, बाजंत अनहद तूरं।।'[2]

चन्द्र के होने पर 'अमावस' तथा पूर्णिमा के घर में सूर्य की उपस्थिति होने में, विशेषोक्ति अलंकार है। इसी प्रकार कबीर का निम्न पद है—

उदाहरण-२— 'अवधू कामधेनु गहि बाँधी रे।
भांडा भंजन करै सबहिन का, कछू न सूझै आधी रे।।
जो ब्यावै तो दूध न देई, ग्यामण अमृत सरवै।
कौली घाल्यां बीडरि चालै, ज्यूं घेरी त्यूं दरवै।।'[3]

यहाँ कामधेनु को गहि बांधने, ब्याने, ग्याभण रहने, घेर जाने के रूप में कारण विद्यमान हैं, फिर भी सम्बन्धित तत्सम्बन्धी कार्यों का अभाव है। और उनके स्थान पर भाटा भंजन करना, दूध न देना, अमृत स्रवित करना तथा मारने दौड़ना आदि अन्य कार्य हो रहे हैं। इसी प्रकार जल के बीच में मीन का प्यासी रहना, सिंह के खड़े रहने पर भी गाय चराई जाना, दो-दो दीपक जलाये जाने पर भी मंदिर में अंधेरा रहना[4] आदि कथन विशेषोक्ति मूलक हैं। अन्य सन्तो के उलटवाँसी-पदो में विशेषोक्ति के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

धनी धरमदास—'आगे चलूं पंथ नहिं सूझै, पाछे परै न पाँव।
ससुरे जाउँ पिया नहिं चीन्है, नैहर जात लजाउँ।।'[5]

दादूदयाल— 'अवधू कामधेनु गहि राखी।
बसि कीन्हीं तब अमृत सरवै, आगैं चारि न नाखी।।
ज्यौं ज्यौं पाण पड़ै त्यौं बूझै, मुकती मेल्या मारै।
घाटा रोकि घेरि घर आणे, बाँधी कारज सारै।।'[6]

---

१. 'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।' —काव्यप्रकाश:, १०। सूत्र-१६३
'सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।' —साहित्य दर्पण, १०। ६७
२. —गोरख बानी, पृ० २०
३. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १३७ (पद १५२)
४. —कबीर ग्रंथावली, पृ० ११३ (पद ८१)
५. —धनी धरमदास जी की शब्दावली, पृ० १४
६. —दादूदयाल की बानी (भाग २), पृ० ३०

उक्त उदाहरण मे वसि कीन्हे पर अमृत स्रवित करना, पाण पड़ने पर दूझना, मारे जाने पर मुक्ति दिलाना, बँधी हुई होने पर कार्य सम्पन्न करने मे अनुक्त निमित्ता विशेषोक्ति है। कुछ और उदाहरण—

सुन्दरदास— 'कुंजर कौं कीरी गिलि बैठी सिंघहि षाइ अघानो स्याल।
मछरी अग्नि माँहि सुख पायौ जल मे हुती बहुत बेहाल॥
पंगु चढ्यो पर्वत के ऊपर मृतकहिं देषि डरानो काल।
जाको अनुभव होइ सु जाने सुन्दर ऐसा उलटा ख्याल॥'[1]

इस सवैया की प्रथम तीन पंक्तियो मे अनुक्त निमित्ता विशेषोक्ति है।

जगजीवन साहब—'साधो इक बासन गढ़ै कुम्हार।
अग्नि उठाय निकासत पानी रचि रगि रूप संवार॥'[2]

पलटू साहब – 'खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान।
जोरू गावै तान फिरा अहिवात हमारा॥
झूठ सकल संसार माँग भरि सेंदुर धारा।
हम पतिबरता नारि खसम को जियतै मारी।
बाको मूड़ो मूड़ सरवर जो करै हमारी॥'[3]

उक्त उदाहरणो मे 'विशेषोक्ति' अलकार के बल पर चमत्कार की अभिवृद्धि हुई है। 'हिरदै भीतर दव जलै धुवाँ न परगट होय' जैसे कथन सन्तो की वाणी मे सम्प्रेषणीयता की अभिवृद्धि करते हैं।

(४) विषमालंकार—कही अत्यन्त वैधर्म्य के कारण उनका न बनना प्रतीत हो, कर्त्ता को (अपनी) क्रिया के फल की प्राप्ति न हो और उल्टा अनर्थ हो जाय, कार्य के गुण और क्रिया के कारण के गुण तथा क्रिया का क्रमश वैपरीत्य हो, वह 'विषम' अलकार होता है।'[4] इस बात को और स्पष्ट शब्दो मे इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'यदि कार्य और कारण के गुण और क्रियाये परस्पर विरुद्ध हो अथवा आरम्भ किया हुआ कार्य तो पूरा न हो, प्रत्युत् कुछ अनर्थ आ पडे, अथवा दो विरूप पदार्थो का मेल हो तो वहाँ 'विषम' अलकार होता है।'[5] उलटवाँसी मूलक कथनो मे कार्य के गुण और क्रिया से

---

१ —सुन्दर ग्रथावली (द्वितीय खण्ड), (अग २२)
२ —जगजीवन साहेब की शब्दावली (दूसरा भाग), पृ० ४२
३. —पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ७३ तथा ७५
४. 'गुणक्रियाभ्या कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मत॥' —काव्यप्रकाश, १०। १२७
५ 'गुणौ क्रिये वा चेत्स्याता विरुद्धे हेतुकार्ययो।
यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सभव.॥
विरूपयोः सघटना या च तद्विषम मतम्॥' —साहित्यदर्पणः १०। ७०

कारण के गुण तथा क्रिया का वैपरीत्य अधिक दिखाई देता है। कुछ उदाहरण देखिए—

उदाहरण-१— 'अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।
आवगति अंतरि प्रकटै, लागै प्रेम धियान॥
आकासे मुखि औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि।
ताका पांणीं को हंसा पीवै, विरला आदि विचारि॥'[1]

इसमें 'अनहद बाजने और नीझर झरने' रूप कारण तथा 'ब्रह्म गियान' रूप कार्य में कारण तथा कार्य के गुण में वैपरीत्य है। इसी प्रकार आकाश की ओर मुख वाला 'औंधा कुवाँ' तथा पाताल में 'पनिहारी' के कथन में दो विरूप पदार्थों का मेल है। यहाँ सम्बन्ध रूप में विवक्षित दो पदार्थों की विलक्षणता के कारण परस्पर अनुपपन्नता प्रतीत हो रही है। अतः 'विषम' अलंकार है।

उदाहरण-२— 'कपरा धोबी कौं गहि धोवै माटी बपुरी घरै कुम्हार।
सुई विचारी दरजिहि सीवै सोना तावै पकरि सुनार॥
लकरी बढ़ई कौं गहि छीलै पाल सु बैठी घवै लुहार।
सुन्दरदास कहै सो ज्ञानी जो कोउ याकौ करै विचार॥'[2]

उक्त सवैया की प्रथम तीन पंक्तियों में सम्बन्ध रूप से विवक्षित दो पदार्थों की, उनकी विलक्षण स्थिति के कारण, परस्पर अनुपपन्नता दिखाई देती है। यहाँ 'कपरा' के द्वारा 'धोबी' को धोये जाने में दोनों के विलक्षण होने से उनका सम्बन्ध अनुपपन्न-सा प्रतीत हो रहा है।

(५) असंगति—'जहाँ कार्य-कारणभूत दो धर्मों की भिन्न देशतया और एक साथ प्रतीति हो, वहाँ असंगति (अलंकार) होता है।'[3] लक्षण की वृत्ति में आचार्य मम्मट ने लिखा है कि 'लोक में जिस स्थान पर कारण होता है, उसी स्थान पर कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है, जैसे धूमादि। परन्तु जहाँ कार्य-कारण भूत दो धर्मों की, किसी विशेषता के कारण, भिन्न देश में अथवा एक साथ प्रतीति होती है, वहाँ उन दोनों की स्वभाव जन्य परस्पर संगति के त्याग देने से असंगति होती है।' उलटवाँसियों में लोक-व्यवहार सम्बन्धी असंगतियों का कथन है, जिनमें 'कारण कहीं और कार्य कहीं तथा अन्यत्र किये जाने योग्य कार्य को अन्यत्र किये जाने में, कार्य-कारण सम्बन्धी विरोधी प्रवृत्ति के रूप में असंगति अलंकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। देखिये—

---

१ —कबीर ग्रंथावली, पृ० १६

२. —सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड), पृ० ५२३

३. 'भिन्नदेशतयात्यन्त कार्यकारणभूतयोः।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः॥' —काव्यप्रकाशः, १०। सूत्र-१६१

उदाहरण-१—'गिगनि मंडल मे गाय वियाई कागद दही जमाया।
छाछि छांणि पिडता पीवीं सिधा मायण षाया॥'[1]

इस उदाहरण मे कार्य-कारणभूत दो धर्मों की भिन्न देश में एक साथ प्रतीति हो रही है। गाय के 'वियाने' का कोई-न-कोई स्थल होता है, शून्य या आकाश नही हो सकता, परन्तु यह 'गाय' आकाश-मण्डल मे वियाई है। फलतः कार्य रूप दही का जमाना भी आकाश मे ही होना था, परन्तु उसके स्थान पर 'कागद' पर दही जमाया गया है। उस आकाश मे वियाई हुई धेनु से प्राप्त मक्खन का 'पण्डित' लोग अपने कौशल से खाते थे। लेकिन उन्हे तो छाछि पीने को मिली और नवनीत का भोग सिद्धो ने लगाया। जहाँ कार्य-कारण भूत दो धर्मो की भिन्न देशतया एक साथ प्रतीति हो रही है। साथ ही गाय, कागद, पण्डित प्रयोगो मे उनकी स्वभावजन्य सगति छूट गई है, अत' असगति अलकार है। इसो प्रकार कुछ और उदाहरण हैं—

उदाहरण-२— 'आंगणि बेलि अकास फल, अणव्यावर का दूध।
ससा सींग की धूनहड़ी, रमैं बांझ का पूत॥'[2]

इसमे 'वेलि' की स्थिति 'आगणि' में वताई है, फल आकाश मे। अत कार्य-कारण भूत दो धर्मो की भिन्न देशतया और एक साथ प्रतीति हो रही है। अतः असगति अलकार है।

पलटू साहब— 'हींग लगाइस मात में भूल गई है नार॥
लहँगा पाछे जरै चूल्ह में पानी नावा।
हँसिया को है ब्याह गीत खुरपा के गावा॥
देय महावर आंख गोड़ मे काजर लावै।
ऐसी भोली नारि ताहि को को समझावै॥'[3]

यहाँ 'लहँगा पीछे जलने पर पानी भी पीछे ही पडना चाहिए था, जिसका विवाह हो उसी के गीत गाने चाहिए थे, इसी प्रकार महावर पैर मे और काजल आँख मे लगाया जाता है, परन्तु जहाँ लहँगा के पीछे जलने पर पानी चूल्हे मे डालने, हँसिया के ब्याह मे गीत खुरपा के गाने, महावर आँख और काजल गोड़ मे लगाने का कथन है। अत. किसी विशेष स्थान पर करणीय कार्य को वहाँ न करके दूसरे स्थान पर करने मे अथवा विरुद्ध कार्य करने के कारण असगति अलकार है।[4] उलटवाँसियो में असंगति अलकार की योजना के

---

१. —गोरख-बानी, ६८
२. —कबीर ग्रथावली, पृ० ८६
३ —पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० १०६
४. 'अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा।
अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा॥'—कुवलयानन्द., ३७।८६

सम्बन्ध में इतना कहा जा सकता है कि असगति प्रधान उलटवाँमियी-पदो मे दूर की सूझ, वर्णन क्षमता, अद्भुत तत्त्व का सन्निवेश है।

(६) विचित्र अलंकार—'अपने अभीप्ट की प्राप्ति केलिए, उसके विरुद्ध अनुष्ठान किये जाने पर, विचित्र अलंकार होता है।'[1] अथवा 'किसी फल की इच्छा से कोई प्रयत्न किया जाय, परन्तु फल की प्राप्ति इच्छा के विपरीत हो, वहाँ विचित्र अलकार होता है।'[2] उलटवाँमियो मे माघक की विचार-दशा अथवा जीव की भव-दशा के वर्णन मे विचित्र अलकार के उदाहरण मिलते है। देखिए—

उदाहरण-१— 'वैठि गुफा मे सव जग देख्या, वाहरि कछू न सूझै।
उलटे घनिक पारधी मारयो यहु अचरज कोइ बूझै॥'[3]

उदाहरण-२— 'पंछी उड़ा गयी ऊपर काँ, पानि पानि धुनि लाई।
पायो पानी बुन्द चोंचतें तिरपति प्यास न जाई॥'[4]

उदाहरण-३— 'खसम पर्यो जोरू के पीछे कह्यो न माने भोंडी रांड।
जित तित फिरै भटकती यो ही तै तो किये जगत में भांड॥
तो हू भूख न मागी तेरी तू गिलि वैठी सारी मांड।
सुन्दर कहै सीख सुनि मेरी अब तू घर-घर फिरबो छांड॥'[5]

उक्त उदाहरणो मे सव जग को देखने केलिए गुफा में वैठना, चोच से पानी पिये जाने पर भी तृप्ति न होना, जित तित फिरने तथा सारी माँड गिलि वैठने पर भी भूख न भागने मे विचित्र अलकार है।

(७) विशेपालंकार—'लोक प्रसिद्ध आधार के विना किसी आधेय की स्थिति, एक पदार्थ की एक ही रूप से अनेक जगह एक साथ उपस्थिति अन्य कार्य को करते हुए उसी प्रकार से किसी अशक्य अन्य वस्तु का उत्पादन रूप मे तीन प्रकार का 'विशेप' अलकार माना गया है।'[6] प्रसिद्ध आधार का परित्याग करके आधेय की विशेप प्रकार की स्थिति का वर्णन उलटवाँसी-पदो मे प्राय मिलता है। कुछ उदाहरण देखिए—

---

१. 'विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत्।' —साहित्यदर्पणः, १०।७२
२. विचित्र तत्प्रयत्नश्चेद्विपरीतः फलेच्छया।' —कुवलयानन्द', ४०।६४
३ —कवीर ग्रंथावली, पृ० १४२
४ —जगजीवन साहेव की शब्दावली (दूसरा भाग), पृ० ६७
५. —सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड), पृ० ५६३
६. 'विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेक गोचरा॥
अन्यत् प्रकुर्वत. कार्यमशक्यस्यान्य वस्तुनः।
तथैव कारण चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृत.॥' —काव्यप्रकाशः, १०। सूत्र २०३

उदाहरण-१— 'पुहुप माँहि पावक प्रजरै, पाप पुन दोऊ भ्रम टरै ।।
प्रगटी वास वासना धोइ कुल प्रगट्यो कुल घाल्यो खोइ ।।
उलटी गंग मेर कूँ चली, धरती उलटि अकासहि मिली ।।
दास कबीर तत ऐसा कहै, ससिहर उलटि राह कौं गहै ।।'[1]

उदाहरण-२— 'है कोई जगत गुरु ग्यांनी, उलटि बेद बूझै ।
पांणी मे अगनि जरै, अंधेरे को सूझै ।।'[2]

उदाहरण-३— 'इक कूप गगन के बीच यारी, जहँ सुरतिकी डोर लगावता है ।'[3]

'अग्नि' आधेय का मुख्याधार काष्ठ है और किसी न किसी सुवासित वस्तु से ही 'वास' की स्थिति सम्भव है। धरती का आधार पृथ्वी है और रूप की स्थिति प्रकाश मे ही सम्भव है। उक्त उदाहरणो मे अग्नि आधेय को पुहुप तथा पांणी मे, गगा की दिशा मेरू की ओर, धरती (अपना मुख्य गुण स्थिरता को छोड कर) आकाश की ओर बताई है और अधकार मे रूप की स्थिति बताई है तथा कूप आधेय का आधार स्थल न बता कर गगन बताया है। अतः इनमे पहले प्रकार का 'विशेष' अलकार है।

(८) अधिक अलंकार—'महान् आधेय और आधार के क्रम से आधार के आधेय से छोटे होने पर भी (वर्णनीय वस्तु के उत्कर्षबोधन केलिए) महान् दिखलाया जाय, तो वह 'अधिक' (अलकार) होता है।'[4] इस अलकार मे दो विरूप वस्तुएँ भी आधार आधेय सम्बन्ध से जुड़ी रहती है। जिन उलटवाँसी मूलक स्थानमे पिण्ड मे ब्रह्माण्ड, विन्दु मे सिन्धु सामने आदि के कथन है, वहाँ 'अधिक' अलकार के दर्शन होते है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

उदाहरण-१— 'चींटी केरा नेत्र मे गज्येंद्र समाइला ।
गावड़ी के मुल में बाघला बिवाइला ।।'[5]

उदाहरण-२— 'जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मलि न्हाइ ।
देवल बूढ़ा क्लस सूँ, पंषि तिसाई जाइ ।।'[6]

उदाहरण-३— 'बुंदहि माँहि समुद्र समानो राई माँहि समानो मेर ।
पानी माँहि तुंबिका बूड़ी पाहन तिरत न लागी वेर ।।'[7]

---

१. —कबीर ग्रथावली, पृ० २००
२ —कबीर ग्रथावली, पृ० १४१
३. —पलटू साहब की बानी (दूसरा भाग), पृ० २६
४ 'महतोर्यन्महीयासावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणी स्याता तनुत्वेऽप्यधिक तु तत् ।।'—काव्यप्रकाश., १०। सूत्र १९५
'अधिक पृथुलाधारादाधेयाधिक्य वर्णनम् ।' —कुवलयानन्दः, ४१।९५
५.— गोरख-वानी, पृ० १२९
६. —कबीर ग्र थावली, पृ० १७
७ —सुन्दर ग्र ंथावली (द्वितीय खण्ड), अग २२

इनमे चीटी का नेत्र, गावडी का मुख, सर, कलस, बुद, राई आदि को आधेय बना कर उनकी उत्कृष्टता के कारण गज्येन्द्र, वाघला, मैंगल, देवल, समुद्र, मेरु रूप आधारो का वर्णन है। यह वर्णन किसी न किसी प्रकार के उत्कर्षबोधन केलिए है, अतः 'अधिक' अलंकार है।

(ख) सादृश्यगर्भ अलंकार :

इस वर्ग के अलंकारो मे किसी-न-किसी प्रकार का सादृश्य रहता है। इस वर्ग के रूपक, अतिशयोक्ति, अपह्नुति, स्मरण निदर्शना, दृष्टान्त, असम्भव आदि अलकारो के उदाहरण उलटवाँसी-पदो मे मिलते हैं।

(१) रूपक—उपमान और उपमेय के अभेद को 'रूपक' कहते है।[1] उलटवाँसी-पदो मे आनुभूतिक-दशा की अभिव्यक्ति केलिए 'रूपक' का आश्रय लिया गया है। राहुल साकृत्यायन ने प्राय. सभी उलटवाँसियों को रूपक बताया है।[2] प्राय. सभी उलटवाँसियो मे, किसी-न-किसी प्रकार से रूपक तत्त्व का सहारा रहता है। पर, यह रूपक तत्त्व सर्वत्र अलकार 'रूपक' नही है, क्योकि उनमे वास्तव में 'प्रस्तुत' का निगरण नही रहता। उलटवाँसी प्रधान कुछ रूपको मे ही ऐसा देखने को मिलता है।[3] उदाहरण केलिए कबीर के निम्नलिखित पद मे रूपकत्व की योजना होते हुए भी 'रूपक' अलकार का शास्त्रीय कौशल देखने को नहीं मिलता। रूपकातिशयोक्ति के बल पर वर्णित प्रतीकाश्रित रूपक-बन्ध ही है। देखिए—

उदाहरण-१— 'हरि घारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिनि पाये।
ग्यान अचेत फिरै नर लोई, ताथैं जनमि जनमि डहकाये॥
धौल मंदलिया बैल रबाबी, कऊवा ताल बजावै।
पहरि चोलना गादह नाचै, भैंसा निरति करावै॥
स्यंघ बैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा लावै।
उंदरी बपुरी मंगल गावै, कछूएक आनन्द सुनावै॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, गडरी परवत खावा।
चकवा बैसि अंगारे निगलै, समद अकासां धावा॥'[4]

---

१ 'तद्रूपकमभेदोय उपमानोपमेययो।' —काव्यप्रकाशः, १०। सूत्र १३९

२. —कबीर की विचारधारा, पृ० ३५५ से उद्धृत

३. 'जितनी उलटवाँसियाँ हैं, उनमे साधारण तौर से विपरीत-भाव देखने पर भी योगशास्त्रीय परिभाषाओ का ही व्यवहार है। परन्तु यही बात रूपको के बारे मे ठीक नही ('रूपक' से यहाँ अलकार रूपक का विशिष्ट अर्थ न लेकर सामान्य अर्थ ही लेना चाहिए।) अधिकाश रूपकों मे प्रस्तुत अर्थ का निगरण सचमुच ही हुआ है।' (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी),—कबीर, पृ० ८५

४. —कबीर ग्रथावली, पृ० २०६,

परन्तु, उलटवाँसी-पदो ऐसे भी एकाधिक उदाहरण मिलते है, जिनमे 'रूपक' अलकार का प्रयोग भी मिल जाता है। जैसे –

उदाहरण-२— 'गोव्यदे तुम्हारै वन कंदलि मेरो मन अहेरा खेलै।
वपु वाड़ी अनगु मृग, रचिहीं रचि मेलै।। टेक।।
चित तरउवा पवन पेदा, सहज मूल बांधा।
घ्यांन धनक जोग करम, ग्यांन बांन सांधा।।'[1]

उक्त उदाहरण मे मृगया का साग रूप मे वर्णन है और सचमुच ही प्रस्तुत का निगरण हुआ है, अत. सागरूपक है। निम्न उदाहरण मे काया मे कोट का और गढ तथा मन मे मवास का अध्यवसान है, अत रूपक अलकार है।

उदाहरण-३— 'काया कोट छुड़ावै सोई है रजपूत।।
काया-गढ़ के बीच जाय के थाना करना।
मन है बडा मवास पकरि कै ठौरै मरना।।'[2]

(२) अतिशयोक्ति– अतिक्रान्त अथवा अतिशय उक्ति के रूप मे अतिशयोक्ति कथन उलटवाँसी शैली का अनिवार्य तत्त्व है। हिन्दी-साहित्य की उलटवाँसियाँ अतिशयोक्ति अलकार की शैली पर कही जाने पर भी काव्यशास्त्रीय ढग की अतिशयोक्ति अलंकार नही है।[3] परन्तु उलटवाँसी-पदो मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमे निगरण पूर्वक कार्य-कारण का व्यतिक्रम या 'पौर्वापर्य'[4] (यह व्यतिक्रम कवि-कौशल जन्य न होकर अयत्नज है।) पाया जाता है। 'जहाँ उपमेय का स्वशब्द से उपादान न किया जाय और उपमान के वाचक शब्द से बोध कराया जाय'[5] वहाँ 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार होता है। 'पहले

---

१. —कबीर ग्र थावली, पृ० १५६
२ —पलटू साहेब की वानी (प्रथम भाग), पृ० ४३
३ 'अतिशयोक्ति अलकार की शैली पर कहे जाने पर भी वे (उलटवाँसी) स्वय अतिशयोक्ति अलकार नही है। इनमे कुछ का तो तत्तत् शास्त्र मे सकेतार्थ निश्चित ही है। अर्थात् वहाँ उपमेयोपमान भाव की कल्पना ही नही की गई। उदाहरणार्थ जब इडा और पिंगला को गगा और यमुना कहा गया है तो प्रस्तुत गगा यमुना मे (उपमानो) अप्रस्तुत इडा-पिंगला के (उपमेय के) अर्थ का निगरण-पूर्वक अध्यवसान नही है, जबकि ऐसा होना ही अतिशयोक्ति अलकार का बीज है।' - कबीर, पृ० ७५
४ 'कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्यय·।
विज्ञेयाऽतिशयोक्ति सा।।' — काव्यप्रकाश, १०। सूत्र १५३
५ 'रूपकातिशयोक्ति स्यान्निगीर्याध्यवसानत·।' —कुवलयानन्द, १३।३६
तथा 'विपयस्य स्वशब्देनोल्लेखन विनापि विषयिवाचकेनैव शब्देन ग्रहण विपय निगरणातत्पूर्वक विपयस्य विपयिरूपतयाऽध्यवसानमाहर्य निश्चयस्तस्मिन्सति रूपकातिशयोक्तिः।' वही, श्लोक वृत्ति

पूत पीछें भई माइ'[1] जैसे कथनो मे कार्य-कारण के कालगत व्यतिक्रम से अतिशयोक्ति है ।[2] रूपकातिशयोक्ति के अनेक उदाहरण उलटवाँसी-पदो मे मिलते हैं ।[3] गोरखनाथ के एक उलटवाँसी मूलक पद मे कमली, पानी, पडरवा, खूटा, दमामा, ऊँट, कौआ, पीपल, भूसा, बिलाई, टुकरिया आदि प्रतीक-प्रयोग उपमान कोटि के हैं, क्योकि, इनके द्वारा उपमेय रूप मानसिक स्थिति की विभिन्न दशाओं का संकेत मिलता है ।[4] इसी प्रकार मलूकदास का निम्नपद उपमान रूप प्रतीको के द्वारा उपमेय रूप साधक की मनोदशा को अभिव्यक्त करने मे समर्थ है—

'नैया मेरी नीके चलने लागी ।
आंधी मेंह तनिक नहिं डोलै साहु घटे बड़भागी ।।
अवसर पड़े तो पर्वत बोझै, तहूं न होवै भारी ।
धन सतगुरु यह जुगत बताई, तिनको मैं बलिहारी ।।
कहत मलूक जो विन सिर लेवै, सो यह रूप बखानै ।
या नैया के अजब कथा, कोइ विरला केवट जानै ।।'[5]

(३) उल्लेख अलंकार—जहाँ एक ही वस्तु का अनेक व्यक्तियो के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया जाय, वहाँ उल्लेख अलंकार होता है ।[6] कबीर के निम्न पद मे उल्लेख अलंकार की काव्यशास्त्रीय सूक्ष्मता न होते हुए भी, एक 'नारी' का अनेक व्यक्तियो के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन है—

'सेजे रहू नैन नहीं देखौं, यहु दुख कासौं कहूं हो दयाल ।।
सासु की दुखी ससुर की प्यारी, जेठ के तरसि डरौं रे ।
नणद सहेली गरब गहेली, देवर कै विरह जरौं हो दयाल ।।'[7]

(४) स्मरण अलंकार—उस (पहले देखी हुई वस्तु) के समान (दूसरी वस्तु) को

---

१. —कबीर ग्रथावली, पृ० ९१

२. 'कार्य-कारण के कालगत व्यतिक्रम के प्रौढ़ोक्तिमय वर्णन मे पाँचवी (तथा छठी) अतिशयोक्ति होती है, कार्य-कारण के देशगत व्यतिक्रम के प्रौढोक्तिमय वर्णन में असंगति अलंकार होता है ।' (डॉ० भोलाशकर व्यास)
—कुवलयानन्दः (भूमिका), पृ० ९२

३. —कबीर ग्रंथावली, पृ० ९२,—पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ७४

४. —गोरख-बानी, पृ० १४१ (पद-४७)

५. —मलूकदास की बानी, पृ० ३ (शब्द-६)

६. 'क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित् ।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते ।।' —साहित्यदर्पणः, १०।३७

७ —कबीर ग्रथावली, पृ० १९९

देखकर (अथवा सुनकर) पूर्व के अनुभव के अनुसार वस्तु की स्मृति होना 'स्मरण' (अलकार) है।[1] उलटवाँसियो मे लौकिक सम्बन्धो के आधार पर, सदृश ज्ञान से आत्मा-परमात्मा के सम्बन्धो का निरूपण, किसी 'छपलोक' की स्मृति मे कथन 'स्मरण' अलकार की सीमा मे आ जाते है। भीखा साहब ने मेघों को देखकर, निरन्तर धधकने वाले आत्म-दर्शक 'शून्य' की स्मृति इन पक्तियो मे की है—

'यह तो बादर उठत चहूँ दिसि, दिवसहिं सूर छिपाई।
वह तो सुन्न निरंतर धुधकत, निज आतम दरसाई ॥'[2]

(५) निदर्शना अलंकार—'जहाँ वस्तु का असभव-सा अनुपद्यमान सम्बन्ध परि-कल्पित (उपमा मे पर्यवसित) होता है, वह 'निदर्शना' (अलकार) है।'[3] अर्थात् वस्तु में सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्ध की कल्पना करने अथवा वस्तुओ के सम्भव या असम्भव सम्बन्ध मे बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से निहित होने मे निदर्शना अलंकार होता है।[4] कबीर के निम्नलिखित उलटवाँसी-पद मे असभव सम्बन्ध कल्पित है—

एक अचम्भा ऐसा भया, करणीं थे कारण मिटि गया ॥
उलटी गग मेर कूँ चली, धरती उलट अकासहि मिली ॥
दास कबीर तत ऐसा कहै, ससिहर उलटि राह कौं गहै ॥'[5]

(६) असम्भव अलंकार—विरोध-मूलक अलकार है। अलकार-शास्त्र के प्राचीन लेखको ने इस अलकार को पृथक् न मानकर विरोध के अन्तर्गत माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रालोक' के लेखक पीयूषवर्षी जयदेव ने इसका उल्लेख सर्वप्रथम किया है। उनके अनुसार लक्षण—'असम्भवोऽर्थनिष्पत्तेर सम्भाव्यत्ववर्णनम्।' (चन्द्रालोक, ५।७६) अर्थात् 'कार्यसिद्धि को (चमत्कार रूप से) असम्भव बताना।'[6] 'जहाँ किसी पदार्थ-विशेष (कार्य विशेष) की उत्पत्ति के विषय मे असंभाव्यत्व का वर्णन किया जाय, वहाँ 'असम्भव' अलकार होता है।'[7]

---

१. 'यथाऽनुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृति.। स्मरणम्।' —काव्यप्रकाश, १०।१९९
२. —भीखा साहिब की बानी, पृ० ३२
३ 'निदर्शना। अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक·।'
—काव्यप्रकाश., १०। सूत्र-१४९
४. 'सभवन्वस्तु सबन्धोऽसभवन्वापि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्व बोधयेत् सा निदर्शना ॥' —साहित्यदर्पण, १०।५१
५ —कबीर ग्रथावली, पृ० २००
६ —हिन्दी साहित्य-कोश (प्रथम भाग), पृ० ७९
७. 'असम्भवोऽर्थनिष्पत्तेरसम्भाव्यत्व वर्णनम्।
को वेद गोप शिशुकः शैलमुत्पाटयेदिति ॥' —कुवलयानन्दः, ३६।८

उलटबाँसी-पदों का अभिधा रूप असम्भव अलंकार की सीमा में आता है। निम्न उदाहरणों मे सिंह के द्वारा गाय के चराये जाने मे तथा मछली के द्वारा तरुवर पर प्रसूति-कर्म करने, मुर्गे के द्वारा बिल्ली को पकड़कर खाने, गंगा के पीछे वहने, मछली के पर्वत पर चढ़ने, नीर मे अग्नि छिपाने के वर्णन मे असम्भवत्व विद्यमान है—

'एक अचंमा देखा रे माई, ठाढ़ा सिंह चरावै गाई ।।
जल की मछरी तरवर ब्याई, पकड़ बिलाई मुरगै खाई ।।'[1]

'गंगा पाछे को वही मछरी चढ़ी पहार ।।
मछली चढ़ी पहार चूल्ह में फन्दा लाया ।।
पुखरा भींटे बाँधि नीर में आग छिपाया ।।'[2]

(७) अप्रस्तुत प्रशंसा और समासोक्ति—'इन दोनो ही अलंकारों मे एक अर्थ वर्णित रहता है जो दूसरे का आक्षेप कराता है। परन्तु अप्रस्तुत प्रशंसा मे अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप होता है और समासोक्ति मे प्राकरणिक से अप्राकरणिक अर्थ का आक्षेप होता है।'[3] हिन्दी-साहित्य की सभी उलटबाँसियों मे प्रायः अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक भावनात्मक अर्थ द्योतित रहता है। उलटबाँसी-पदों मे 'समासोक्ति' अलकार की सीमा प्रविष्ट नहीं हो पाती, क्योंकि अभिधात्मक अर्थ अपना कुछ महत्त्व नहीं रखता। प्रतीकात्मक अभिधा से प्रयोक्ता का मन्तव्य समझने में संकेत अवश्य मिलते हैं। अप्रस्तुतप्रशंसा केलिए निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'सतानि एक अहेरा लाधा, मिर्गनि खेत सबनि का खाधा ।।
या जंगल में पांचों मृगा, एई खेत सबनि का चरिगा ।।
कहै कबीर जो पंचों मारै, आप तिरै और कूं तारै ।।'[4]

'फूहरि धोवै दाग छुटै ना और बढ़ावै ।
ज्यों ज्यों मलै धनाय सारे लहँगा फैलावै ।।
गाफिल मे गइ सोय खसम को दोष लगावै ।
ऐसी फूहरि नारि आपको नाहिं बचावै ।।
धोबी को नहिं देइ घरहिं मे आप छुड़ावै ।
इक बेर दिहिसि निखारि लाज से नाहिं दिखावै ।।
पलटू परदा खोलि आपनो घर घर रोवै ।
लहँगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै ।।'[5]

---

१ —कबीर ग्रंथावली, पृ० ९२
२. —पलटू साहेब की बानी (भाग १), पृ० ७४
३. (आचार्य विश्वेश्वर) —काव्यप्रकाशः, पृ० ४८२
४. —कबीर ग्रंथावली, पृ० २०६
५. —पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ८०

इनमे अहेरा, मृग, खेत, पाँच मृग, फूहरि नारि, दाग, लहँगा, खसम, धोबी, पर्दा, साबुन आदि प्रयोग अप्रस्तुत है, जिनके पीछे साधनात्मक अथवा विशेष वैचारिक दशा का कथन है। प्रयोक्ता सन्तो का उद्देश्य उक्त अप्रस्तुत प्रयोगो द्वारा उसी आनुभूतिक अवस्था का वर्णन करना प्रमुख है।

(ग) गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक अलंकार—उलटवाँसी-पदो मे 'सूक्ष्म' और 'वक्रोक्ति' के उदाहरण भी है। उलटवाँसी शैली का स्वभाव सूक्ष्म, तथा गूढोक्ति अलकारो जैसा ही है, परन्तु जो कौशल इन अलकारो के लिए चाहिए वह उलटवाँसी-पदो मे देखने को नही मिलता। 'वक्रोक्ति' मे अभिधा वाक्य के श्लेष या काकु के द्वारा दूसरा अर्थ लगा लिया जाता है।[1] उलटवाँसी-पदो मे, प्रयोक्ता का काव्य-कौशल के अभाव में, श्लेष का चमत्कार तो देखने को नही मिलता, परन्तु गोपन की प्रवृत्ति होने के कारण श्रोता या पाठक, काकु के बल पर अर्थान्तर की कल्पना करने के लिए स्वतन्त्र रहता है। उलटवाँसियो मे 'वक्रोक्ति' का पर्याप्त सहारा रहता है। देखिये—

'बस्ती माहिं चमार की बाम्हन करत बेगार ॥टेक॥
बाम्हन करत बेगार लोग सब गैर-बिचारी।
मूरख है परधान देहि ज्ञानी को गारि ॥'[2]

उलटवाँसियों में रस :

रस की पृष्ठभूमि और उलटवाँसी शैली की मूलानुभूति—'वाक्यरसात्मक काव्यम्' के अनुसार वाक्य का रसात्मक होना ही काव्य की कसौटी है। काव्य-रचना में कवि का मुख्य अभिधेय कोई एक रस रहता है, अन्य रस उसी के पोषक या सहायक होकर आते हैं। इस मुख्य रस के परिपाक केलिए प्रबन्ध-काव्य मे अधिक अवसर मिलते हैं। मुक्तक-काव्य मे इस विशेष रस की अखण्डता का निर्वाह कठिन होता है। सन्तो की वाणी विभिन्न भाव-विचार-दशाओ की अभिव्यक्ति है, जिसमे प्रबन्धात्मकता का निर्वाह नही है, परन्तु, उस वाणी की मूल प्रेरणा वैराग्यवृत्ति है, जो 'शम' स्थायी-भाव की अवस्था मे भक्ति या 'शान्त रस' मे परिसमाप्त होती है।[3] उनकी वाणी मे सत्यानुभूति या भावा-

---

१ 'अन्यस्यान्यार्थक वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥' —साहित्यदर्पण, १०।९

२ —पलटू साहेब की बानी (पहलाम ाग), पृ० १०३

३. 'शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।
कुन्देन्दु सुन्दरच्छाय. श्रीनारायण दैवत. ॥
अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनि सारता तु या।
परमात्म स्वरूप वा तस्यालम्वनमिष्यते ॥
पुण्याश्रम हरिक्षेत्र तीर्थ रम्य वनादयः।
निर्वेदहर्षस्मरणमति भूतदयादय· ॥
निरहकार रूपत्वाद्दयावीरादिरेषु नो ॥'
—साहित्यदर्पण ', ३।२४५, ४६, ४७, ४९

नुभूति प्रखर रहती है। निवृत्ति-मार्गी होने के कारण अनेक प्रकार के भावानुभाव अथवा रस उसी मूल भावना की पुष्टि करते दिखाई देते है।[1] वे वैराग्य की पुष्टि होने पर अनुराग-भावना से उस पथ पर अग्रसर होते है। इस प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति, अप्रस्तुत के द्वारा, शृ गारादि के रूप मे दिखाई है। इस प्रकार विराग-अनुराग की मूल प्रेरणा से सन्तों की वाणी का शृ गार हुआ।

उलटवाँसियाँ नाथ-सन्तो की वाणी का एक अग है। मुक्तक प्रकृति वाली इन उलटवाँसियो में साधनात्मक अथवा वैचारिक अवस्था की अभिव्यक्ति, किसी-न-किसी प्रकार की विरोधगर्भित असम्बद्धता तथा प्रतीक-सकेतो के माध्यम से हुई है। प्रयोक्ता का मन्तव्य अथवा 'विषय' प्रतीक-सकेतो के अन्तराल मे निगूढ रहता है। जैसे ही उस अर्थ की प्रतीति पाठक या श्रोता को होती हैं, वह उद्‌वुद्ध निर्वेद या 'शम' के द्वारा शान्तरस की प्रतीति करने लगता है। परन्तु उस अनुभूति तक पहुँचने मे पाठक या श्रोता केलिए विषय के प्रति रुझाव, परम्परा का ज्ञान एवं विशेष बुद्धि-वृत्ति की अपेक्षा बनी रहती है। विचित्र प्रकार के शिल्प, रूप के रहने तथा अर्थ के निगूढ़ होने के कारण किसी भी रचना को हेय अथवा निकृष्ट नही कहा जा सकता, क्योंकि 'कवि तो कविता करता है, उसके रस को पण्डितजन समझ पाते हैं' ('कविः करोति काव्यानि रस जानन्ति पण्डिता।') ऐसी रचना को समझने एव रस-ग्रहण करने केलिए अधिकारी पाठक या श्रोता का होना भी अपेक्षित है।[2]

'विरह' को उलटवाँसी-रचना के सृजन का मूल साहित्यिक कारण कहा जा सकता है। उलटवाँसियां मे किसी न किसी प्रकार की विरह-दशा अथवा विरह-दशा का परिणाम वर्णित रहता है। यह 'विरह' भाव-विरह अथवा विचार या ज्ञान-विरह, रूप मे दो प्रकार का हो सकता है। विचार-विरह की अवस्था मे प्रयोक्ता साधक को ससार के कार्य-कलाप विरुद्धधर्मा दिखाई देने लगते हैं। इस अवस्था में विधि-विरोध अथवा प्रकृति-

---

१. 'सन्तों के काव्य मे जो रस हम प्रधान रूप से पाते हैं वह 'भक्ति रस' है। इस में ससार के सुखों के प्रति उदासीनता और परमात्मा की भक्ति मे तल्लीनता रहती है। जहाँ तक ससार के प्रति विराग की भावना है, वहाँ पर हमें सांसारिक दुःख के साथ-साथ रोग आदि का वीभत्स चित्रण भी मिलता है। अतः वैराग्य-भावना प्रधान शांत रस के साथ-साथ वीभत्स के भी दर्शन होते हैं।·· ··जहाँ माया की क्रूरता प्रदर्शित है हमे भयानक का आभास मिलता है।····· इन सब प्रवाहो और धाराओ के बीच जिनमे कि वीभत्स, करुण, भयानक आदि सहायक धाराएं तथा प्रवाह सम्मिलित हैं, शांत रस का अविरल, धीमा और शाश्वत प्रवाह है।'

—निरजनी सम्प्रदाय और सत तुरसीदास निरजनी, पृ० ९३-९५

२. 'अर्थ की अस्पष्टता अथवा जटिलता विषय के स्वरूप और उसके अधिकारी पाठक की ग्रहण-शक्ति पर आश्रित है। बाण के 'हर्ष-चरित', सुबन्धु की

विरोध के उलटवाँसी मूलक असम्बद्ध कथनो की सृष्टि होती है।[1] भाव-विरह मे, भावुक साधक पारिवारिक रूपकतत्त्व को लेकर, विरोधगर्भित उलटवाँसी मूलक कथनो की अभिव्यक्ति करता है, क्योकि सासारिक सुख-भोग उसे सुखद न होकर दाहक प्रतीत होते है। उलटवाँसी-पदो मे उक्त दोनो दशाओ के उदाहरण मिलते है। उदाहरण केलिए गोरखनाथ का निम्न उलटवाँसी-पद विचार या ज्ञान-विरह की अवस्था का द्योतक है देखिए—

'नाथ बोलै अमृत बांणीं, वरषैगी कंवली भींजैगा पांणीं ।।टेक।।
ऊजड़ षेड़ा नगर मझारी, तलि गागरि ऊपर पनिहारी ।।
मगरी परि चूल्हा धूंधाइ, पोवणहारा कौं रोटी खाइ ।।
कांमिनि जलै अगीठी तापै, बिचि वैसंदर थरहर कांपै ।।
एक जु रढिया रढती आई, बहू बिवाई सासू जाई ।।
नगरी को पांणीं कूई आवै, उलटी चरचा गोरष गावै ।।'[2]

निम्न उलटवाँसी-पद मे विरहिणी जीवात्मा की भाव-दशा की अभिव्यक्ति हुई है—

'बिरहिनी मंदिर दियना बार ।।टेक।।
बिन बाती बिन तेल जुगति सों, बिन दीपक उँजियार ।।
प्रान पिया मेरे गृह आयो, रचि पचि सेज सँवार ।।
सुखमन सेज परम तत रहिया, पिय निर्गुन निरकर ।।
गावहु री मिलि आनँद मङ्गल, यारी मिलि के यार ।।'[3]

'विरह' मूलक जितने उलटवाँसी-पद नाथ-सन्तो की वाणी मे मिलते है, अर्थोद्-बोधन होने पर उनका पर्यवसान शान्त रस मे होता है। परन्तु उलटवाँसियो के वाच्य

'वासवदत्ता' श्रीहर्ष का 'नैपधचरित', रामानुज का 'कूट सन्दोह' आदि ऐसी रचनाएँ है, जिन्हे समझने के लिए पाठको मे प्रचुर ज्ञान और कुशाग्र बुद्धि की परमापेक्षा है।' —कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० २०

१. 'ज्ञान-विरह मे ज्ञानी को ससार के कार्य विपरीत जान पड़ते है। यथार्थ मे अपने समीपस्थ वातावरण की प्रतिकूलता मे आत्मा की आकुलता ही विरह है। प्रेम-विरह मे ससार के व्यापार व सुख उसे जलाते है और एक परमात्मा का सम्पर्क ही शाति देने वाला होता है, किन्तु ज्ञान-विरह मे ज्ञानी को माया-लिप्त ससार मे सब व्यापार उलटे ढग पर ही होते दीखते है और सत्य के आधार पर आत्मा की रक्षा होती है। इसी ज्ञान-विरह की अवस्था मे ही 'उलटवाँसी' की तरह के कथन प्रसूत होते है।'
—निरजनी सम्प्रदाय और सत तुरसीदास निरजनी, पृ० ३६

२. —गोरख-बानी, पृ० १४१-४२

३ —यारी साहब की रत्नावली, पृ० १

रूप मे विस्मय, रति, हास, भयादि स्थायी भावो के उद्बुद्ध होने तथा विभिन्न आलम्बन, उद्दीपन, अनुभव, सचारी आदि भावो के द्वारा परिपुष्ट होने से तत्तत् रसो की प्रतीति होती है । अथवा उद्बुद्ध स्थायी भावो की दशा की स्थिति या सचारी भावो के सफल वर्णन मे 'भावो' की बहुविधि अभिव्यक्ति देखने को मिलती है ।[1]

उलटवाँसी-पदों में कुछ रसों की काव्यशास्त्रीय प्रक्रिया :

उलटवाँसियो के प्रसग में विभिन्न रसो तथा भावो की स्थिति पृथक्-पृथक् देखी जा सकती है ।

(१) **अद्भुत रस**—भानुदत्त के अनुसार 'विस्मय की सम्यक् समृद्धि अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियो की तटस्थता होना' अद्भुत रस है ।'[2] अर्थात् जब किसी रचना मे विस्मय-स्थायीभाव इस प्रकार प्रस्फुटित हो कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उससे प्रभावित होकर, उससे निश्चेष्ट हो जायें, वहाँ अद्भुत रस होता है । इसलिए उन्होने इस रस के प्रसग मे अत्युक्ति, चित्रोक्ति, विरोधाभास आदि को उसकी सीमा के अन्तर्गत माना है । उलटवाँसी-पदो मे वर्णित प्रसगो और पदार्थों मे 'विस्मय' स्थायीभाव उद्बुद्ध होकर चित्त-विस्तार मे सहायक होता है । इस चित्त के विस्तार में सभी रसो के साररूप 'चमत्कार' का मुख्य' हाथ रहता है । अत. नारायण पण्डित की मान्यता प्रस्तुत करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने अद्भुत रस की व्यापकता बताई है ।[3]

---

१ टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने देवादि विषयक रति आदि का वर्णन और व्यभिचारी भावो की स्वतन्त्र अभिव्यंजना को 'भाव' कहा है । ('रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाऽञ्जित. । भाव. प्रोक्त: ।' 'काव्यप्रकाश:', ४।३५) इसी बात को आचार्य विश्वनाथ ने और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जब संचारियो का वर्णन किसी स्थायी का सहायक न होकर स्वतन्त्र तथा प्रधान होता है तब देवादि विषयक रति एव उद्बुद्ध मात्र स्थायी भाव का वर्णन 'भाव' कहलाता है । 'भाव' की स्थिति रस से पूर्व होती है, परन्तु भाव से रहित रस एवं रस से विवर्जित भावो की स्थिति नही हो पाती । देखिए—

'सञ्चारिण: प्रधानानि देवादि विषया रति. ।
उद्बुद्धमात्र: स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥' —साहित्यदर्पण:, ३।२६०
'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रस वर्जित: ।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रस भावयो: ॥' —साहित्यदर्पण:, (वृत्ति)

२. 'विस्मयस्य सम्यकसमृद्धिरद्भुत: सर्वेन्द्रियाणा ताटस्थ्य वा ।' —रस तरंगिणी,

३. चमत्कारश्चित्त विस्ताररूपो विस्मयापर पर्याय: । तदाह धर्मदत्त. स्वग्रन्थे-
रसे सारश्चमत्कार: सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रस. ॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥' —साहित्यदर्पण., ३।३ (वृत्ति)

काव्य शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार अलौकिकता से युक्त वाक्य, कर्म, शील एव रूप अद्भुत रस के आलम्बन विभाव है, अलौकिक गुणो का वर्णन उद्दीपन विभाव, गद्गद् वचन, नेत्र विस्फारित करना, उत्कण्ठित होना आदि अनुभाव। वितर्क, आवेग, हर्ष, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव है और विस्मय स्थायीभाव है।[1] उलटवाँसियो की अटपटी शैली, जिसमे ज्ञान-विरह की अवस्था मे ससार की विचित्र स्थिति अथवा माया-जन्य दशा को तथा भाव-विरहमूलक उलटवाँसी-पदों में अलौकिक सम्बन्धो को प्रश्रय देने वाले असम्बद्ध कथन विस्मय स्थायीभाव को उद्बुद्ध करके रस-दशा की ओर ले जाते है। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने अद्भुत तत्त्व के बल पर कबीर की उलटवाँसियो को चमत्कार-पूर्ण बताया है।[2] डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर के 'ऐसा अद्भुत मेरा गुर कथ्या मैं रह्या उमेषें' पद को अद्भुत रस प्रधान बनाया है।[3] उक्त कथन कबीर की उलटवाँसियो के सम्बन्ध मे ही चरितार्थ नही होते, प्रत्युत हिन्दी-साहित्य की सम्पूर्ण उलटवाँसियो के विषय मे सत्य कहे जा सकते है। सभी मे विस्मय तत्त्व की प्रधानता है, जो कही तो उद्बुद्ध स्थायीभाव के रूप मे 'भाव' की सीमा में ही परिसमाप्त होना दिखाई देता है और कही आलम्बन उद्दीपन, अनुभाव आदि के द्वारा परिपुष्ट होता हुआ रस-दशा को प्राप्त होता है। रस-दशा को प्राप्त दो उलटवाँसी-पदो की रसत्व सम्बन्धी विवेचना यहाँ द्रष्टव्य है—

उदाहरण-१— 'हमें एक अचरज जानि पड़ै ।।टेक।।
जल भीतर इक वृच्छा उपजै, ता में अगिन जरै।
ठाढ़ी साखा पवन झकोरै, दीपक जोति बरै ।।
माथे पर तिरबेनी बहत है, चढ़ि ऊपर असनान करै।
लरजै गरजै दामिनि दमकै, कामिनि कलँस भरै ।।
मट्टी का गढ कोट बना है, जामें, फौज लड़ै।
धरमदास या पद को गावै, फिर कबहूँ न टरै ।।'[4]

उदाहरण-२— 'भूल गई है नार आन कै आनै कीन्हा।
कातिस मोटा सूत कातन को चाही झीना ।।
लहँगा पाछे जरै चूल्ह में पानी नावा।
हँसिया को है ब्याह गीत खुरपा के गावा ।।

१. 'अद्भुतो विस्मयस्थायि भावो गन्धर्वदैवत.।
पीतवर्णो वस्तु, लोकातिगमालम्बन मतम् ।।
गुणाना तस्य महिमा भवेदुद्दीपन पुनः।
स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमाञ्चगद्गदस्वरसभ्रमा. ।।
तथा नेत्र विकासाद्या अनुभावा. प्रकीर्तिताः।
वितर्कावेगसभ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः ।।' —साहित्यदर्पणः, ३।२४२-४४

२. —कबीर ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ६२

३ —कबीर की विचारधारा, पृ० ३५५

४. —धनी धरमदास की शब्दावली, पृ० ३१

वेय महावर आँख गोड़ में काजर लावै ।
ऐसी भोली नारि ताहि कौं को समुझावै ॥
पलटू वाहि अबूझ है अंत खायेगी मार ।
हींग लगाइस भात में भूल गई है नार ॥'[1]

प्रथम उदाहरण मे 'अचरज' पद के प्रयोग में स्वशब्दवाच्यता दोष मान लेने पर भी वक्ता का 'अचरज' विस्मय स्थायीभाव को पुष्ट करता है। यहाँ विचित्र परिस्थिति में जलने वाली दीप-ज्योति आलम्बन; दामिनि का दमकना, पवन के झकोरे लेना आदि उद्दीपन विभाव; अचरज की प्रतीति से नेत्र विस्फारित होना अनुभाव तथा स्मृति, आवेग आदि सचारी भाव है। इन सबसे परिपुष्ट अद्भुत रस की प्रतीति होती है। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण मे 'नारि' आलम्बन; उसके असम्वद्ध कृत्य उद्दीपन; विस्मय-जनित कौतूहल अथवा ऐसी भोली नारि को देखकर अवाक् चित्त रह जाना अनुभव तथा अनुमिति, आवेग आदि व्यभिचारी भावो से पुष्ट विस्मय स्थायी-भाव रस-दशा को प्राप्त है। एक अन्य उदाहरण और प्रस्तुत है, जिसमे 'विस्मय' स्थायी भाव उद्‌बुद्ध मात्र है, विभावादिको से पुष्ट होकर रस की प्रतीति कराने में असमर्थ है। अतः इसमें 'भाव' की स्थिति ही है। देखिए—

उदाहरण-१— 'सिंघ पौलि के पार झार नित उठि उठि आवै ।
जहाँ उरधमुख कूप धूप बिन रवि दरसावै ॥
सुरति सिरोमन सील लील गिरि परै निसानी ।
अरे हाँरे तुलसी, तहँ नित उठै अवाज साज की सुरति समानी ॥'[2]

(२) श्रृंगाररस—जिन उलटवाँसी मूलक पदों मे दाम्पत्य सम्बन्ध के आधार पर आत्मा-परमात्मा की भावना का कथन रहता है वहाँ कई स्थलों पर श्रृंगार रस की प्रतीति होती है। जिन उलटवाँसी-पदो में विरहिणी जीवात्मा अपने परिवेश में अतृप्त रहकर एकाकीपन का अनुभव करती हुई, परमप्रिय से मिलने केलिए उतावली दिखाई देती है, उनमें वियोग श्रृंगार तथा जिन में वह प्रिय के विचित्र देश मे परम सुख का अनुभव अथवा प्रिय के नैकट्य की अनुभूति करती है अथवा ऐसी सुखद अवस्था का वर्णन मिलता है वहाँ संयोग श्रृंगार की प्रतीति होती है। उदाहरण केलिए संयोग-श्रृंगार का उलटवाँसी मूलक पद प्रस्तुत है—

उदाहरण-१— 'ऐसे सांई की मैं बलिहरियाँ री ।
ए सखि संग रंग रस मातिउँ, वेखि रहिउँ अनुहरियाँ री ॥
गगन भवन मां मगन भइउँ मैं, बिनुदीपक उजियरियाँ री ।
झलकि चमकि तहँ रूप बिराजै, मिटिगै सकल अँधेरियाँ री ॥

---

१ —पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० १०६
२. —तुलसी साहेब की शब्दावली (भाग १), पृ० ३०

काहु कहौं कहिबे की नाहीं, लागि जाहि मन महियाँ री ।
जगजीवन वह जोती निरमल, मोती हीरा वारियाँ री ।।'[1]

उक्त उलटवाँसी-पद मे जीवात्मा की जिस भाव-दशा का वर्णन किया गया है, उसमें सयोग शृ गार की प्रतीति होरही है । जीवात्मा स्वय आलम्बन है, प्रियतम का रूप अनुहार उद्दीपन, बलिहारी जाने की प्रेरणा, भाव-विभोर आदि अनुभाव, हर्ष, औत्सुक्य, आवेग आदि सचारी भावो से पुष्ट रति स्थायीभाव रस-दशा को प्राप्त है । इसी प्रकार 'प्यारे कत से मिलि खेलो विमल वसंत'[2] वाले पद मे वियोग-शृ गार की अनुभूति होती है । कही-कही 'रति' स्थायीभाव उद्‌बुद्ध होकर रस-दशा को प्राप्त नही हो पाया है, ऐसी उद्‌बुद्ध भाव-दशा के अनेक वर्णन उलटवाँसी-पदो मे मिलते है । देखिए—

'पतिव्रता पति मिली है लाग, जहँ गगन मंडल में परम भाग ।
जहँ जल बिन कँवला बहु अनंत, जहँ बिन भौंरा गोहु करत ।।
बिन रसनागुन उचत नार, पाँघ बिन पातर निरतकार ।
जहँ जलबिन सरवर भरा पूर, जहँ अनंत जोत बिन चन्द सूर ।।'[3]

इसमे आलम्बन रूप मे पतिव्रता के रहने तथा सम्यक् रूप से उद्दीपक सामग्री के विद्यमान रहने पर भी अनुभाव, सचारी आदि के अभाव मे रति स्थायी-भाव रस-दशा को नही पहुँच पाया है । अत. यह रति 'भाव' मात्र है । इसी प्रकार निम्नलिखित उदाहरण मे औत्सुक्य अथवा संचारी भाव की स्थिति 'भाव' रूप मे ही वर्णित है—

'हमरा बियाह करो मोरे बावा, तुमसो नाहिं निबाह हो ।
जिन के नाहि रूप और रेखा, उन से हमरो बियाह हो ।।
आवैं न जाय मरैं ना जीयै, सो वर खोजो जाई हो ।
बूढ़ न बार तरुन नहिं चेलिक, वा को तिलक लगाई हो ।।
गगन मंविल वह गढ़ मोरे बावा, अरध उरध के बीच हो ।
पवन बराती ब्याहन आये, मान करो सनमान हो ।।'[4]

(३) हास्यरस—यद्यपि अद्‌भुत और हास्य दोनो रसो मे विपरीत कथन या भाव देखने को मिलता है, परन्तु यत्किंचित कारण ज्ञात रहने से 'हास्य' मे यह वैपरीत्य सामान्य ही रहता है । उलटवाँसी-पदो मे यद्यपि अर्थोद्‌बोधन तक, हास्य का निर्वाह नही हो पाता,

१ —जगजीवन साहेब की शब्दावली (दूसरा भाग), पृ० १०६
२ —धनी धरमदास जी की शब्दावली, पृ० ५५
३ —दरियासाहब (मारवाड वाले की) बानी, पृ० ३७-३८
४ —धनी धरमदास जी की शब्दावली, पृ० ४६-४७

परन्तु उलटवाँसी शैली के रूपक तत्त्व प्रधान विरोध गर्भित असम्बद्ध कथनों मे हास्य की सम्यक् परिस्थिति देखने को मिलती है। देखिए—

उदाहरण-१—'चली जात देखी एक नारी, तर गागरि ऊपर पनिहारी।
चली जात वह बाट ही बाटा, सोवनिहार के ऊपर खाटा॥
जाड़न मरै सपेदी सौरी, खसम न चीन्हे घरणि भई बौरी।
सांझ सकार ज्योति लै बारै, खसम छाँड़ि संवरै लगवारै॥
वाही के रस निसुदिन राची, पिय सों बात कहै नहिं साँची।
सोवत छाड़ि चली पिय अपना, ई दुख अब धौं कहव कैसना॥'[1]

इसमे नारी आलम्बन, उसका विचित्र रूप और कृत्य उद्दीपन, कौतूहल जनित नेत्र विस्फार अनुभाव, आवेग, औत्सुक्य, हर्ष आदि संचारियों से पुष्ट 'हास' स्थायीभाव रस-दशा को प्राप्त है। एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमे लोक-व्यवहार से विपरीत कथन तथा 'दुलहिन' के विधि-विरोधी कार्यों में 'हास' स्थायी-भाव उद्बुद्ध होते हुए भी, रसप्रक्रिया की सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान न होने के कारण, हास-'भाव' की प्रतीति हो पाती है।

उदाहरण-२— 'देखा अचरज माई रे, कहूँ कहा न जाई ॥टेक॥
धी घर व्याह बाप ने कीन्हा, माता पुत्र वियाही।
नउवा नैन सैन सकुचाने, व्याह बराती आई रे॥
दुलहा मुवा भई अहवाती, चौकै रांड कहाई।
चली बरात व्याह धन दुलहिन, अचल सुहाग सुहाई रे॥
धरती घुमर गरज जल बरषा, बादर भींज बहाई।
तुलसी चन्द्र चले पानी में, मछरी अकास अन्हाई रे॥'[2]

उलटवाँसियों में शब्द की अभिव्यंजना-शक्ति :

शब्द-शक्ति कथन के अन्तर्निहित अर्थ को व्यक्त करने का एक व्यापार है। कारण रूप शब्द, कार्य रूप अर्थ अथवा प्रयोक्ता के मन्तव्य को व्यजित करने मे सहायक होता है। आचार्य मम्मट ने शब्द की इस क्रिया को 'व्यापार' कहा है[3] और आचार्य विश्वनाथ ने 'शक्ति'।[4] इस व्यापार या शक्ति के द्वारा ही अर्थ अथवा प्रयोक्ता के मन्तव्य तक पहुँचा जाता है। उलटवाँसी-पद सन्तों की वाणी का एक अंग ही है। उलटवाँसी-पदो मे प्रयुक्त प्रतीक अथवा पारिभाषिक शब्दों मे निहित प्रयोक्ता का मन्तव्य समझने केलिए उक्त

१—कबीर बीजक, पृ० ७९
२.—तुलसी साहेब की शब्दावली (पहला भाग), पृ० १३६
३. 'स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।' —काव्यप्रकाशः, २। सूत्र-११
४. 'वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः॥'
—साहित्यदर्पणः, २-३

व्यापार अथवा शक्ति का सहारा लेना स्वाभाविक है। पर, लक्षणा-व्यजनादि शब्द-शक्तियों के प्रयोग मे प्रयोक्ता के जिस सूक्ष्म-कौशल अथवा साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी विदग्धता की अपेक्षा रहती है, वह उलटवाँसी-पदो मे देखने को नही मिलती।

उलटवाँसी-पदों में अभिधा-शक्ति—वक्रोक्ति जीवितकार ने शब्द के तीन (अभिधा-लक्षणा, व्यजना) व्यापारो को अभिधा का ही कार्य माना है। उनके अनुसार वर्म, चर्म, मर्म छेदन पूर्वक प्राण हरण एक ही 'इपु-व्यापार' का परिणाम है। विवक्षित अर्थ का बोधक केवल शब्द ही होता है।[1] उलटवाँसी-पदो मे प्रतीक एव पारिभाषिक शब्दो की विचित्र योजना के द्वारा प्रयोक्ता सन्त जीव-जगत् की किसी विशेष अवस्था का कथन करते है। ऐसे कथनो मे शब्द की अभिधा किसी विशेष दशा की ओर सकेत करती है। इस प्रकार का संकेत कर देना ही प्रयुक्त प्रतीक-शब्दो का मुख्य कार्य है। उनके पीछे निहित अर्थ को उलटवाँसी शैली की 'अभिधा' नही सँभाल पाती।[2] इसप्रकार की विचित्र अभिधा का तत्सम्बन्धी अर्थ-ग्रहण, परम्परा के अवलोकन, प्रतीक-साम्य तथा अर्थ-कर्त्ता की बौद्धिक कुशलता की अपेक्षा रखता है, क्योकि उलटवाँसियो की अभिधा रूप मे असम्बद्ध-योजना, प्रयोक्ता का मुख्य उद्देश्य नही होती। ऐसी योजना श्रोता की वृत्ति को केन्द्रित करने अथवा शैली के आग्रह के कारण रहती है। अभिधा रूप मे साकेतिक प्रतीको का अर्थ-ग्रहण श्रोता अथवा पाठक की ग्रहणश-शक्ति पर बहुत कुछ निर्भर करता है।

उलटवाँसी-पदो में लक्षणा की सीमा—लक्षणा-व्यापार केलिए एक विशेष क्रम अपेक्षित रहता है। आचार्य मम्मट के अनुसार 'मुख्यार्थ का बाध (अर्थात् अन्वय या तात्पर्य की अनुपपत्ति) होने पर, उस (मुख्यार्थ) के साथ (लक्ष्मार्थ या अन्य अर्थ का) सम्बन्ध होने पर, रूढ़ि अथवा प्रयोजन विशेष से जिस (शब्द-शक्ति) के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है वह (मुख्य रूप से अर्थ मे रहने के कारण, शब्द का) आरोपित व्यापार लक्षणा (कहलाता) है।'[3] इस लक्षणा-व्यापार की तीन स्थितियाँ है—मुख्यार्थ से बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध और रूढि अथवा प्रयोजन। उलटवाँसी-पदो की अभिधा अर्थात् प्रयुक्त प्रतीक-शब्द, प्रयोक्ता के मन्तव्य की ओर किसी न किसी प्रकार का सकेत करके

---

१ 'शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्द सुन्दरः॥'
—हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, १-९ (पृ० ३८ से)

२ 'इसका अर्थ-भार अभिधा-शक्ति न सभाल कर 'सकेत' सभालते हैं जो प्रतीक-मात्र होते है। इनका अभिप्राय वक्ता के मस्तिष्क में होता है और श्रोता उसको खोजता हुआ अनेक बार कही से कही पहुँच सकता है।'
—कबीर-एक विवेचन, पृ० ३१८

३. 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥' —काव्यप्रकाशः, २।सूत्र-१२

बाधित हो जाते हैं। इसके पश्चात् उलटबाँसी-पदो मे शब्द का लक्ष्यार्थ के साथ योग होने में कठिनाई पड़ती है। उदाहरण केलिए 'गगा में घोष है' इस कथन में गंगा की धारा मे गाँव का होना सभव न होने से मुख्यार्थ बाधित होजाता है। इसके पश्चात् 'गंगा' शब्द से सम्बन्धित शीलता, पावनता अर्थ की प्रतीति होती है। इसी प्रकार उलटबाँसी-पदो मे जब यह कहा जाता है कि 'चीटी ने हाथी को निगल लिया है' तब धर्म, क्रिया और लिंग साम्य के आधार पर चीटी का सांकेतिक अर्थ बुद्धि तथा हाथी का अर्थ काम या अहंकार होता है। अभिधात्मक अर्थ के बाधित होने पर, लक्ष्यार्थ की प्राप्ति मे शब्द-कोशीय अर्थ सहयोग नहीं देता। साथ ही जिस प्रकार गगा शब्द मे शीतलता, पावनता उसका नित्य कर्म है, वैसे ही सूक्ष्मता आदि चीटी का नित्य धर्म नही हो सकता और जिस प्रकार गंगा शब्द मे पावनता, शीतलता आदि सहज-ग्राह्य हैं, वैसे ही चीटी से बुद्धि आदि अर्थ सहज-लभ्य नही हैं। इस प्रकार शब्द की लक्षणा-शक्ति केलिए उलटबाँसी-पदो में काव्य-शास्त्रीय सूक्ष्म कौशल देखने को नहीं मिलता। कुछ अशों में प्रयोजनवती लक्षणा के 'जहत्स्वार्था' आदि भेदों का अनुमान होता है। कहीं-कही 'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि' का अनुमान होता है। उलटबाँसी मूलक कथनों में कुछ लाक्षणिक प्रयोग देखे जा सकते हैं—

'पानी में अगनि जरै अंधेरे को सूझै।'

—कबीर ग्रथावली, पृ० १४१

'पानी में प्रवेस किये, महर महर बरै अंग।
तुरसी पावक परस तें, उपजे गंग तरंग॥'

—निरजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी, पृ० ३६

'तुलसी बूझ विचार बिन दुनिया दधि को जाय।
तीन लोक के बीच में बंझा गऊ बियाय॥'

—तुलसीसाहिब की शब्दावली (पहला भाग), पृ० ३४

'जल की भीत भीत जल भीतर, पवन भवन का थंभा री।'

—तुलसी साहिब की शब्दावली, पृ० १३७

पानी मे अग्नि का जलना; पानी मे प्रवेश से अगो का दग्ध होना; पावक के स्पर्श से शीतलता का अनुभव; बंध्या गाय का प्रसूति-धर्म; जल की दीवार; पवन का स्तम्भ आदि कथन यद्यपि असम्भव प्रमाण के ही द्योतक है; पर पानी, अधेरा, पावक, गग-तरग, दधि, गऊ, थभा आदि शब्दों का मुख्यार्थ बाधित हो जाता है और अन्य अर्थ के रूप में गऊ-इन्द्रिय, बुद्धि-माया; पवन-प्राण; अग्नि-ज्ञानाग्नि; जल की भीत-शरीर आदि अर्थ उपलब्ध होते हैं। परन्तु इन अर्थों की प्रतीति मुख्य शब्द के योग से न होकर प्रयोजन से ही होती है।

इसी प्रकार 'जल बिच मीन प्यासी' तथा 'सरवरि तटि हसिनी तिसाई', जैसे प्रयोगो मे शब्द की अभिधा अर्थ को व्यजित नही करती अपितु अर्थ-ग्रहण मे सहायक होती है कि इस भव-सागर मे अतृप्ति का अनुभव करने वाली चचल स्वभाव की जीवात्मा जलरूप ब्रह्म-तत्त्व मे अतृप्ति का अनुभव करती है अथवा जल रूप माया तत्त्व मे सूक्ष्म प्रबुद्ध जीवात्मा अतृप्ति का अनुभव करती है तथा हस स्वभाव वाली जीवात्मा ससार रूप सरोवर के तट पर तृषित ही बनी रहती है।

उलटवाँसी-पदो मे व्यंजना-व्यापार—'जहाँ अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते है, उस काव्य विशेष को विद्वान् लोग ध्वनि (काव्य) कहते है।'[1] कारिका की वृत्ति मे ध्वनिकार ने लिखा है कि जहाँ अर्थ-वाच्य विशेष अथवा शब्द-वाचक विशेष उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते है, उसे ध्वनि (काव्य) कहते है। जिन उलटवाँसी-पदो मे साकेतिक प्रतीको का उपयोग रहता है, वहाँ प्रयोक्ता के मन्तव्य तक पहुँचने केलिए शब्द की अभिधा ही व्यग्यार्थ की ओर उन्मुख कर देती है। व्यग्य अर्थ की प्रतीति प्रसगानुसार श्रोता या पाठक की ग्रहण-शक्ति पर निर्भर रहती है। अभिधा-मूला व्यजना के अनेक कथन उलटवाँसी-पदो मे मिलते है। उदाहरण केलिए एक पद प्रस्तुत है—

'अब मोहि लै चलि नणद के वीर, अपने देसा।
इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसंग आहि बदेसा।।टेक।।
गंग तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहानां।
सातो बिरही मेरे नीपजे, पंचूं मोर किसानां।।'[2]

उक्त कथन मे नणद के वीर, पचनि, गग तीर, जमुन तीर, किसान आदि प्रयोग व्यंजना प्रधान है। कोई स्त्री (जीवात्मा) अपने पति (परमात्मा-नणद माया का भाई) से मनुहार करती है कि मैं यहाँ (ससार रूप नैहर मे) बहुत दुखी हो चुकी हूँ। अत. हे नणद के वीर, तू मुझे अपने देश (ससुराल) ले चल। क्योकि यहाँ के पचो (पचेन्द्रियाँ अथवा पचविकार) मे सदाचरण नही है। मुझे अकेली समझकर ये सब मुझे लूटते है। अर्थात् यहाँ ससार मे कुसग के कारण मेरी सात्विक वृत्ति अपहृत हो जाती है। मेरा तो सम्बन्ध गगा-यमुना की पवित्र भूमि से है अर्थात् इडा-पिंगला के क्षेत्र मे साधना करना ही मेरा लक्ष्य है। व्यजना प्रधान कुछ अन्य उलटवाँसी मूलक कथन प्रस्तुत है—

---

१ 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यङ्क्त' काव्यविशेष सध्वनिरिति सूरिभिः, कथितः।।' —ध्वन्यालोक, १।१३

२.—कबीर ग्रथावली, पृ० ९३

उदाहरण-१— 'साहेब मोरे पठई चोली अनमोल ।।टेक।।
यह चोलिया मोरे ससुरे से आई, चोलिया पहिरि हम भई अतोल ।।
यह चोलिया मे सहज बंद लागे,चोलिया के बंद मोरे सतगुरु खोल ।।
चोलिया पहिरि धनि चली है गवनवा, सेत पितंबर लागे हिंडोल ।।
धरमदास विनवै कर जोरी, नैहर सुपना भयल अब मोर ।।'[१]

उदाहरण-२— 'बिरहिनी मंदिर दियना बार ।।टेक।।
बिनवाती बिन तेल जुगति सो, बिन दीपक उंजियार ।।'[२]

उदाहरण-३— 'साधो साध अंतर ध्यान ।
गंग ग्राम बजार लावहु, चित्त गाडु निसान ।।
रैन दिन तहं नाहि आहि, नाहिं ससि गन भान ।
चमक झलमल रूप निर्मल, निर्गुन निर्वान ।।
सुसिद्ध बुद्धी नाहि आहै, कौन भावै ज्ञान ।
जगजीवन दास मस्त होवै, विरल कोउ ठहरान ।।'[३]

उदाहरण-४— 'मुरली कौन वजावै हो, गगन मंडल के बीच ।।टेक।।
त्रिकुटी संगम होय कर गंग जमुन के घाट ।
या मुरली के सबद से सहज रचा बैराट ।।
गंग जमुन विच मुरली वाजे, उत्तर दिस धुन होय ।
या मुरली की टेरहि सुनि सुनि रहीं गोपिका मोहि ।।
कान्ह गोपी नृत्य करते, चरन वपुहि विना ।
नैन बिन दरियाव देखै आनंद रूप घना ।।'[४]

उदाहरण-५— 'लहँगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै ।।
फूहरि धोवै दाग छुटे ना और वढावै ।
ज्यों-ज्यों मले बनाय सारे लहँगा फैलावै ।।'[५]

'जुग जुग देखो खेत में काला वैल जुताय ।।
काला वैल जुताय जाय घर अपने नाहीं ।
मालिक करै अवाज फेर कर चितवै नाहीं ।।'[६]

उक्त उदाहरणो के आधार पर कहा जा सकता है कि उलटवाँसी-पदो के शब्द-व्यापार मे काव्यशास्त्रीय सूक्ष्मताओ के न रहने पर भी, प्रयुक्त 'शब्द' का प्रसग ही उसकी शक्ति का

१ —धनी धरमदास जी की शब्दावली, पृ० ६४-६५
२ —यारी साहेब की रत्नवली, पृ० १
३ — जगजीवन साहेब की शब्दावली (दूसरा भाग, भेद-बानी), शब्द-६
४.—दरियासाहिब (मारवाड़ वाले) की बानी, पृ० ४५-४६
५ —पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ८१
६.—तुलसी साहिब की शब्दावली (पहला भाग), पृ० ३४

द्योतन करता है। कथन मे किसी न किसी प्रकार का व्यग्य वैचित्र्य बना रहता है। अत: उलटवाँसी-पद चित्र-काव्य की सीमा से ऊपर उठ जाते हैं।

उलटवाँसी शैली का कूट-वर्ग की अन्य शैलियों से साम्य तथा वैषम्य :

उलटवाँसी-परिवार की अन्य शैलियो का व्यवहार साहित्य मे प्राचीन काल से होता आ रहा है। इनमे प्रवल्हिका, कुतूहलाध्यायी, वैनोदिक, दृष्टकूट*, ग्रन्थि, प्रहेलिका, वक्रोक्ति, अन्योक्ति, सध्या-भाषा, पहेली, मुकरी बुझौवल आदि मुख्य है। प्रादेशिक भाषाओं मे बाउल या उलटाबाउल (बगला), भारुड (मराठी) हियाली (राजस्थानी) इस वर्ग की शैलियाँ है। अन्य भाषाओ मे रिडिल आदि (अग्रेजी), इशारियत (फारसी) आदि की चर्चा मिलती है। इन शैलियो की कुछ समानताएँ होते हुए भी अपनी कुछ विशेषताएँ है जिनके कारण सबका पृथक् पृथक् अस्तित्व है। इन शैलियो के साम्य और वैषम्य का विवेचन क्रमशः यहाँ प्रस्तुत है –

(१) **प्रवल्हिका या प्रवल्हिता**—वैदिक मन्त्रो मे अभिव्यजना की गूढार्थक शैली को प्रश्रय मिला है। ऋग्वेद के अनेक मत्र 'प्रहेलिका मत्र'[१] और उनकी भाषा को 'समाधि भाषा'[२] नाम से अभिहित किया गया है। अथर्ववेद मे ब्रह्म-प्रकृति प्रतिपादक छ 'प्रवल्हिका' मन्त्रो की ओर उसके छः 'प्रवादो' का उल्लेख है।[३] निरुक्त मे आदित्य के सभी मन्त्रो को रहस्यमय होने के कारण 'प्रवल्हिता' बताया गया है।[४] 'प्रवल्हिका' ऋग्वेद के ब्राह्मणो (ऐतरेय ब्राह्मण, ६।३३, कौषीतकि ब्राह्मण, ३०।१७) तथा अथर्ववेद (२०।१३३) के कुछ मन्त्रो को प्रदान किया गया नाम है।'[५] गूढार्थ प्रतिपादक मन्त्रो के रूप मे 'प्रवल्हित' का अर्थ 'समस्यामय'[६] बताया गया है।

---

* **टिप्पणी**—सस्कृत तथा हिन्दी दृष्टकूटो में शिल्प का मौलिक अन्तर देखने को मिलता है अत दोनो का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है।

१ (हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, विंटरनिट्ज, पृ० ११७७)—कूटकाव्य-एक अध्ययन पृ० १० से उद्धृत

२. 'द ग्रेटर पार्ट ऑफ द स्टेटमेन्ट्स मेड बाइ दीर्घतमस एज हैज बीन कौट इन समाधि-भाषा, देट, सिम्बोलिक लैंग्वेज। द की टु सच लैंग्वेज कैन नॉट बी सप्लाइड मेअरली बाइ ए केअरफुल स्टडी ऑफ टैक्सट्स।' (डॉ० सम्पूर्णानन्द). —अस्यवामस्य हिम्स, (भूमिका)

३ 'अथ प्रवल्हिका . षट्।' —अथर्ववेद, २०।१३३ तथा 'अथप्रवल्हिकाना षट् प्रवादा .।' —अथर्ववेद, २०।१३५

४ 'यच्च किंचित्प्रवल्हितमादिकत्यमेंव।' —निरुक्तम्, ७।११
'अथैषा वाच . प्रवल्हितेव। प्रवल्हितेति अनभिव्यक्ति विशिष्टो वाक्यार्थ।' —निरुक्तम्, १३।९

५ —वैदिक इंडैक्स, भाग २ (हिन्दी अनुवाद), पृ० ४८

६ —मॉनियर विलियम्स (संस्कृत इंगलिश डिक्सनरी),

'वैदिक-मन्त्रो में प्रहेलिकामय ब्रह्मोद्य वाक्यो की चर्चा है, जिनमे ईश्वर-शास्त्र विषयक समस्याओ का प्रतिपादन किया गया है। ऐसे ब्रह्म प्रतिपादक वाक्य अश्वमेध अथवा दाशरात्र जैसे वैदिक यज्ञो से सम्बद्ध विभिन्न सस्कारो के अनिवार्य अग होते थे।'[1] ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थो मे ब्रह्म-विषयक समस्याओ का प्रश्नादि पूछने के रूप मे उल्लेख है।[2] 'कौषीतकि ब्राह्मण' (२७।१४) मे 'ब्रह्मोद्य' का 'ब्रह्म-वद्य', तथा 'तैत्तरीय सहिता' (२।५।८।३) मे 'ब्रह्म-वाद्य', रूप मिलता है। 'ब्रह्मप्रतिपादक वाक्य'[3] अथवा कथा के रूप मे 'ब्रह्मोद्य' शैली के एकाधिक साक्ष्य मिलते है।[4] टीकाकार[5] और कोषकारो[6] ने ब्रह्मविद्या सम्बन्धी प्रसग मे इसका उल्लेख किया है।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रवल्हिका या प्रवल्हिता शैली जो 'ब्रह्मोद्य' के रूप मे रूढ हो गई थी, ब्रह्म सम्बन्धी चर्चा के लिए वैदिक-काल में प्रचलित थी। स्वभावत: इसकी भाषा गूढार्थक तथा प्रतीक प्रधान होती थी। ऋग्वेद के 'अस्यवामीय-सूक्त' के अधिकांश मत्रों की भाषा स्वभावतः इस प्रकार की है। सस्कृत-साहित्य में प्रचलित 'प्रहेलिका' शैली और वैदिक 'प्रवल्हिका' मे स्वरूप और प्रयोजन दोनो की दृष्टि से अन्तर है। सस्कृत-साहित्य की प्रहेलिका-रचना का उद्देश्य कलात्मक-योजना, बुद्धि-

---

१. देखिए—वैदिक इण्डैक्स, भाग २ (हिन्दी अनुवाद), पृ० ८७

२. 'ब्राह्मणा भगवन्तो हन्तामिम द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न जातु युष्माकमिम कश्चिद् ब्रह्मोद्य जेतेति।' (अर्थात् 'पूजनीय ब्राह्मणगण! अब मैं इन (याज्ञवल्क्य) से दो प्रश्न पूछूँगी। यदि ये मेरे उन प्रश्नो का उत्तर दे देंगे तो आपमे से कोई भी इन्हे ब्रह्म सम्बन्धी वाद मे नही जीत सकेगा।')
—बृहदारण्यकोपनिषद्, ३।८।१ तथा—शतपथ ब्राह्मण, ४।६।६।२०;११।४।१।२; —एतरेय ब्राह्मण, ५।२५

३. 'ब्रह्मप्रतिपादक · शब्द .'।—वाचस्पत्यम्' (षष्ठ भाग),

४ 'यद्यद्ब्रोचते विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सर :।
ब्रह्मोद्याश्च कथा: कुर्यात्पितृणामेतदीप्सितम् ॥' —मनुस्मृति, ३।२३१
'ब्रह्मोद्या: कथा: कुर्वन्नन्याश्च निरवद्या विद्यागोष्ठीर्भावयन्कदाचिदासाञ्चक्रे।'
—हर्षचरितम्, प्रथम उच्छ्वास, पृ० १२, 'ब्रह्मोद्या सा कथा यस्यामुच्यते ब्रह्म शाश्वतम्।' (शकरकवि विरचित 'सकेत' से उद्धृत)।

५. 'परमात्म निरूपक परा: कथाञ्च कुर्यात्।' (कुल्लूलभट्ट), —शब्दकल्पद्रुम मे उद्धृत

६. 'ब्रह्मणोवेदस्य वदनम्। ब्रह्मणो वाक्यम्। ब्रह्म+वद+अयम।' —शब्द कल्पद्रुम, 'प्लेफुल डिस्कशन ऑफ थ्योलोजीकल कुश्चन और प्रोबलम्स्, रिलेटिंग टु सैक्रेड कुश्चन।'
—मॉनियर विलियम्स, (सस्कृत-इगलिश डिक्शनरी)।

वैशिष्ट्य का प्रदर्शन तथा उक्ति वैचित्र्य मात्र रहता है।[1] और इसी अर्थ मे राजशेखर ने प्रवल्हिका' शब्द का प्रयोग भी किया है। ('प्रश्नोत्तर प्रवल्हिकादिक च वाक्केलि।') 'प्रवल्हिका' मे वैचारिक अनुभूति की अभिव्यक्ति, प्रतीक आदि के माध्यम से, होती थी। उद्देश्य और स्वरूप की दृष्टि से उलटवाँसी शैली बहुत कुछ प्रवल्हिका या प्रवल्हिता के निकट की प्रतीत होती है। परन्तु उलटवाँसी शैली मे जितनी विरोधमूलकता को प्रश्रय रहता है, उतना प्रवल्हिका शैली मे नही। और भी, देश-काल एव प्रयोक्ता भेद से दोनो मे अन्तर सम्भव है।

(२) **कुतूहलाध्यायी तथा वैनोदिक**—जैसाकि इन विशिष्ट नामो को पढ़ कर प्रतीत होता है, इस प्रकार की रचना से पाठक या श्रोता के मस्तिष्क मे कौतूहल की विवृत्ति सहज ही हो उठती है। 'कुतूहलाध्यायी' मे अर्थ को कुछ ऐसे गूढ़ार्थक शब्दो मे निहित किया जाता है कि पाठक या श्रोता सहज ही प्रयोक्ता के मन्तव्य को नही समझ पाता। 'अग्निपुराण' के एक उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि गोष्ठी के बीच, इस रचना-शैली के द्वारा प्रयोक्ता अपना बुद्धि-कौशल दिखाता होगा।[2] कुतूहलाध्यायी के समान ही, विनोदमात्र के लिए, 'वैनोदिक' शैली का उल्लेख मिलता है।[3] राजशेखर ने वैनोदिक का उल्लेख किया है।[4]

उन दोनो शैलियो मे लिखित काव्य के उदाहरण पृथक् से नही मिलते। अतः इनके विषय मे विशेष रूप से नही कहा जा सकता। इतना निश्चित है कि जहाँ इन शैलियो का उद्देश्य कौतूहल सृष्टि कर विनोद कराना मात्र है, वहाँ उलटवाँसी-शैली मे, अद्भुत की सम्यक्-योजना रहते हुए भी, वैचारिक या साधनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति कराना है। दोनो शैलियो के प्रयोक्ताओ के मानसिक स्तर मे भी पर्याप्त अन्तर रहता है। कुतूहलाध्यायी और वैनोदिक मे कौतूहल का वैदग्ध्य श्लिष्टादि पदो की योजना से रहता है। परन्तु उलटवाँसी मे यह कौतूहल असम्बद्धता या विरोधाश्रय के कारण रहता है।

(३) **कूट या दृष्टकूट**—संस्कृत मे 'कूट' शब्द का प्रयोग गूढ़ार्थक शैली, वाणी का

---

१. प्रहेलिका क्रीडार्थाः वादार्थाश्च।' —कामसूत्र, १।३।१५
'व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थं स्वरूपार्थस्य गोपनात्।
यत्र बाह्यान्तरावर्थौ कथ्येते सा प्रहेलिका॥' —विदग्धमुखमण्डन, (कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० १३ से)
'रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकार. प्रहेलिका।
उक्ति वैचित्र्यमात्र सा च्युतदत्ताक्षरादिका॥' —साहित्यदर्पण, १०।१३

२. 'गोष्ठ्या कुतूहलाध्यायी।' —अग्निपुराण, पृ० ३६६

३. 'यह एक प्रकार का गूढार्थ काव्य ही है, जिसका उद्देश्य केवल विनोद है।' —कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० ११

४. 'वैनोद्रिक कामदेव'—काव्यमीमासा, पृ० २

छल अथवा गूढ़ोक्ति के रूप में मिलता है ।[1] महाभारत आदि के कूटश्लोको की शैली मे अर्थ, वक्रता तथा कष्टवोध्य उक्तियो के पीछे, निहित रहता है । इस शैली मे शब्द श्लेष और अर्थश्लेष के साथ काव्य-शास्त्रीय रूढियो का वहुत वडा हाथ रहता है । इसीलिए अर्थोद्वोधन के समय परम्परा, प्रसग और सकेतो की ओर विशेष ध्यान देना पडता है । ये प्रवृत्ति निम्नलिखित कूटशैली-प्रधान तीन उदाहरणों में भली प्रकार देखी जा सकती है—

उदाहरण-१—'नदीज लंकेशवनारि केतुर्नगाह्वयो नाम नगारिसूनुः ।
एषोऽङ्गनावेषधरः किरीटी जित्वाव यं नेष्यति चाद्य गावः ॥'[2]

अर्थात् 'हे भीष्म ! यह अगना वेषधारी इन्द्र का पुत्र, वानरकेतु अर्जुन प्रतीती होता है ।' इसमे श्लेप के वल पर गूढार्थक शैली मे द्रोणाचार्य ने भीष्म से वृहन्नला-वेष-धारी अर्जुन के सम्वन्ध में कहा है । 'नदीज' शव्द भीष्म केलिए प्रयुक्त हुआ है, क्योकि भीष्म की माँ का नाम गगा था । 'लकेशवनारिकेतु'[२] का अर्थ कपिध्वज है, क्योकि लंकेश=रावण के वन=अशोक वाटिका, के अरि=शत्रु अर्थात् हनुमान हैं केतु=ध्वज मे जिसके अर्थात् अर्जुन । नगाह्वय=नग (वृक्ष) है नाम जिसका । 'अर्जुन' एक वृक्ष का भी नाम है । नगारिसूनुः=नग (पर्वत) के शत्रु इन्द्र के पुत्र अर्थात् अर्जुन । इस प्रकार इसमें श्लेष और प्रसंग के वल पर कूट शैली का विधान है ।

उदाहरण-२—'जगतीशरणे युक्तो हरिकान्त. सुधासितः ।
दानवर्षी कृताशंसो नागराज इवावभौ ॥'[3]

यहाँ 'नागराज' मे श्लेष का चमत्कार द्रष्टव्य है । और इसी के वल पर अर्जुन की एरावत, पर्वतराज हिमालय और शेपनाग से तुलना की गई है । शेपनाग के पक्ष मे अर्थ इस प्रकार है—'जगत् की रक्षा मे निरत, कृष्ण का प्रिय (शेप-नाग के पक्ष में 'विष्णु का प्रिय), प्रजा का पालक और कृष्णवर्ण (वसुधा से वँधे हुए) दैत्यो, ऋषियो और लक्ष्मी के द्वारा प्रशंसित वह अर्जुन शेपनाग के समान शोभित है ।*

१. 'वाचः कूटनैकपदया वल विरुज्य ।' —ऐतरेयब्राह्मण, ६।२४, तथा
—शतपथ ब्राह्मण, ३।८।१
तच्छ्लोककूटमद्यापि ग्रथित सुदृढ मुने ।
भेत्तु न शक्यतेऽर्थस्य गूढत्वात् प्रश्रितस्य च ॥' —महाभारत, १।१।८२
'वाचः कूटं तु देवर्षे स्वय विस्मृशुर्धिया ।'
—श्रीमद्भागवत महापुराण, ६।५।१०
'नारदः प्राह वाचः कूटानि पूर्ववत् ।' —वही, ६।५।२६
२. —महाभारत, ४,३६।१०
३ —किरातार्जुनीयम्, १५।४५
*टिप्पणी—विशेप अर्थ केलिए देखिए—कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० ७०-७१

उदाहरण-३—'सदामदबलप्रायः समुद्धतरसो बभौ ।
प्रतीतविक्रमः श्रीमान् हरिर्हरिरिवापरः ।।'[1]

श्लेष के आधार पर इसमे 'हरि' शब्द के कृष्ण, इन्द्र और सूर्य ये तीन अर्थ निकलते है। इसमे कृष्ण की तुलना इन्द्र और सूर्य से की गई है। अतः प्रयुक्त विशेषण शब्दों द्वारा अर्थ-वहन सरलतापूर्वक हो जाता है। इसी प्रकार 'नैषध महाकाव्य' (१३।३४) मे 'धराज-गत्या' पद के श्लेष की करामात चमत्कारिक है।

अर्थ-निगूढ़ता की दृष्टि से दृष्टकूट और उलटवाँसी-शैली मे पर्याप्त साम्य है, क्योकि प्रयोक्ता विशेष शब्दो की योजना द्वारा मन्तव्य को निगूढ बनाए रखने का प्रयत्न करता है। इतना होते हुए भी, दोनो शैलियो मे प्रयोजन, शिल्प और प्रयोक्ता-भेद के कारण पर्याप्त अन्तर है। दृष्टकूट शैली मे प्रयुक्त विशेष शब्द श्लेष, यमकादि के चमत्कार की सृष्टि करते है और उनके पीछे प्रयोक्ता के व्याकरण, काव्यशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान की कुशलता निहित रहती है। इसमे पर्यायवाची शब्दो और 'कवि-समय' मे प्रसिद्ध रूढियो का विशेष हाथ रहता है। इस प्रकार काव्य-कला-कौशल के प्रदर्शन मे द्रष्टकूट शैली बहुत सहायक होती है। इसके विपरीत उलटवाँसी शैली के पारिभाषिक शब्द यौगिक और तान्त्रिक परम्परा मे रूढ शब्द होते हैं। इस शैली मे प्रतीक शब्दो का विशेष रूप से उपयोग किया जाता है। ये प्रतीक शब्द विभिन्न क्षेत्रो से गृहीत रहते हैं। उलटवाँसी-रचना का चमत्कार श्लेष पर आधारित न होकर प्राय. विरोधाश्रित रहता है। इस शैली का प्रयोजन वैचारिक अथवा साधनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। एक ओर दृष्टकूट-रचना को समझने केलिए, प्रसग के साथ-साथ व्याकरण और काव्य-शास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है, दूसरी ओर उलट-वाँसी-पद को समझने केलिए (रूढ) पारिभाषिक-शब्दो, प्रतीक-सकेतो तथा शास्त्रीय परम्परा के अतिरिक्त मौखिक-परम्परा का समझना आवश्यक है। इस प्रकार एक परिवार की होते हुए भी दोनो शैलियो के पृथक्-पृथक् क्षेत्र और दिशाएँ है।

(४) ग्रन्थग्रन्थि—अधिकारी की कसौटी और कुतूहलवर्द्धन केलिए 'ग्रन्थग्रन्थि' शैली का प्रयोग महाभारत काल से ही होता आया है।[2] गूढोक्ति के रूप मे व्यास जी ने इसे श्लोक कूट भी कहा है।[3] श्रीहर्ष ने 'नैषध महाकाव्य' मे इस की चर्चा 'ग्रन्थ-ग्रन्थि' के रूप में विधिवत् की है। इस काव्य के तेरहवें सर्ग मे ऐसे अनेक श्लोक है, जिनमे 'ग्रन्थियो' की योजना प्रयत्नपूर्वक की गई है। इन 'ग्रन्थियो' (दुरूह-विषयो) की योजना ग्रन्थ के साथ अनादर भाव रखने वाले अविद्वान् केलिए है। जो ग्रन्थ के दुरूह-अश को गुरु-परम्परा से श्रद्धापूर्वक समझेगा, वही महाकाव्य की रस-लहरी मे गोता लगाकर आनन्द प्राप्त कर

---

१. —शिशुपालवध, १९।११६
२. 'ग्रन्थग्रन्थि तदा चक्रे मुनिर्गूढ कुतूहलात् ।' —महाभारत (आदि पर्व), १।८०
३. 'तच्छ्लोक कूटमद्यापि ग्रथित सुदृढ मुने ।
भेत्तु न शक्यतेऽर्थस्य गूढत्वात् प्रश्रितस्य च ।।' —महाभारत (आदिपर्व),

सम्यक् रूप से समझ सकता है।[1] इस ग्रन्थग्रन्थि प्रयोग में अलंकार योजना की दक्षता, व्याकरण का कौशल, दर्शन की निपुणता आदि की बहुज्ञता महत्त्वपूर्ण होती है। निम्न लिखित श्लोक मे नल तथा नल के साथ चार देवो का एक साथ वर्णन करने मे श्री हर्ष ने श्लेष चातुर्य के द्वारा पाण्डित्य प्रदर्शन किया है—

'देव: पतिर्विदुषि ! नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नल: खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वर: कतर: पुनरस्ते'॥'[2]

अर्थात् 'हे विदुषि, तुम इस कान्तिमान् नैषधराज नल को पतिरूप मे वर्ण करके निर्णय क्यो नही कर लेती हो। यदि तुम नल न समझकर उसे छोड़ दोगी तो तुम्हें हानि होगी। उससे श्रेष्ठ वर कौन हो सकता है।' इस श्लोक के 'धराजगत्या' पद का अर्थ, नल के अतिरिक्त, इन्द्र (वज्रधारी), अग्नि (मेष-वाहन), यम (महिष-वाहन) और वरुण (जलाधीश) पक्षो मे भी निर्वाहित होता है। इसी प्रकार 'अतिमहानलाभो' के अनेक अर्थ लगते है।

सामान्यत: दृष्टकूट और ग्रन्थग्रन्थि शैली, शिल्प की एकता के कारण एक ही समझी जाती रही है। ग्रन्थग्रन्थि शब्द का प्रयोग महाभारत मे मिलता है, फिर भी महाभारत के कूटश्लोक इस नाम से प्रसिद्ध न होकर 'दृष्टकूट' नाम से प्रसिद्ध हुए है। ग्रन्थग्रन्थि शैली का विकास काव्य-शास्त्रीय सस्कृत ग्रथो मे ही देखने को मिलता है। इस शैली के प्रयोक्ता कवियो मे भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि के नाम उल्लेखनीय है।

कूट-काव्य के व्यापक परिवेश मे यद्यपि ग्रन्थग्रन्थि का भी समावेश हो जाता है, फिर भी प्रयोक्ता और शिल्प-भेद से दोनो मे सूक्ष्म अन्तर है। दृष्टकूट के प्रयोक्ता का उद्देश्य अर्थ को गोपन करना रहता है, जबकि ग्रन्थग्रन्थि मे अर्थ को गूढ़ रखने के साथ-साथ 'प्राज्ञमन्यमान' पण्डितो को अर्थोद्बोधन केलिए चुनौती का स्वर भी प्रेरणा देता है। दृष्टकूट श्लोक में प्रारम्भ से अन्त तक प्राय: एकाधिक शब्दो मे कूटतत्त्व का निर्वाह होता है, जबकि ग्रन्थग्रन्थि में 'ग्रन्थि' की योजना शब्द या पद विशेष मे हो सकती है। दृष्टकूट के प्रणेता केलिए काव्यशास्त्रीय, व्याकरणिक, दार्शनिक ज्ञान की बहुज्ञता अनिवार्य नही, जबकि पाण्डित्य-प्रदर्शन केलिए ग्रन्थग्रन्थि की योजना इस प्रकार के ज्ञानो की अपेक्षा रखती है। दृष्टकूट मे अन्तर्कथा, कवि-समय आदि की रूढ़ियो का बहुत बड़ा हाथ रहता है, पर ग्रन्थियो के निर्माण मे रूढियो की अपेक्षा अनोखी सूझबूझ से अधिक काम

---

१. 'ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया।
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खल' खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृत दृढग्रन्थि: समासादय-
त्वेतत्काव्य रसोर्मिमज्जन सुखव्यासज्जन सज्जन:॥'
—नैषधमहाकाव्यम् सर्ग २२ (कवि प्रशस्ति-१)

२. —नैषध महाकाव्यम्, १३।३३

लिया जाता है ।

गूढ़ार्थक होने की दृष्टि से ग्रन्थग्रन्थि और उलटवाँसी शैली एक परिवार की है, परन्तु प्रयोक्ता-प्रयोजन तथा शिल्प की दृष्टि से दोनो में पर्याप्त अन्तर है। ग्रन्थियों की योजना मे काव्यशास्त्र, व्याकरण, दर्शन आदि के ज्ञान का चमत्कार रहता है। उलटवाँसी के कथन मे किसी प्रकार की असम्बद्धता रहती है और प्रतीको, सम्प्रदाय विशेष से (रूढ़) पारिभाषिक शब्दो का आग्रह देखने को मिलता है। इस शैली मे काव्यशास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा नही रहती, प्रत्युत वैचारिकता अथवा साधनाजन्य लोकोत्तर अनुभूति की सघनता की प्रेरणा रहती है। विरोधाश्रय इसका मुख्य अग है, जबकि ग्रन्थग्रन्थि मे ऐसा आवश्यक नही। कल्पना तत्त्व दोनो ही शैलियो मे महत्त्वपूर्ण है।

(५) प्रहेलिका—आचार्य वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' मे 'प्रहेलिका' का प्रयोग काव्य-रचना शैली, वाद अथवा मनोविनोद-काव्य के रूप मे किया है।[1] मध्यकालीन सस्कृत-साहित्य मे प्रयुक्त प्रहेलिका शैली, विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से, वैदिक 'प्रवल्हिका' (समस्यामय) से भिन्न है। दोनो मे गूढार्थक-रचना होती है,[2] परन्तु, प्रवल्हिका-शैली मे जीव-ब्रह्म, सृष्टि, प्रकृति आदि विषयो को लेकर रचना हुई है; तो प्रहेलिका शैली मे उक्ति का चमत्कार, बुद्धि-कौशल के आधार पर 'मनोरजन' प्रयोजन दिखाई देता है। पहले रूप मे व्यापक अर्थान्तर की व्यजना रहती है, तो दूसरे मे वर्णन अथवा श्लेष के आधार पर शब्द-क्रीडा। प्रहेलिका मे उत्तरापेक्षी प्रश्न अनिवार्य रूप मे रहता है।

सस्कृत-साहित्य मे प्रहेलिका-शैली का सम्यक् विकास हुआ है। प्रहेलिका एक विशेष प्रकार की रचना होती है, जिसमे एक उत्तरापेक्षी प्रश्न होता है अथवा उसमें प्रयुक्त शब्दों से किसी अर्थान्तर की व्यजना परोक्ष रूप से की जाती है।'[3] गोष्ठी के अन्तर्गत, जनसमूह के बीच, रहस्य का गोपन करने मे या दूसरो को भ्रमित करने मे, प्रहेलिकाओ का उपयोग होता है।[4] प्रहेलिका-मार्ग से बुद्धि विशुद्ध होती है, सुगम तथा दुर्गम-रचना का ज्ञान होता है। विद्वानो के प्रयोग से प्रश्नोत्तर आदि को समझना पडता है। इसके बिना जाने दूसरो (अन्य रचनाओ) मे परिश्रम करने पर भी इस रचना का ज्ञाता नही

---

१. 'प्रहेलिका क्रीडार्थाः वादार्थाश्च' —कामसूत्र, १।३।१५

२. —कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० १२

३. 'व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थं स्वरूपार्थस्य गोपनात् ।
यत्र बाह्यान्तरावर्थौ कथ्येते ता. प्रहेलिकाः ॥'
—विदग्धमुखमण्डन, (कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० १३ से)

४ 'क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे ।
पर व्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिकाः ॥' —काव्यादर्श, ३'

हो सकता ।'[1] प्रहेलिका शैली की प्रकृति विशेष के कारण साहित्यदर्पणकार ने इसे किसी अलकार के अन्तर्गत नही माना । उनका कहना है कि 'रस की बाधक होने के कारण, प्रहेलिका अलकार नही है । वह उक्ति की विचित्रता मात्र होती है । च्युताक्षरा, च्युतदत्ताक्षरा उसके भेद होते है ।'[2] उटलटवाँसी का उक्ति-वैचित्र्य, अर्थोद्बोधन के साथ ही पाठक या श्रोता को शान्तरस की ओर उन्मुख कर देता है । अपने विशेष कथ्य केलिए उलटवाँसी शैली अलकार का कार्य करती है ।

रचना के आधार पर आचार्य दण्डी ने समागता, वञ्चिता, व्युत्क्राता, प्रमुषिता, समानरूपा, परुषा, सख्याता, प्रकल्पिता, नामान्तरिता, निभृत समानशब्दा, संमूढा, परिहारिका, एकच्छन्ना, उभयच्छन्ना, संकीर्णा, ये सोलह भेद उदाहरण सहित दिये हैं ।[3] इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो और सुभाषित रत्न भण्डारो मे प्रभूत प्रहेलिका-साहित्य उपलब्ध होता है । उलटवाँसी-रचना के अनेक उदाहरण प्रहेलिका भेदो मे समाहित हो सकते है, फिर भी उन्हें प्रहेलिका नही का जा सकता । दोनो शैलियो मे प्रयोक्ता, प्रयोजन और शिल्प की दृष्टि से अन्तर है । यथा प्रहेलिका के 'निभृता' भेद मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के साधारण धर्म को प्रकट करने वाली वाणी अर्थ-गोपन करके अन्य अर्थ देती है[4]—

'हृतद्रव्यं नरं त्यक्त्वा धनवन्तं व्रजन्ति काः ।
नानाभङ्गिसमाकृष्ट लोका वेश्या न दुर्धराः ।।[5]

अर्थात् 'कौन है जो अपहृत धन वाले लोगो को परित्यक्त करके, नाना-भाव-भगियो मे लोक को आकृष्ट करके धनवान् की ओर जाती हैं ? वैश्या हैं, नदियाँ नहीं ।' (सरिता पक्ष में) 'कौन है जो (तटस्थ तृण-औषधि का उन्मूलन करके उन्हे छोड़कर, अपनी तरग भगिमाओ से लोक को आकृष्ट करके, कठिनाई पूर्वक पर्वत से निकल कर धनवान् सागर की ओर जाती हैं ? वेश्या नहीं, सरिताएँ हैं ।' यदि यह 'बानी' कबीर आदि किसी सन्त की होती, तो इनमे 'वेश्या' के रूप मे माया के वर्णन का भ्रम हो सकता था । उलटवाँसी-पद में 'नही' आदि नकारात्मक शब्दों के द्वारा, अर्थोद्बोधन केलिए, किसी प्रकार का वर्जन-

---

१. 'इति प्रहेलिकामार्गो दुष्करात्मापि दर्शितः ।
विद्वत्प्रयोगतो ज्ञेया मार्गाः प्रश्नोत्तरादयः ।।
विशदबुद्धिरनेन सुवर्त्मना सुकर दुष्करमार्गमवैति हि ।
न हि तदन्यनयेपि कृतश्रमः प्रभुरिमं नयमेतुमिद विना ।।' —काव्यादर्श, ३।१२५

२. 'रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका ।
उक्ति वैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका ।।' —साहित्यदर्पण, १०।१३

३. —काव्यादर्श, ३।९८-१०५

४. 'निभृता निभृतान्यार्था तुल्यधर्मस्पृशा गिरा ।' —काव्यादर्श, ३।१०२

५. —काव्यादर्श, ३।११७

चमत्कार नही रहता। प्रहेलिका के समान उसमे श्लेष के बल पर किसी प्रकार का उक्ति-कौशल नही रहता। उसमें साधनात्मक विचार-दशा का वर्णन किसी प्रकार की दृष्ट असम्बद्धता के बल पर रहता है। प्रहेलिका मे श्रोता या पाठक को बुद्धि-व्यामोह उत्पन्न कराना उद्देश्य रहता है जबकि उलटवाँसी की असम्बद्धता का प्रयोजन साधन या साम्प्रदायिक जिज्ञासु के मन से व्यामोह की स्थिति को दूर करना रहता है। अतः प्रयोजन और प्रयोक्ता-भेद से दोनो शैलियो का अपना पृथक्-पृथक् क्षेत्र है।

(६) **वक्रोक्ति शैली**—'वक्रोक्ति' का प्रयोग परिहासपूर्ण संभाषण,[1] संकेत या गूढवचन,[2] व्यंग्योक्ति[3] आदि रूपो मे हुआ है। श्लेष के द्वारा वक्रोक्ति की शोभा मे श्रीवृद्धि होती है।[4] शैली के रूप मे वक्रोक्ति का क्षेत्र व्यापक है। वह 'वैदग्ध्य-भगीभणिति' के रूप मे काव्य की शोभा बढाती है। स्थल विशेष पर श्लेष या काकु के बल पर अर्थातर की कल्पना की जाती है।[5] वक्रोक्ति शैली मे, विचित्र प्रकार की अभिधा के रूप मे[6] सम्पूर्ण प्रसग अथवा प्रसंगो मे वक्र कथन का निर्वाह होता है। जैसे निम्नलिखित उदाहरण मे रावण के कथन पर अगद का उत्तर वक्रोक्ति पर आश्रित है। देखिए—

'जो अति सुभट सराहेहु रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन॥
चलइ बहुत सो बीर न होई। पठवा खबरि लेन हम सोई॥
सत्य नगर कपि जारेउ बिनु प्रभु आयसु पाइ।
फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं तेहिं भय रहा लुकाइ॥
सत्य कहहिं दसकंठ सब मोहि न सुनि कछु कोह।
कोउ न हमरें कटक अस तो सन लरत जो सोह॥
जद्यपि लघुता राम कहुँ तोहि बधें बड़ दोष।
तदपि कठिन दसकंठ सुनु छत्र जाति कर रोष॥'[7]

---

१ 'ऐषापि बुध्यत एवैतावतीवक्रोक्ती.। इयमपि जानाति परिहासजल्पितानि।'
—कादम्बरी

२ 'सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना।
नो जानाति सविभ्रमांगवलना वक्रोक्ति संसूचनम्॥' —अमरुक शतक, श्लोक २९

३ 'वक्र उक्ति धनु बचन सर हृदय दहेउ रिपु कीस।
प्रति उत्तर सड़सिन्ह मनहुँ काढत भट दससीस॥'
—रामचरितमानस (लका काण्ड),

४ 'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषुश्रियम्।' —काव्यादर्श, २।३६३

५. 'वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यापरार्थं प्रकल्पनम्।' —कुवलयानन्दः, १२।१५९

६ 'प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरुच्यते।'
—वक्रोक्तिजीवितम्, १।१० (वृत्ति)

७.—रामचरितमानस (लका काण्ड),

वक्रोक्ति शैली में सामान्यव्यवहार के शब्दो की योजना से, कवि अपने प्रयोग-कौशल के द्वारा उनमें विशेष चमत्कार की सृष्टि करता है। कथन की ऐसी वक्रता विदग्ध पाठक या श्रोता की अपेक्षा रखती है।

गूढ़ार्थक होने के कारण यह शैली उलटवाँसी परिवार की है, परन्तु दोनो शैलियो में गूढोक्ति भिन्न प्रकार की होती है। वक्रोक्ति मे सामान्य कथन ही, प्रयोक्ता के वैदग्ध्य से, गूढ़ तथा चमत्कारपूर्ण वन पाता है। उलटवाँसी मे भावनात्मक अनुभूति अथवा वैचारिक स्थिति का कथन विरोध गर्भित असम्वद्धता को लेकर रूढ़ एव प्रतीक शब्दो के माध्यम से रहता है। वक्रोक्ति में श्लेष तथा काकु के द्वारा प्रयोग-कौशल रहता है, उलटवाँसी मे यह कौशल परम्पराश्रित रूढ शब्दो, प्रतीक शब्दो तथा नए-नए प्रतीको की योजना मे रहता है। दोनो शैलियो का प्रयोजन-क्षेत्र भी पृथक्-पृथक् है।

(७) अन्योक्ति-शैली—'अन्योक्ति पद्धति'[1] का क्षेत्र व्यापक है। अन्योक्ति की सीमा मे समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकार ही नही, काव्य, नाटक के अतिरिक्त गद्य-साहित्य भी आ जाता है। अन्योक्ति काव्य का सदा एक स्थायी तत्त्व रहा है। इसके विना किसी भी युग के कलाकार की कला का यथेष्ट निर्वाह नही हो सका है।[2] अन्योक्ति के मूल मे आचार्य भरत के 'अन्यापदेश'[3] की प्रेरणा है, जिसमें हृदयस्थ किसी अर्थ के बोधक-भाव का कथन रहता है। अन्योक्ति के क्षेत्र में कवि की मार्मिकता और सौंदर्य भावना के स्फुरण का वहुत अच्छा अवकाश रहता है, पर इसमें अच्छे भावुक कवि ही सफल हो सकते हैं।'[4] अन्योक्तियाँ प्राय. लौकिक विषय प्रधान ही होती है, कभी-कभी आध्यात्मिक विषय को लेकर भी अन्योक्तियाँ रची जाती हैं। 'व्यंग्य प्रधानता अन्योक्ति का प्रधान गुण है।'[5] अन्योक्ति-शैली के प्रयोगो केलिए सस्कृत और हिन्दी साहित्य दोनो ही बहुत धनी हैं। सस्कृत के प्रसिद्ध कवि पण्डित राज जगन्नाथ का 'भामिनी विलास' तथा

---

१. (आचार्य शुक्ल)—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८०६-११

२. —हिन्दी काव्य मे अन्योक्ति, (दो शब्द) पृ० ८

३. 'हृदयस्थस्य भावस्य गूढ़ार्थस्य विभावकम्।
अन्यापदेशै. कथन मनोरथ इति स्मृत.।।' —नाट्यशास्त्र, १७।३६

तथा 'इफ पोइट्री इज़ ए क्रिटिसिज्म ऑफ लाइफ, 'अन्यापदेश' इज़ पोइट्री एवव ऑल अदर टाइप्स।'

डॉ० राघवन—सम कन्सैप्ट्स ऑफ द अलकारशास्त्र, पृष्ठ ८३

४. (आचार्य शुक्ल) —हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३६१

५. —हिन्दी काव्य मे अन्योक्ति, पृ० ८२

हिन्दी के प्रौढ कवि दीनदयाल गिरि[1] का 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' अन्योक्ति शैली केलिए साहित्य की विशेष निधि माने जाते है। इनके अतिरिक्त बिहारी,रहीम, वृन्द, रसनिधि, गिरिधर राय आदि कवियो के स्फुट अन्योक्ति पद लोकमे प्रसिद्ध है।

अन्योक्ति प्रधान दोहो मे अर्थ परम्परा सन्निहित रहती है, कुण्डलिया आदि छन्दो मे, व्यजना के कारण अर्थ की व्यावृत्ति बनी रहती है। उदाहरण केलिए एक दोहा प्रस्तुत है—

'स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा, देखु बिहंग बिचारि।
बाज पराये पानि परि, तूं पछीहि न मारि॥'[2]

अर्थात् 'हे विहग, तू विचार कर देख तो कि जो तू दूसरो केलिए शिकार करता है, इसमे तेरा परिश्रम सब व्यर्थ ही है। न तो तेरा स्वार्थ ही सिद्ध होता है और न कोई पुण्य ही होता है, जिससे वह तेरा परमार्थ का कार्य समझा जाय। अत. हे पक्षी, तू पराये हाथ मे पडकर छोटे-छोटे पक्षियो को मत मारा कर।' यहाँ बिहग, बाज, पछी आदि प्रयोग अप्रस्तुत है, प्रस्तुत है राजा जयसिंह को समझाना, जो किसी के कहने अथवा किसी को प्रसन्न करने केलिए निरुपाय जनता को कष्ट देता था। व्यजना-व्यापार* से यह कथन उस सेवक के प्रति भी हो सकता है, जो दुष्ट स्वामी के इशारे मात्र से अनर्थ में प्रवृत्त होता है। यह उक्ति व्यर्थ मे अत्याचार करने वाले सभी केलिए चरितार्थ हो सकती है। उक्त दोहे मे 'बिहग' शब्द का प्रयोग साभिप्राय हुआ है। 'बिहग' शब्द सूर्य केलिए भी प्रयुक्त होता है, जो उच्च-नीच, धनी-निर्धन की भावना का छोड कर सभी को समान रूप से प्रकाश और ऊष्मा प्रदान करता है। इसी प्रकार शृ गाराश्रित रहस्यपूर्ण अन्योक्ति पद प्रस्तुत है—

'तेरे ही अनुकूल पति कित बिनवै प्रिय बोलि।
घट मे खटपट मति करै घघूँट को पट खोलि॥
घूँघट को पट खोलि देखि लालन की सोभा।
परम रम्य बुधि गम्य जासु छबि लखि जग लोभा॥
बरनै दीनदयाल कपट तजि रहु पिय नेरे।
बिमुख करावनिहार तोहि सनमुख बहुतेरे॥'[3]

---

१. 'दीनदयाल गिरि अत्यन्त सहृदय और भावुक कवि थे। इनकी सी अन्योक्ति हिन्दी के और किसी कवि की नही हुईं। इनका 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' हिन्दी साहित्य मे एक अनमोल वस्तु है। लौकिक विषयो पर तो इन्होने सरस अन्योक्तियाँ कही ही है, आध्यात्म पक्ष मे भी दो एक रहस्यमयी उक्तियाँ इनकी हैं।'
—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३६१

२ —बिहारी बोधिनी, दोहा ६६६

*टिप्पणी—'अप्रस्तुतप्रशसा मे व्यग्यार्थ प्रतीति होने पर भी ध्वनित्व नही होता, क्योकि यहाँ प्रस्तुत वृतान्त रूप व्यग्यार्थ अप्रस्तुत रूप वाच्यार्थ का ही पोषक होता है, अत गुणीभूतव्यग्यत्व ही होता है।'
—कुवलयानन्द, पृ० १०६

३. —अन्योक्ति कल्पद्रुम, ४।३४

इसमें नायिका 'जीवात्मा', अनुकूलपति 'परमात्मा', घूँघट 'माया', पति से विमुख कराने वाले सांसारिक विषय साधना-पथ से विचलित कराने वाले मायिक आकर्षण आदि हो सकते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मपक्ष प्रधान एक रहस्यमयी उक्ति देखिए—

'चल चकई ! वा सरविषय जहँ नहि रैन विछोह।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस-संदोह॥
सुहृद हँस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाके।
भोगत सुख अंदोह मोह दु:ख होय न ताके॥
बरनै दीनदयाल भाग्य विनु जाई न सकई।
पिय-मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई॥'[1]

उक्त विवेचन और उदाहरणों से अन्योक्ति-शैली का स्वरूप और क्षेत्र निश्चित हो जाता है। अन्योक्ति में अर्थ को गूढ रखने केलिए अप्रस्तुत का होना अनिवार्य है और इन अप्रस्तुतों के पीछे प्राय: नीति-विषयक अथवा व्यवहार-सिद्ध कथन या शिक्षाकी प्रेरणा रहती है। आध्यात्म-कथन प्रधान रूप से इस शैली का विषय नहीं है। अन्योक्ति-शैली में प्रतीक-चयन प्राय: मानवेतर सृष्टि से होता है। इस शैली में सर्वाधिक महत्त्व की बात काव्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि का होना है। शब्द-प्रयोग की दृष्टि से इसमें श्लेष, वक्रोक्ति, पर्याय आदि का होना काव्य-चमत्कार में वृद्धि करता है। वाक्य-प्रयोग व्याकरण सम्मत रहते हैं। अन्योक्ति में वाच्यातिशयी अर्थ होने के कारण लक्षणा-व्यजना आदि शब्द-शक्तियों का व्यापार रहता है।

अन्योक्ति के समान उलटवाँसी शैली में अर्थ तो निगूढ रहता ही है। प्रयोक्ता के मन्तव्य का अभिधा द्वारा सम्यक् मूल्यांकन भी नहीं हो पाता। लेकिन अपने इसी साम्य के कारण ये दोनों शैलियाँ एक नहीं कही जा सकतीं। उलटवाँसी का एकमात्र उद्देश्य आध्यात्मिक, साधनात्मक अथवा विचार-दशा की अनुभूति को अभिव्यक्ति देना है, जबकि अन्योक्ति का क्षेत्र नीति तथा व्यवहार तक व्यापक है। उलटवाँसी का चमत्कार उक्तिगम्य असम्बद्धता के कारण रहता है[2], जबकि अन्योक्ति में असम्बद्धता का होना आवश्यक नहीं। उलटवाँसी में शास्त्र अथवा सम्प्रदाय विशेष के (रूढ़) पारिभाषिक शब्द भी प्रतीक का कार्य करते हैं, इसलिए 'इडा-पिंगला' के लिए प्रयुक्त 'गंगा-जमुना' आदि शब्द शुद्ध अभिधावाची होते हैं। अत: उलटवाँसी अभिधा रूप में भी हो सकती है; अन्योक्ति नहीं। उलटवाँसीशैली केलिए प्रतीक-चयन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। अन्योक्ति में प्राय: मानवेतर-सृष्टि के प्रतीक ही रहते हैं।

---

१. —अन्योक्ति कल्पद्रुम, १:६५

२. 'जहाँ साधनात्मक अथवा आध्यात्म विषयक अनुभूति नहीं है, अथवा जहाँ विरोधाभास नहीं है, वहाँ हमें उलटवाँसी की खोज नहीं करनी चाहिए।'

—कबीर-एक विवेचन, पृ० ३२९

दोनो शैलियो के प्रयोक्ताओ मे भी मौलिक अन्तर है। अन्योक्ति शैली मे रचना रसिक कवि बिहारी भी कर सकते है और बाबा दीनदयालगिरि भी। परन्तु उलटवाँसी-शैली की रचना का श्रेय, जीवन की वृत्तियो से उपरमित, कबीर, दादूदयाल, भीखासाहब, यारी साहब आदि साधक-सन्तों को ही मिल पाता है। काव्यशास्त्रीय ज्ञान के बिना अन्योक्ति की रचना सम्भव नही है, जबकि काव्यशास्त्रीय ज्ञान से अनभिज्ञ सन्तो की उलटवाँसियो मे, काव्य-कौशल के न होते हुए भी काव्यतत्व मिल जाता है। अतः 'इनमे (उलटवाँसियो मे) अन्योक्ति-पद्धति द्वारा ज्ञान की सूक्ष्म बाते कही गई है, किन्तु स्मरण रहे कि यहाँ उलटवासी अन्योक्ति सादृश्य-मूलक प्रतीक-विधान के स्थान पर विरोध मूलक प्रतीक-विधान को लेकर चलती है। शब्दान्तर मे विरोध-मूलक अन्योक्ति को ही उलटवाँसी कहते है।'[1] इतना कह देने मात्र से उलटवाँसी और अन्योक्ति शैलियाँ एक नही हो सकती। प्रयोक्ता, प्रयोजन और प्रयोग की दृष्टि से दोनो की अपनी विशेषताएँ है।

(८) **संध्या-भाषा शैली**—सहजयानी बौद्ध-सिद्धो के चर्यागीतो का सम्बन्ध, बोधि-चित्त की सम्यक् सप्राप्ति केलिए, विशेष प्रकार के आचरण से रहता है। यह आचरण सहजानन्द, महासुख की दशा तक पहुँचाने मे सहायक होता है।[2] इस उच्च अवस्था को प्राप्त होकर 'शून्यतन्त्री-ध्वनि' का शब्द सुनने को मिलता है।[3]

इन चर्या-गीतो का सम्बन्ध लौकिक आचरण से ही नही रहता, वरन इनमे विशेष प्रकार के साधनात्मक आचरण केलिए विशेष प्रतीक-सकेतो और शब्द की सन्धि द्वारा साम्प्रदायिक अर्थ को गुह्य बनाया जाता है।[4] इन चर्यागीतो की शैली सध्या या सधा-भाषा* के रूप मे जानी जाती है। सिद्धो की गूढार्थ रचना शैली को 'संध्या-भाषा' नाम

---

१ —हिन्दी काव्य मे अन्योक्ति, पृ० १८३

२ 'केचित् प्रादेशिका परिपक्वकुशला भगवत पञ्च प्रवेशोपायधारण पूर्वेण युगनद्ध रूप सहजानन्दफल सततमन्वेषयन्ति तेऽपि वज्रोपम समाधि साक्षात्कुर्वन्ति।'
(डॉ० प्रबोधचन्द बागची) —चर्यागीतिकोष, पृ० ३

३ 'बाजइ अलो सहि हेरुअ वीणा। सुन तान्तिधनि विलसइ रुणा॥'
—चर्यागीतिकोष, पृ० ५८

४ 'रहस्यावादियो की सार्वभौम प्रवृत्ति के अनुसार ये सिद्ध लोग अपनी बानियो से साकेतिक दूसरे अर्थ भी बताया करते थे, जैसे—'काया तरुवर पच विडाल।' पच विडाल—बौद्ध शास्त्रो मे निरूपित पच प्रतिबध—आलस्य, हिंसा, काम, विचिकित्सा और मोह। इसी से वे अपनी बानियो को 'सध्या भाषा' कहते है।' डॉ० विनोयतोष भट्टाचार्य,
(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उद्धृत—हिन्दीसाहित्य का इतिहास, पृ० ११-१२)

*टिप्पणी—आलोचको का, सध्या-भाषा शैली के शिल्प और अर्थ मे तो, मतभेद नही है,
(शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर)

दिया गया है। हेवज्रतत्र मे इस भाषा को 'महासमय' (महान् सिद्धान्त) और 'महाभाषम्' कहा गया है।[1] 'संध्या-भाषा' की पाद-टिप्पणी लिखते हुए अनेक प्रमाणों द्वारा डॉ० प्रबोधचन्द्र ने यह बताया है कि इस भाषा के द्वारा सिद्ध पुरुष परमार्थ तत्त्व का कथन करते है। इसमे प्रयोक्ता का अभिप्रेत अर्थ शब्द की सन्धि मे प्रच्छन्न बना रहता है। अर्थान्तर के द्वारा उस अभिप्रेत अर्थ का प्रतिपादन होता है। जो इस अद्भुत सामर्थ्य वाली भाषा को आदरपूर्वक कथन का माध्यम नही बनाता, निश्चय ही उसे सिद्धान्त-खण्डन का दोष लगता है।[2]

(पिछले पृष्ठ की टिप्पणी का शेष)

प्रत्युत् 'सध्या' शब्द विशेष के सम्बन्ध मे मत वैभिन्य है। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची समुचित उदाहरणो द्वारा 'सध्या' शब्द को ठीक मानते है। (देखिए—चर्यागीति-कोष, उपोद्‌घात, पृ० ३१-३२ तथा—स्टडीज़ इन तन्त्राज़, पृ० २७-७५) इनके अतिरिक्त महामहोपाध्याय पण्डित हरप्रसाद शास्त्री (—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३४ पर उद्‌धृत) डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य (—बुद्धिस्ट एसोटेरिज़म, पृ० ३५-७०); डॉ० शशिभूषण दास गुप्त (—ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० ४१३) आदि विद्वान् भी 'सध्या' शब्द को ही प्रस्तुत अर्थ मे ठीक मानते हैं। अत: इसी शब्द का व्यवहार यहाँ किया गया हैं। इनके विपरीत डॉ० विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'सन्धा' शब्द के प्रयोग का ठीक माना है। (—इण्डियन हिस्टोरीकल क्वाटरली, पार्ट IV, सन् १६२८, पृ० २८७)

१ 'वक्षेऽहं वज्रगर्भोऽयं श्रृणु त्वम् एक चेतसा।
सन्ध्याभाष महाभाष समय सकेत विस्तर॥'

- चर्यागीतिकोष, उपोद्‌घात से उद्‌धृत

२ 'सध्याभाषा=यथारुतम् अर्थम् अभिप्रेतम् अर्थं च सदवती भाषा। नेयं यथारुतमभिधेयमुक्त्वा विरमति प्रत्युत् यथारुताद् अर्थात् अभिप्रेतम् अर्थान्तरं चापि प्रतिपादयति। तत्र सध्याभाषामधिकृत्य हेवज्रे भगवानाह—

'कुल पचविध ख्यात वर्णभेदेन भेदित।
सध्या एता ( ) स्युर बुद्धाश्च पच कौलिका॥७॥
वज्रगर्भ महासत्त्व यन्मया कथित त्वयि।
तत् सर्वसादर ग्राह्य सन्ध्याभाषा महाद्भुत॥१०॥
योऽभिषिक्तोऽत्र न वदेत् सध्याभाषया।
समय विद्रोहण तस्य जायते नात्र सशय.॥११॥
इत्युपद्रव चौरैश्च ग्रहज्वल (पा.=ग्रहज्वरै) विबुद्धोऽपि।
म्रियतेऽसौ यदि बुद्धोऽपि सध्याभाष न भाषयेत्॥१२॥
इति सर्वतत्रनिदान सध्याभाषानाम्नि पटले देशयित्वा।'

—चर्यागीतिकोष, उपोद्‌घात,

डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने शब्द की अभिसन्धि के रूप मे 'सध्या' का अर्थ प्रकाश और अन्धकार के मध्य की स्थिति वाली भाषा (आलोआन्धारी भाषा) कहा है, क्योकि यह भाषा न तो सर्वथा गुह्य ही होती है और न सहज गम्य ही।[1] आपने इस भाषा का अंग्रेजी अनुवाद 'लैंग्वेज ऑफ ट्वाइलाइट' किया है।[2] डॉ० शशिभूषणदास गुप्त ने बताया है कि 'इस रहस्य प्रधान भाषा का व्यवहार प्राचीन और मध्यकालीन कविता मे बहुतायत से हुआ है। 'सन्ध्या' शब्द इसकी गुह्य प्रकृति की सूचना देता है।'[3] डॉ० धर्मवीर भारती ने इस भाषा की प्रकृति और प्रभाव के सम्बन्ध मे लिखा है कि 'इस (संध्या) भाषा की प्रकृति मन्त्र प्रकृति थी। मन्त्र-सिद्धान्त मे प्रत्येक शब्द और अक्षर का एक गुह्य, दिव्य या परम अर्थ होता है। महायान मे इस सध्या-शैली का प्रयोग 'उपाय-कौशल पारमिता' के अन्तर्गत बताया है। सध्या-शैली द्वारा वे अशिक्षितो को भी बौद्धमत मे दीक्षित कर सकते थे।'[4]

सन्ध्या-भाषा मे लिखी गई बौद्ध-सिद्धो की बानियो के अध्ययन से यह निश्चय होता है कि हिन्दी-साहित्य मे पल्लवित उलटवासी-शैली का विकास उक्त सन्ध्या-भाषा से ही हुआ है। इस तथ्य को विद्वानो ने स्वीकार किया है।[5] इस 'भाषा' के अभिधार्थ मे

---

१. —हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३४ से उद्धृत

२. —बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म पृ० ३५ तथा ७०, (—सिद्ध-साहित्य, पृ० २६८ से उद्धृत)

३. 'दिस एनिगमेटिक लैंग्वेज ऑफ दि ओल्ड एण्ड मैडिएवल पोइट्री इज पौपुलरली स्टाइल्ड एज 'सन्ध्या-भाषा' विच, एकौर्डिंग टु इट्स कन्वेन्शनल स्पैलिंग लिटरली मीन्स दि 'ईवनिंग लैंग्वेज' एण्ड दि वर्ड 'ईवनिंग' हियर मे बी एक्सप्लेण्ड एज पौइन्टिंग टु दि मिस्टीकल नेचर ऑफ दि लैंग्वेज'

- आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० ४१३

४ —सिद्ध-साहित्य, पृ० २७१

५ 'इस प्रकार की उलटवाँसियाँ उस युग मे नाथपंथी योगियो और सहजयानियो मे खूब प्रचलित थी। उस युग के सभी कवि किसी-न-किसी रूप मे इन विरोधाभास मूलक उलटवाँसियाँ की रचना करते थे।'

—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३३-३५

'कबीर की उलटवाँसियाँ मशहूर है, पर इसका भी आरम्भ हम सरह में पाते हैं।'

(राहुल साकृत्यायन), —दोहा कोश,' भूमिका, पृ० २४

'इन प्रतीको का उद्गम और विकास अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योकि वज्रयान के विकास के पहले इन प्रतीको का अस्तित्व मिलता है। सन्तो के साहित्य तक इन प्रतीको का व्यवहार होता गया है। इन प्रतीको की दो प्रकार की योजनाएँ थी—औपम्यमूलक और विरोधमूलक। पहले से विभिन्न प्रकार के रूपक प्रस्तुत किये जाते थे और दूसरे से उलटवाँसी शैली का विकास हुआ है।'

(डॉ० धर्मवीर भारती)—हिन्दी साहित्य का कोश (प्रथम भाग), पृ० ७६३

तात्पर्यार्थ या सकेतार्थ निगूढ रहता है। प्रतीक-सकेतो को समझने पर ही उस प्रच्छिन्न अर्थ को समझा जा सकता है। सध्याभाषा शैली ने उलटबाँसी शैली को, विषय और प्रयोग आदि की दृष्टि से, सम्यक् रूप से प्रभावित किया है। पुनश्च सध्याभाषा शैली वही नही है, जोकि उलटबाँसी शैली है, क्योंकि उलटबाँसी का चमत्कार विरोधमूलक असम्बद्ध कथन का है, जबकि सध्याभाषा मे यह विरोधजन्य असम्बद्धता अनिवार्य तत्त्व नही। वैसे भी दोनो शैलियो के प्रयोग के काल और प्रदेश मे अन्तर है। सध्याभाषा शैली प्रमुख रूप से सहजयानी सिद्धो द्वारा व्यवहृत हुई है, जबकि उलटबाँसी शैली का व्यवहार नाथ-योगियों और निर्गुणी सन्तो ने किया है। सध्याभाषा का प्रयोग-क्षेत्र बगाल, आसाम आदि है, परन्तु उलटबाँसी का समस्त उत्तर भारत।

(६) **उलटामन्त्र प्रकृति**—कालक्रम से सहजयानी सिद्धों के पश्चात् नाथ-योगियो की वाणी का प्रचार देखने को मिलता है। ये साधक विभिन्न प्रकार की यौगिक क्रियाओ, साधनाओं को, जो 'उलटा-साधना' नाम से जानी जाती हैं,[1] विरोध-मूलक रहस्य प्रधान भाषा मे, गोपन की प्रवृत्ति से सरक्षित करते हुए, अभिव्यक्ति देते थे।[2] नाथो की उलटा-मत्र शैली मे, जीवन की विपरीत क्रमवाली प्रकृति को अपना कर, असभव तत्त्व का पोषण करते हुए, उलटी या उलटवासीय साधना को सहज और स्वाभाविक ढग से कहा गया है। इस विपरीत क्रम को अपनाने मे नाथ-योगियो की यह मान्यता रही है कि सीधे मार्ग से ससार मृत्यु और विनाश को प्राप्त होता है तथा 'रिग्रैसिव प्रोसिस' या 'प्रत्यावर्त्तन' के मार्ग से जीवन के 'मूल' कारण अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति कर लेता है।[3] इसका समर्थन 'शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र' से भी होता है।[4] नाथो का विश्वास

---

१. 'नाथ-योगियो की प्रमुख साधना श्वास निरुद्ध कर, अरध को उलटकर उरध मे ले जाना, नाद को पलटकर सुरति को निरति मे लीन करना, गगा को उलट कर जमुना में मिलाना अथवा सूर्य को उलट कर चन्द्र मे लीन करना था। इसी साधना को वे उलटा-साधना कहते थे।' —सिद्ध-साहित्य, पृ० ४१३

२. 'बिकौज़ ऑफ दिस उलटा नेचर ऑफ साधना, दि लैंग्वेज ऑफ दि सौंग्स इन ह्विच दि सीक्रेट ऑफ दि साधना इज़ कौट इज़ ऑल्सो जनरली ऑफ ए उलटा नेचर और एक्सट्रीमली पैराडोक्सीकल एण्ड एनिगमेटिक।'

—आव्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २३१

३ 'दि प्रोसिस हैज़ फ्रीक्वेन्टली बीन स्टाइल्ड इन दि वर्नाकुलर्स एज़ दि उल्टा साधना, और दि रिग्रैसिव प्रोसिस।' ·· सच यौगिक प्रैक्टिसैज़ लीड दि सिद्ध टु हिज़ औरिजिनल अल्टीमेट एज़ दि इमोरटल बीइग इन हिज़ परफैक्ट ऑर डिवाइन बौडी, बैक फ्राम दि ओर्डीनरी क्रियेटिव प्रोसिस ऑफ बिकमिंग।'

—आव्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २२६

४ 'व्युत्क्रमादप्ययस्तथा दृष्टम्'। —शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र, सूत्र सख्या ९२

अर्थात् विपरीत क्रम से अपने कारण मे लीन होता है, ऐसा देखा गया है।

था कि इस विपरीत प्रक्रिया से निश्चयपूर्वक सिद्धि[1] प्राप्त होती है। इस प्रकार उलटा-धारा अथवा उलटा मन्त्र-प्रकृति के अनेक उदाहरण नाथ-योगियो की बानियों मे मिलते हैं। 'गोरक्ष-विजय' की भूमिका मे उद्धृत गुरु मीननाथ की दो पक्तियो में 'उलटा-धारा' का कथन है—

'गुरु मीननाथ रे उलटा धारा। पुकुर मुर धान शुकाइया उगार तले-वाडा ॥'[2]

और भी—'आए गुरु उल्ट्या योग धर। काया तोमहार स्थिर कर ॥
नाल कह अए पुत्र जति गोरखाइ। उलटि साधिते जोग नाए बल नाइ ॥'[3]

गोरख-बानी मे उक्त उलटा मत्र शैली के अनेक उदाहरण मिलते है।[4] इस प्रकार की साधना के विपरीत क्रम की प्रधानता वाले अनेक कथन उलटबाँसियो मे भी मिलते है।[5] वास्तव मे ये उलटा-मन्त्र प्रकृति के कथन उलटबाँसियो के पूर्व रूप ही है। दोनो के प्रयोजन एक ही है। अन्तर इतना ही है कि उलटबाँसी शैली का क्षेत्र व्यापक है, इसमे साधनात्मक विपरीत-कथन तो रहते ही है, साथ ही विचार-दशा की अनेक स्थितियो के असम्बद्धता मूलक कथन भी है, जबकि उलटामंत्र प्रकृति मे यौगिक साधनाओ को ही अभिव्यक्ति मिली है। उलटा-साधना वास्तव मे एक साधना है जबकि उलटबाँसी कथन एक शैली। हाँ, प्रतीक-सकेतो की प्रकृति मे दोनो मे कोई अन्तर नही है।

---

१. 'पिरीति उलटा रीत ना बुझै चतुर। ये ना चीनै उलटा से ना जिये ससारे ॥
समुख विमुख हुए विमुख समुख। पालटा नियामे सब जगत संयोग ॥
विमुखे आगम पन्था राखिछे गुपते। चलिले विमुख पन्थे सिद्धि सर्वमते ॥
समुखेर सब पथ विमुख करिया। पलटि विमुख पन्थे जाइबा चलिया ॥'
(आलि राजा)—ज्ञान सागर, पृ० ३६-३८
(ऑब्स क्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २३२ से)

२.—आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २३१ से उद्धृत

३—गोरक्ष-विजय, पृ० ११५ १६ (ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २२६ से)

४ 'उलटत नाद पलटत व्यद, बाई कै घरि चीन्हसि जयद।
सुनि मडल तहाँ नीझर झरिया, चद सूरजि लै उनमनि धरिया ॥'
—गोरख-बानी, पृ० २०

'सिध के सकेत बूझिलै सूरा, गगन अस्थानि बाइलै तूरा।
मीमा के मारग रोपीलै माण, उलट्या फूल कली मे आण ॥'
—गोरख-बानी, पृ० ४०

५. 'उलटी गंग समुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।' —कबीर ग्रथावली, पृ० १४३
'उलटी गग जमुनि मे लावौं, बिनहि जल मजन ह्वै पावौ।'
—रैदास बानी, पृ० २६

(शेष अगले पृष्ठ पर)

(१०) हिन्दी-दृष्टकूट– संस्कृत की कूट या दृष्टकूट शैली का सम्यक् विकास हिन्दी-साहित्य में देखने को मिलता है।* यह गूढार्थक कूट-शैली हिन्दी-साहित्य तक आते-आते शृंगार-वर्णन को भी अपने में समेट लाई है। संस्कृत में प्राय. इस के लिए 'कूट' शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'विचित्र प्रकार की पद रचना'[2] के रूप में दृष्टकूट और उलटवाँसी शैली में साम्य बताया है। परन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'दृष्टिकूट' शब्द का प्रयोग करते हुए उक्त दोनों शैलियों में स्पष्ट अन्तर बताया है कि—'दृष्टि-कूट में किसी वस्तु व विषय का प्राय: कवि प्रसिद्धियों द्वारा पाण्डित्य पूर्ण वर्णन कर, उसके बाह्यज्ञान की कसौटी रख दी जाती है, वहाँ उलटवाँसियों का उद्देश्य केवल इस प्रकार का मूल्यांकन मात्र नहीं रहा करता। इसके सिवाय दृष्टिकूट में लोगों की दृष्टि को चकमा देकर उन्हें भ्रम में डाला जाता है, अथवा पाठकों को उनके द्वारा चकित कर काव्य-विनोद किया जाता है। परन्तु उलटवाँसी द्वारा किसी को व्यर्थ का भुलावा न देकर भरसक वर्ण्य-

---

(पिछले पृष्ठ का शेष)

'उलटा शब्द गगनि घर छाया। नानक शब्दै शब्दु समाया॥'
—प्राण संकुली, पृ० २६

'वालमीकि हुवारा पूछो, जपत उलटा सिद्धकाम।'
—संत बानी संग्रह (भाग दूसरा), पृ० १५९

'पच्छिउं गंगा बहै पानी है नीर का,
बीच में है इक कुट मुरेरा तीर का।
उलटी बहै, बयार नाव मुरकाय दै,
अरे हाँ, पलटू उतरे वेहि के पार सो सूधी जाय दै॥'
—पलटूबानी (भाग दूसरा), पृ० ७८

*टिप्पणी—दोनों शैलियों के अन्तर का विवेचन पहले हो चुका है।

१ 'हिन्दी-साहित्य में कूटरचना के लिए एक नया समस्तपद 'दृष्टकूट' अधिक प्रचलित है। इसकी निरुक्ति इस प्रकार की गई है—'दृष्ट कूटम् यस्मिन् तत्', अर्थात् ऐसा काव्य, जिसमें शब्द और अर्थ में कूट अथवा क्लिष्टता दृष्टिगोचर हो।" संभवतः बारकूट के सादृश्य पर ही इस शब्द की रचना हुई है जिसका प्रयोग संग्रहकर्ताओं ने विशेष रूप से विद्यापति और सूरदास के कूटपदों के लिए किया है। सूरदास के कूटपदों के लिए दृष्टकूट शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सरदार कवि ने 'साहित्य लहरी' की टीका में किया है।'
—सूर काव्य-गत अध्ययन, पृ० ८-९

विषय की ओर आकृष्ट किया जाता है, जिसका उद्देश्य विनोद न होकर उसे सजग और सचेष्ट करना रहता है।'[1]

विद्यापति, सूर आदि के दृष्टकूट-पदों का विहंगावलोकन करने पर यह प्रतीत होता है कि संस्कृत के कूट-पदो के वर्ण्य-विषय का क्षेत्र हिन्दी के दृष्टकूटो से कहीं सीमित है। हिन्दी के दृष्टकूट-पदो की 'विनय' के साथ ही साथ वात्सल्य, शृंगार और काव्यशास्त्रीय (नायिका भेद आदि) विषयो तक सीमा परिव्याप्त है। इनकी रचना मे विदग्धता प्रदर्शन के साथ ही, उलटवाँसियो जैसी गोपन की प्रवृत्ति भी कार्यशील रही होगी। सूर के दृष्टकूट-पदो की रचना के सम्बन्ध मे डॉ० रामधन शर्मा ने तथ्य प्रस्तुत किये है।[2]

विनय के कुछ पदो मे उलटवाँसी-पद-रचना के होने की संभावना रहती है। उदाहरण केलिए सूर का निम्नलिखित पद, प्रतीक-प्रधान असम्बद्धता के कारण, कबीर की उलटवाँसी-रचना मे वर्णित 'माया' का भ्रम उत्पन्न करता है—

'नारि एक दसहूँ दिस विचरति अतिसुन्दरी सुहागिनि।
प्रति प्रति सदन पुरुष कंठ बिलसित तदपि पिय अनुरागिनि।।
भरता जार गनत कछु नाहीं संत कहहिं बैरागिनि।
तीनि काल सरबोपरि राजति स्तवति देव मुनि नागिनि।।
अवचनि कौ उपकार करै नित उच्च दोस की गाहिनि।
प्रभु समीप कबहूँ नहि आवति फिरति गिरि बागनि।।
नरभूषन ह्वै या संगति तै एहि त्रिया औ बागनि।
सूरदास निरमल मति कारन करम बिथा नहि लागनि।।'[3]

१.—कबीर साहित्य की परख, पृ० १६०

२. 'कृष्ण के जिन चरित्रो का सूर की अन्तरात्मा पर गहरा प्रभाव पडा, उन्ही का उन्होने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। अतः कूट-पदो का विषय हैं—प्रपन्न भक्त की विनय, उनकी भक्ति के एकमात्र पात्र बालक कृष्ण का वात्सल्य और गोपियो की मधुरा-भक्ति। उनमे भी सर्वाधिक पद मधुरा भक्ति के है, जिनमे गोपियो के साथ कृष्ण की शृंगारी लीलाओ और उद्दीपक वातावरण का वर्णन है। विनय और बाल-लीला के वर्णन मे कूट-रचना का अवकाश उतना नही होता, जितना दृढ भक्ति-भावना से प्रेरित शृंगारी दृश्यो के चित्रण में होता है, क्योकि इस प्रकार के चित्रण मे लौकिक और धार्मिक दोनो ही दृष्टियो से गोपन की अपेक्षा होती है। मधुरा-भक्ति का विकास वास्तव मे एक प्रबल सम्प्रदाय के रूप मे हो गया था। अतः उसका वर्णन करने केलिए कवि स्वभावतः अपने सम्प्रदाय की गोपनीयता की रक्षा केलिए बाध्य था। .... प्रसंगवश साहित्य-लहरी मे एक और भी प्रयोजन की सिद्धि की गई है — वह है नायिका भेद, विविध स्थायी और संचारी भाव तथा अलंकार आदि रीति-शास्त्रीय विषयों का विवेचन।'

—कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० १३१-३२

३.—कूटकाव्य—एक अध्ययन, पृ० २८७ से उद्धृत

तथा—

'एक सुहागिन जगत पियारी, सकल जीव जंत की नारी ।।टेक।।
खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै ।
रखवाले का होइ विनास, उतहि नरक यत भोग विलास ।।
सुहागनि गलि सोहै हार, संतनि विख विलसै संसार ।
कहै कबीर इव बाहरि परी, संसारी कै अचल टिरी ।।'[1]

दोनों पदो मे, प्रयोक्ता भेद के कारण शब्दावली मे भी अन्तर है । उलटवाँसी-पदो की साम्प्रदायिक तथा लोक-व्यवहार की शब्दावली होती है और लगभग सभी उलटवाँसियो की रचना नाथ-योगियो और निर्गुण सन्त कवियो द्वारा हुई है । यदि प्रयोक्ता-भेद तथा शब्दावली को छोड़ दिया जाय तो सूरदास का उक्त दृष्टकूट-पद उलटवाँसी शैली के अन्तर्गत आयेगा । पर, 'प्रभु समीप' आदि शब्दो के प्रयोग से भक्ति-भावना अधिक मुखर हो उठती है, गोपन की प्रवृत्ति कम । विनय के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के दृष्टकूट और उलटवाँसी-पदो मे स्पष्ट अन्तर रहता है ।

उक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उलटवाँसी और दृष्टकूट ये दोनों पद-रचनाएँ पृथक्-पृथक् है । उलटवाँसी मे 'असम्बद्धता' सर्व प्रमुख और अनिवार्य तत्त्व हैं, जिसके गर्भ मे प्राय. किसी न किसी प्रकार का विरोध विद्यमान रहता है । उलटवाँसी-रचना की अपनी विशेष शब्दावली होती है, जिसके द्वारा प्रयोक्ता किसी न किसी प्रकार की साधनात्मक अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करता है । दृष्टकूट-शैली अपनी गूढार्थकता मे उलटवाँसी के समान ही है । यदि प्रयोक्ता और शब्दावली भेद न किया जाय तो सूर के कुछ 'विनय' प्रधान दृष्टकूट-पद अपनी रूप-रचना मे उलटवाँसी ही हैं । दृष्टकूट पदो में—'अद्भुत एक अनूपम बाग ।'

जुगल कमल पर गजवर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग ।।'[2] जैसे असम्बद्धता प्रधान कथन भी रहते है, जिनमे, उलटवाँसी-रचना के समान ही अद्भुत तत्त्व विद्यमान रहता है । फिर भी दोनो शैलियो मे अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं । उलटवाँसी-पद का अर्थोद्बोधन होने पर पाठक या श्रोता के सम्मुख साधनात्मक अथवा वैचारिक तथ्य प्रस्तुत होते हैं, जबकि दृष्टकूट-पद मे शृ गार अथवा काव्यशास्त्रीय ज्ञान सम्बन्धी विदग्धता का प्रदर्शन रहता है । इसमे प्रयोक्ता अपने काव्यशास्त्रीय मत की प्रतिष्ठा केलिए, प्रयत्न-पूर्वक अर्थ को गुह्य रखता है, जबकि उलटवाँसियो मे—साधक की जिज्ञासा बढे, संसारी सजग और सचेष्ट हो, योग्य पात्र तक ही ज्ञान की पहुँच हो सके, लोक-मान्य 'पण्डित' चमत्कृत हो, इसीलिए लोक विरोधी मार्ग अपना कर, अर्थ को गुप्त रखा जाता है । दृष्ट-

१.—कबीर ग्रथावली, पृ० २११
२.—सूर-सागर, दशम स्कन्ध, पद २०२८

कूट पद-रचना का प्रयोजन शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर विदग्धत लोगो को चमत्कृत करना है। इसमे श्लेष, पर्यायवाची शब्द और कवि-प्रसिद्धि के द्वारा मानसिक व्यायाम कराना प्रयोक्ता का मन्तव्य रहता है, जबकि उलटबाँसियो का प्रयोजन साम्प्रदायिक रूढ़ियो, साधनात्मक अनुभूतियो और वैचारिक-दशा का वर्णन विशेष प्रकार की शब्दावली के माध्यम से होता है। सन्त लोग वाणी के अटपटेपन के द्वारा साधक या श्रोता को जीव-जगत् की यथार्थता की ओर प्रवृत्त करते है। इसीलिए उलटबाँसी-पद का अर्थ प्रकाशित होते ही, एक विशेष प्रकार की जानकारी प्राप्त होती है, जिसमे श्रोता या पाठक विस्मय-विमुग्ध-सा दिखाई देता है। जबकि दृष्टकूट-पद के शब्दो की तह मे अकगणित के प्रश्न के समाधान के समान तात्कालिक तृप्ति का अनुभव होता है। अतः यदि दृष्टकूट-पद मे बुद्धि की परीक्षा है, तो उलटबाँसी मे बुद्धिपूर्वक साधनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। दोनों के क्षेत्र पृथक्-पृथक् है।

(११) पहेली – सस्कृत की प्रहेलिका-रचना (प्रहिलति अभिप्राय सूचयति) पहेलियो मे सम्यक् रूप से देखने को मिलता है। हिन्दी मे पहेलियो का क्षेत्र-लोक-जीवन तक फैला हुआ है।

पहेली के शिल्प को देखकर कभी-कभी 'पहेली' रचना मे उलटबाँसी का और उलट-बाँसी-पद मे पहेली का सन्देह हो जाना स्वाभाविक है। उदाहरण केलिए निम्नलिखित पहेली-रचना उलटबाँसी जैसी लगती है—

'देखी एक अनोखी नारी। गुण उसमे एक सबसे भारी॥
पढ़ी नहीं यह अचरज आवै। मरना जीना तुरत बतावै॥'

अथवा— 'एक नार ने अचरज किया। साँप मार पिंजरे में दिया॥
ज्यो ज्यो साँप ताल को खाय। सूखे ताल साँप मर जाय॥'[1]

इसी प्रकार निम्नलिखित उलटबाँसी-पद, अपनी रूप-रचना मे, पहेली जैसा भ्रम उत्पन्न करते हैं—

(क) 'बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन-सिषर महिं बालक बोलै ताका नांव धरहुगे कैसा॥'[2]

(ख) 'कुअटा एकु पंच पनिहारी। टूटी लाजु भरै मतिहारी।
कहु कबीर इकु बुद्धिबिचारी। ना ऊ कुअटा ना पनिहारी॥'[3]

(ग) 'एक सुहागिन जगत पियारी, सकल जीव जंत की नारी।
खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै॥'[4]

---

१ —अमीर खुसरो की पहेलियां (—हिन्दी-काव्य मे अन्योक्ति, पृ० १०६ से उद्धृत)
२ —गोरख-बानी, पृ० १
३.—कबीर ग्रथावली, पृ० २६८ (परिशिष्ट); ४.—कबीर ग्रथावली, पृ० २११

शिल्प में अर्थ-गोपन-साम्य होने पर भी दोनो शैलियो का अपना भिन्न क्षेत्र है। उलटवाँसी-पदों जैसा भाव-विस्तार पहेली का कलेवर समाहित नहीं कर सकता। यद्यपि दोनों शैलियों की वाक्य-रचना अपनी विशिष्ट शब्द-योजना के द्वारा गूढ़ार्थ प्रतीति की पुष्टि करती है। दोनों ही का प्रारम्भ प्रयोक्ता की विशेष मानसिक स्थिति की अभिव्यक्ति केलिए हुआ है। दोनो में प्रतीक-सकेतो का उपयोग किया जाता है। पर पहेली-रचना का उद्देश्य गोष्ठी में क्रीड़ा या विनोद कराना, दूसरे की वुद्धि में, अन्य के वर्णन से अन्य का आभास कराने के रूप में, व्यामोह उत्पन्न कराना रहता है।'[1] पहेलियों मे मनोरंजन तो रहता है, परन्तु यह मनोरजन वाल-क्रीड़ा न होकर वुद्धि-लभ्य होना है।[2] परन्तु उलटवाँसियों का उद्देश्य मनोरंजन कराना न होकर विशेष प्रकार की असम्बद्ध पद-रचना के द्वारा चित्तवृत्ति को केन्द्रित कराना रहता है। इनमे साधक की अनुभूति को वाणी मिलती है। पहेली से वुद्धि-परीक्षा होती है, पर उलटवाँसी मे वुद्धि तत्त्व की प्रधानता रहते हुए भी रचना-कौशल के प्रदर्शन का उद्देश्य नहीं रहता।

शिल्प की दृष्टि से भी दोनो में अन्तर है। उलटवाँसियो की प्रथम एक या दो पंक्तियों की तथा अन्तिम पंक्ति की योजना इस शैली की स्वतन्त्र घोषणा करती है। पहेली में शब्द की श्लेष-शक्ति का विशेष उपयोग किया जाता है, परन्तु उलटवाँसी मे कभी-कभी ही, अयत्नज रूप मे, श्लेष रहता है। उलटवाँसी-पदो की शब्दावली सम्प्रदाय विशेष अथवा परम्परा से गृहीत रहती है, जबकि पहेली-रचना मे ऐसा नहीं होता। अर्थ खुलते ही पहेली सम्बन्धी कुतूहल शमित हो जाता है, पर उलटवाँसी-पद का अर्थ-ग्रहण होते ही प्रारम्भिक जिज्ञासा वलवती होकर अनुरणन को और अधिक सघन वनाती है, क्योंकि पहेली में किसी वस्तु-विशेष का वर्णन रहता है, पर उलटवाँसी मे वैचारिक या साधनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति। पहेली मे प्राय. रचनाकार का नाम नहीं रहता, उलटवाँसी-पदो मे प्राय ऐसा देखने को मिलता है। पहेली का उत्तर प्राय एक शब्द में ही रहता है, उलटवाँसी में

---

१. 'क्रीड़ागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
पर व्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः ॥' —काव्यादर्श, ३।९७
तथा 'ऐसा वाक्य जिसमें किसी वस्तु का लक्षण घुमा फिरा कर अथवा किसी भ्रामक रूप से दिया गया हो और उसी लक्षण के सहारे उसे बूझने अथवा उसका नाम वताने का प्रस्ताव हो। किसी वस्तु या विषय का ऐसा वर्णन जो किसी दूसरी वस्तु या विषय का वर्णन जान पड़े और बहुत सोच-विचार से उस पर घटाया जा सके।' —हिन्दी शब्द सागर (तीसरा भाग), पृ० २०५१

२. 'पहेलियाँ केवल बच्चों के मनोरञ्जन की वस्तु नहीं, वे समाज विशेष की मनोदशा को प्रकट करती हैं और उसकी रुचि पर प्रकाश डालती हैं। वे बुद्धिनापक भी हैं।' —हिन्दी साहित्यकोश (पहला भाग), पृ० ४५०

'बूझने' की बात तो रहती है, परन्तु प्रयोक्ता उसके उत्तर केलिए दूसरे पक्ष पर निर्भर नही करता। वरन् स्वयं ही उसकी व्याख्या कर देता है।

(१२) कह मुकरनी या मुकरी—पहेली के समकक्ष ही कह मुकरनी या मुकरी शैली प्रचलित है। रचना की दृष्टि से यह कूट-वर्ग मे आती है। इस का उक्ति वैचित्र्य पहेली जैसा रहता है। हिन्दी मे अमीर खुसरो ने पहेलियो के साथ-साथ मुकरियो की रचना भी की है। 'उन्होने इस लोक-काव्य-रूप को साहित्यिक रूप प्रदान किया है। अलकार की दृष्टि से इसे छेकापह्नुति कह सकते है, क्योकि इसमें प्रस्तुत अर्थ को स्थापित किया जाता है।'[1]

'मुकरी' रचना मे ऐसा बात कही जाती है, जिसमें प्रयोक्ता विषय के प्रति, मुकरते-इन्कार करते हुए, अपना मन्तव्य प्रकट करता है। मुकरते हुए प्रधान अर्थ की स्वीकारोक्ति होती है। अत. इसमे उक्ति वैचित्र्य ही दृष्ट रहता है, जिसमे रचयिता अर्थश्लेष के बल पर, प्रस्तुत सत्य के अर्थ प्रकट होने के पूर्व ही समान गुण, क्रिया वाले अप्रस्तुत की ओर अर्थ लगाकर, प्रकट होते हुए प्रस्तुत से मुकर जाता है। उदाहरण केलिए अमीर खुसरो की दो मुकरियाँ द्रष्टव्य है—

उदाहरण-१—'सारी रैनि मोर संग जागा। भोर भई तब बिछुड़न लागा॥
उसके बिछड़त फाटत हिया। ए सखि साजन, ना सखि, दिया॥'

उदाहरण-२—'सोभा सदा बढ़ावन हारा। आंखिन ते छिन करूं न न्यारा॥
आठ पहर मेरा मन रंजन। ए सखि साजन, ना सखि अंजन॥'[2]

सम्पूर्ण रात्रि साथ-साथ जागना, प्रभात होते ही बिछुडने लगना, साजन और दिया दोनो ही पक्षो मे घटित होता है। इसीप्रकार शोभा बढ़ाने वाला, आँखो से दूर न होने वाला, मन को आनन्दित करने वाले लक्षण, साजन और अंजन दोनो ही पक्षो पर लगते है, परन्तु प्रयोक्ता वाणी-कौशल से, प्रस्तुत सत्य के अर्थ प्रकट होने से पूर्व ही, अप्रस्तुत साजन की ओर सकेत करके प्रस्तुत 'दिया' और 'अजन' से मुकर गया है। इस प्रकार इस रचना का उद्देश्य बुद्धि-चातुर्य के द्वारा मनोरंजन मात्र कराना है। उलटवाँसी शैली मे न तो इस प्रकार की मुकरने वाली बात ही रहती है और न उसका उद्देश्य मनोरजन कराना ही है।

(१३) बुझौवल—बुझौवल में कोई ऐसी बात पूछी जाती है, जिसका उत्तर बुद्धि-कौशल की अपेक्षा रखता है। इस शैली का वर्ण्य साकेतिक भाषा मे निहित रहता है। अतः सकेतार्थ सदा ही अभिधा की सीमा का अतिक्रमण करता है और उस सकेतार्थ की

---

१. —हिन्दी साहित्य कोश (पहला भाग), पृ० ५६५
२. —हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, 'हरिऔध' (पृ० १०७ से उद्धृत)

उपलब्धि बुद्धि-वृत्ति द्वारा ही सभव रहती है। अपने इस रूप में वह पहेली जैसी रहती है, परन्तु बुझौवल की योजना किसी पूर्व या पश्चात् प्रसग की अपेक्षा रखती है, जबकि पहेली में इस प्रकार का साभिप्राय प्रसग का होना आवश्यक नहीं।[1] इस शैली मे 'बूझै' आदि क्रिया-पदों की प्रधानता रहती है। अर्थ-गोपन और 'बूझै' आदि का कही-कही साम्य होने पर भी उलटवाँसी और बुझौवल में प्रयोजन और प्रयोक्ता-भेद से पर्याप्त अन्तर है।

उलटवाँसी और कुछ अन्य प्रादेशिक शैलियाँ :

उलटवाँसी के समान प्रादेशिक भाषाओं में कुछ प्रचलित काव्य-शैलियाँ मिलती हैं, जो अपनी गूढ़ार्थ-रचना केलिए प्रसिद्ध हैं। उनमे उलटवाँसी से कही प्रयोक्ता-साम्य और कहीं प्रयोग-साम्य देखने को मिलता है। वे है—

(१) बाउल-गीत (बंगाली)—वग-भूमि मे बाउल-गीतो का विशेष महत्त्व है। इन्हें 'उलटा बाउल' भी कहते हैं। इन गीतो की शैली उलटवाँसीशैली मे प्रयुक्त योग-परक रूपकों से साम्य रखती है।[2] 'बाउल' या 'बाउर' शब्द वातुल (विक्षिप्त), व्याकुल (आर्त्त), भगवद् प्रेम-विभोर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[3] ऐसे व्यक्ति की वाणी लोक-जीवन से भिन्न अथवा विचित्र रहती है, जिसमे लोक-धारा से विपरीत कथन होते है।[4] उलटवास करने

---

१. 'बुझौवल केलिए प्रसंग प्रस्तुत करने के साथ एक कहानी की आवश्यकता होजाती है। उस कहानी में बुझौवल का उपयोग केवल उक्ति चमत्कार केलिए नही होता, अभिप्राय सिद्ध करने केलिए होता है। ऐसी बुझौवलो का एक प्रकार ऐसा हो सकता है, जिसमें सिद्धान्त-परीक्षण हो, किसी को कोई बात सिद्धान्त रूप मे दे दी गई और उसने उसकी परीक्षा करके उसे सत्य पाया। दूसरे प्रकार की बुझौवल मे किसी पदार्थ के रूप मे पहेली बूझी जाती है। बुझौवल के द्वारा वार्तालाप भी हो सकता है।' —हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग), पृ० ५१७

२. 'सॉंग्स ऑफ दि टाइप, ह्विच आर स्टिल नाउ टु बी हीअर्ड इन दि रूरल एरियाज, पर्टीकुलरली ऑफ बगाल, आर जनरली नोन एज दि सांग्स ऑफ दि उल्टा बाउल।···दि एनिगमेटिक स्टाइल वाज ए पोपुलर टेक्नीक ऑलसो विद दि वैश्नव सहजीयाज एण्ट दि बाउल्स ऑफ बगाल। दि रागात्मिक पदाज ऑफ चण्डीदास आर फुल टेक्नीकलटीज एण्ट रिडिल्स।' —ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० ४२३

३.—ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० १६१

४. 'दे प्रॉमीड इन ए डाइरेक्शन अपोजिट टु दैट फॉलोड बाइ दि जनरल रन ऑफ प्यूपिल······। इट इज फोर दिस रीजन दैट दि बाउल्स बुड कॉल देअर पाथ 'उल्टा' (दि रिवर्स) एण्ड वुड कॉल दि प्रॉसेस ऑफ देअर सिद्धुना एक्शन एज दि प्रॉसेस ऑफ प्रोसीडिंग अगेन्स्ट दि करेण्ट।' —ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० १६३

वाले साधक को 'उलटवासी' कहते है और तात्पर्यवृत्ति से उसकी वाणी 'उलटवाँसी' रूप में जानी जाती है।[१] इसीप्रकार बगाली-साहित्य मे विशेष साधको को 'बाउल' नाम से जाना जाता है और उनकी वाणी को विशेष पद-रचना के रूप मे बाउल-गीत कहा गया है। इस प्रकार दोनो काव्य-रूपो मे आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति विद्यमान है। दोनो की काथनिक वक्रता विपरीत क्रम को महत्त्व देती है। अन्तर इतना ही है कि उलटवाँसी की भाँति बाउल गीतो मे पडित, अवधू, पाडे आदि को, अर्थोद्‌बोधन केलिए चुनौती का सा स्वर नहीं रहता। और न प्रकृति-विरोध, विधि-विरोध आदि के रूप मे असम्बद्धता को ही आश्रय मिलता है। बाउल-गीतो का सम्बन्ध व्यक्ति-साधना से अधिक है, तो उलटवाँसी-पदो में लोक को अभिभूत करने का तत्त्व भी प्रखर है।

(२) भारूड गीत (मराठी)—बाउल-गीतो के समान मराठी-साहित्य मे भारूड-गीतों का प्रचलन मिलता है। मराठी के मध्यकालीन सन्तों द्वारा इस शैली का प्रयोग दार्शनिक अथवा ज्ञान-दशा की अभिव्यक्ति केलिए किया गया है। भारूड-कथन-शैली, कूट प्रश्न, पहेली, बुझौवल, रूपकादि के रूप मे मराठी-साहित्य मे व्यवहृत है।[२] यह शब्द बहुरूढ़ अथवा बहु-प्रचलित के रूप में प्रयुक्त हुआ है। सम्भव है महाभारत की कूट शैली के आधार पर, भारत-रूढ़∠रूड के रूप मे इसे ग्रहण किया गया हो।[३]

सयोग की बात है कि जिस काल मे, हिन्दी मे उलटवाँसी-प्रयोग उत्कर्ष पर थे, उसी समय, लगभग उसी प्रकार की अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करने केलिए, मराठी-साहित्य में, लोक-जीवन का स्पर्श करती हुई, भारूड-शैली प्रचलित थी। जैसे कबीर, धनी धर्मदास, सुन्दरदास आदि सन्तो की उलटवाँसियो ने प्रसिद्धि पाई है, उसी प्रकार ज्ञानेश्वर नामदेव, परमानन्द, एकनाथ आदि के भारूड-गीत प्रसिद्ध है।

भारूड-शैली मे उलटवाँसी के समान असम्बद्धता के गर्भ में विरोध तत्त्व को तो प्रश्रय नही मिलता, परन्तु रूपकात्मक तत्त्व के बल पर प्रतीकात्मक, साकेतिक शब्दो की योजना से भारूड-गीतों का रूप-विधान हुआ है। कबीर के 'आध्यात्मिक विवाह' के समान भारूड-गीतो मे, निरजनी-जीवन व्यतीत करने केलिए चर्चा रहती है। इस प्रकार के आध्यात्मिक रूपको की सृष्टि केलिए गारूडी, डोम्बाडी, जोगी, जगम आदि मानवीय सृष्टि के अनेक अगो तथा मानवेतर जीवो को प्रतीकत्व प्रदान करके दार्शनिक तत्त्व अथवा लोक-प्रचलित साधना के विभिन्न रूपो का वर्णन किया जाता है। भारूड-गीतो मे गेयत्व की प्रधानता के कारण ही सन्त कवियो ने इस शैली के द्वारा जनता को प्रभावित किया है। शिल्प की दृष्टि से ये भारुड-गीत दस पक्तियो से लेकर पचास पक्तियो तक के होते है।

---

१. देखिए 'उलटवाँसी' शब्द की व्युत्पत्ति (उलटवाँसी-साहित्य, प्रथम अध्याय)
२. —मराठी से हिन्दी शब्द संग्रह, पृ० ३३४
३. —महाराष्ट्र शब्दाकोप (पाँचवाँ भाग),

इस शैली के उदाहरण के रूप मे एकनाथ जी के प्रसिद्ध भारुड देखे जा सकते हैं। भारुड पद-रचना का विवेचन मराठी-साहित्य मे सम्यक् रूप से हुआ है।[1]

(३) हियालीसंज्ञक रचनाएँ (राजस्थानी)—बौद्धिक-परीक्षा के रूप मे 'हियाली' को पहेली के समकक्ष एक काव्य शैली माना जाता है। श्री अगरचन्द नाहटा ने 'हियाली' शब्द का प्राचीन प्रयोग १२वी, १३वी शताब्दी का माना है।[2] हिन्दी मे गूढार्थक-शैली के रूप मे उलटवाँसी-पद केलिए गोरखनाथ ने भी 'हियाली' शब्द का प्रयोग किया है।[3] परन्तु बुद्धि-तत्त्व के अतिरिक्त दोनो का अपना पृथक्-पृथक् क्षेत्र है। हियाली संज्ञक रचनाएँ पहेली वर्ग की हैं। राजस्थानी मे, बुद्धि-परीक्षा के रूप में इसके आड़िये, गूढा, सउत्तरा, अतर्लापिका, बहिर्लापिका आदि कई रूप प्रचलित है।[4] इन हियालियों की रचना का मुख्य उद्देश्य बुद्धि-परीक्षा पूर्वक मनोरंजन कराना रहता है। हियालियो की रचना केलिए राजस्थनी

---

१. देखिए—श्री एकनाथ-दर्शन (खड पहला), पृ० १७०-२४७

२. 'जैन कवियों ने हियाली संज्ञक ऐसी बहुत सी रचनाएँ की है, जो बडी ही समस्या मूलक होती हैं। हियाली शब्द का सबसे प्राचीन उल्लेख प्राकृत भाषा के 'वज्जालग्ग' ग्रन्थ में देखने को मिलता है। उसमे दी हुई हियालियो से परवर्ती प्राचीन राजस्थानी भाषा की हियालियें कुछ भिन्न प्रकार की है। इससे हमे हियाली के स्वरूप-विकास की जानकारी मिल जाती है।'

—प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा, पृ० १४७

३. 'याहि हियाली जे कोई बूझै, ता जोगी कौं तृभुवन सूझै ॥'

—गोरख-बानी, पृ० १२०

४. 'राजस्थान में विवाह आदि के समय जामाता को सालियाँ, ससुराल मे रात्रि के समय उसकी बौद्धिक परीक्षा केलिए अनेक प्रकार की आड़िये-पहेलियें पूछती हैं। यदि जामाता उनका ठीक से उत्तर नहीं दे पाता तो उसे नीचा देखना पडता है। गीत गाने वाली स्त्रियाँ भी एक ऐसा गीत गाया करती हैं, जिसमें अटपटी बातें (हियालियाँ) कही जाती है, उन समस्याओं का उत्तर जमाई से पूछा जाता है। ये पहेलियाँ विविध प्रकार की होती है, कुछ की संज्ञा 'गूढा' है जिनमे भाव गूढ (गुप्त) रहता है, कुछ गुरु-चेलों के दोहों के रूप में प्रसिद्ध हैं, जिनमें तीन-तीन बातों का उत्तर एक शब्द द्वारा दिया जाता है।......कई सखियो से प्रश्न के रूप में भी ऐसे प्रश्न 'सउत्तरा' के नाम से पूछे जाते हैं। श्रीयुत मनोहर शर्मा के राजस्थान की पहेलियों के सम्बन्ध में कई लेख 'राजस्थान भारती', 'वरदा' आदि में प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें लोक प्रचलित पहेलियो के विविध उदाहरण संग्रहीत हैं। अतर्लापिका, बहिर्लापिका समस्यापूर्ति आदि रचनाएँ भी बुद्धि वर्द्धक होती हैं।'

—प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा, पृ० १४६

के प्रसिद्ध कवि समय सुन्दर (१७वी शताब्दी) का नाम उल्लेखनीय है।[1] हियाली सज्ञक रचना मे 'पडित' के चातुर्य को चुनौती का स्वर रहता है, परन्तु वह स्वर उटलवॉसी के समान साधना सम्बन्धी ज्ञान अथवा अर्थोद्‌बोधन केलिए नही रहता। पहेली के समान हियाली मे भी प्राय एक ही शब्द में उत्तर रहता है। 'मुकरी' के समान इसमे भी समान गुण-क्रिया वाले अप्रस्तुनो की योजना रहती है, जो अर्थश्लेप के बल पर एकाधिक पक्षो पर चरितार्थ होती है। कथन के गर्भ मे कही-कही उलटवॉसी जैसा विरोध भी देखने को मिलता है। उदाहरण केलिए कविवर धर्म-सी (धर्म वर्द्धन) का एक हियाली-पद, जिसमे एक पुरुष (मन) का वर्णन गूढार्थक शैली मे है, देखिए—

'अरथ कहो तुम वहिलो एहनो, सगर हियाली है सार। चतुरनर।
एक पुरुष जग माहे परगड़ो, सहु जाणे संसार ॥१॥ च०॥
पग विहुणो परदेसे भमे, आवे तुरतउ जाय।
बैठी रहे आपणे घरि बापड़ो, तो पिण चपल कहाय ॥२॥ च०॥
कोइक तो तेहनै राजा कहै, कोई तो कहै रंक।
सांचो सरल सुजांण कहै सहु, बलि तिण गाहे रे वंक। ३॥ च०॥
पोते स्वरथ सु पांचा मिलै, आप मुरादो रे एहु।
धन तिकै नर कहै थी धर्मसी, जोपै तेह रे जेह ॥४॥ च०॥'[2]

विदेशी भाषाओं की कुछ समकक्ष शैलियाँ :

(१) इशारियत—प्राचीन अरबी-फारसी साहित्य मे प्रयोक्ताओ ने वैचारिक स्थिति को अभिव्यक्ति देने केलिए 'इशारियत' रचना शैली को विशेष रूप से अपनाया है। इस शैली मे अर्थश्लेष के बल पर, लौकिक उदाहरणो को देकर अलौकिक जगत् की बात कही जाती है।[3] उस अलौकिक दशा (हक) की स्थिति को अभिव्यक्ति देने केलिए, अप्रस्तुत के रूप

---

१ 'जैन कवियो के रास आदि ग्रन्थो से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल मे नवदम्पत्ति एक दूसरे की बुद्धि-परीक्षा और मनोरजन दूहा, गूढा, छन्द, हियाली और चौबोली आदि की वार्ताएँ कह कर किया करते थे। कवि समय सुन्दर ने 'नल दमयन्ती' चौपाई मे नव दम्पत्ति के रात्रि के समय विनोद वार्त्ता करने के प्रसग मे कहा है—

'कबही चोबोली कहै, दूहा गूढा छन्द।
हियाली हूंसे कहै, अहनिशि करै अनन्द ॥'

—प्राचीन काव्यो की रूप परम्परा, पृ० १४७ से

२.—प्राचीन काव्यो की रूप परम्परा, पृ० १४६ (से उद्‌धृत)

३. 'फारसी कवि मे श्लेषात्मक और अतिशयोक्तिपूर्ण प्रयोगो की प्रवृत्ति का बाहुल्य है। प्रयोगो की निपुणता के कारण उनके काव्य मे अर्थवैचित्र्य का पूरा समावेश हो जाता है। फारसी-कवि जब लौकिक प्रेम के गीत गाने लगता है तब उस केलिए

(शेष अगले पृ०)

मे बादः-ओ-सागर (मधु और मधु-पात्र) को माध्यम बनाना ही पड़ता है।[1]

उलटबाँसी शैली के समान इशारियत में भी वैचारिक तथा साधनात्मक अवस्था की अभिव्यक्ति केलिए कुछ विशेष प्रतीको के पीछे मन्तव्य को निहित रखा जाता है। परन्तु उलटबाँसी के समान असम्बद्धता के गर्भ मे निहित विरोध जैसा अनिवार्य तत्त्व इशारियत (तमसील, रमज़ीअत) मे देखने को नही मिलता। साथ ही इशारियत के प्रयोक्ता एकमात्र साधक न होकर उच्चकोटि के कवि है। इनमें सनायी (११वी शताब्दी), फरीरुद्दीन अत्तार (११वी), जलालुद्दीन रूमी (१२वी) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[2] अत्तार की एक मसनवी 'मान्ताक्वैर' (Montiquttair=Speech of Birds) प्रसिद्ध है। 'मसनवी ऑफ मौलाना रूमी' (वौल्यूम I) की पहली 'हिदायत' मे रूमी साहब ने एक कहानी के प्रारम्भ में कहा है दोस्तो मे एक कहानी सुनाता हूँ। यह कहानी वह है जो हम सब पर बीतती है। कहानी का उदाहरण समझाने भर केलिए है।' सक्षेप मे कहानी इस प्रकार है—एक राजा एक लड़की पर आकृष्ट होकर उसे खरीद लेता है, परन्तु वह उसके घर आकर बीमार हो जाती है। स्वप्न मे, राजा को उसकी खुशहाली केलिए कुछ सकेत मिलते हैं। दूसरे दिन, स्वप्नानुसार एक फकीर आता है और उस लड़की से अनेक प्रकार के प्रश्न करके. उसके उत्तरो के आधार पर वह उसकी बीमारी का मूलकारण जान लेता है। वह राजा को बताता है कि यह लड़की समरकन्द के एक सुनार से प्रेम करती है उस दुरवेश गुरु के निर्देशानुसार राजा उस सुनार को वहाँ से बुलवा लेता है और बड़ी चतुराई से, अप्रत्यक्ष रूप मे उसे कुरूप करा देता है। उसकी कुरूपता को देखकर लड़की स्वय ही उससे प्रेम करना छोड़ देती है और स्वस्थ हो जाती है। तब से वह एकचित्त होकर बादशाह के साथ रहने लगती है।' इस कहानी मे बादशाह 'रूह' (आत्मा) है, जिसका सम्बन्ध 'नफी' (लडकी=मन) से है। पहले वह 'नफी' (रूप मन) बादशाह के मार्ग से हटकर दुनियादारी के आकर्षण मे फँस जाती है। पुन. गुरु की कृपा से उसके सासरिक बन्धन कट जाते हैं और वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेती है। इस कहानी का रूप प्रतीका-

---

उद्दीपन विभावनाएँ अपने आपमे कुछ महत्त्व नहीं रखतीं, बल्कि उसकेलिए प्रधान वस्तु हो उठती है उसकी प्रतीकात्मकता। वह साकी, शराब, मैखाना, बुलबुल आदि के गीत गाता है, लेकिन ये वस्तुएँ उसकेलिए अपने आपमें प्रधान नही रहती, बल्कि वह उनसे एक विशेष सन्देश, एक विशेष भाव की अपेक्षा रखता है।...... फारसी के पुराने कवियो की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि उन्होंने वर्ण्य-विषय से अधिक शैली पर ध्यान दिया है।'

—सूफीमत साधना और साहित्य, पृ० ५२६

१. 'हरचन्द हो मुशाहद-ए-हक की गुफ्तगू,
बनती नही है बाद.-ओ-सागर कहे बिगैर।' —दीवान-ए-गालिब,

२. 'सनायी इज़ दि फर्स्ट ऑफ दि थ्री ग्रेट मिस्टीकल मसनवी (Mathnavi) राइटर्स ऑफ पर्सिया, दि सैकिण्ड बीइङ्ग शेख फरीरुद्दीन अत्तार एण्ड दि थर्ड जला-लुद्दीन रूमी।' —ए लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ पर्सिया (वौल्यूम II), पृ० ३१७

त्मक है, जिसके माध्यम से प्रयोक्ता की वैचारिक दशा को अभिव्यक्ति मिली है।

(२) एनिगमा, मिस्ट्री, पज़िल आदि: बुद्धि-परीक्षा केलिए अंग्रेजी साहित्य मे एनिगमा, सिन (syn), मिस्ट्री, पज़िल, रिडिल आदि रूप प्रचलित है। इन सभी रूपो मे किसी न किसी प्रकार से अर्थ को निगूढ रखा जाता है। इन सभी रूपों का प्रयोजन प्रतिपक्षी की बुद्धि-परीक्षा अथवा कथ्य की निगूढता मात्र है, जबकि उलटवाँसी मे कथन की निगूढता का उद्देश्य, योग्यपात्र को ज्ञान प्राप्ति और साम्प्रदायिक साधना को गुह्य रखना आदि रहता है। उक्त शैलियो का अर्थ की निगूढता मात्र केलिए उलटवाँसी से रूपसाम्य है। अन्यथा उलटवाँसी शैली का सम्बन्ध साधनात्मक अभिव्यक्ति से है। वैसे 'एनिगमा'[1] और 'सिन'[2] रूप मे भी कही-कही विरोधी तत्त्वों की योजना रहती है। पर 'पज़िल'[3] और 'रिडिल'[4] रूपो में बौद्धिक-व्यायाम ही रहता है।



---

१. 'एनिगमा—टु स्पीक इन रिडिल, एन इन्टेंशनली ऑब्सक्योर स्टेटमेन्ट दैट डिपैण्ड्स फौर फुल कोम्प्रीहेन्शन ऑन दि एलर्टनेस एण्ड इन्जैन्युटी ऑफ दि हीअरर और रीडर; ब्रौडली एन ऑब्सक्योर स्पीच और राइटिंग, एन इनकौम्प्रीहैन्सीबिल मिक्चर ऑफ अपोज्ड क्वालिटीज।' —वैबस्टर्स थर्ड न्यू इण्टरनेशनल डिक्शनरी ऑफ दि इगलिश लैंग्वेज (वौल्यूम I), पृ० ७५३

२. 'सिन-पज़िल, रिडिल, एनिगमा, पज़िल-एप्लाईज़ टु एनी प्रौबलेम नोटेबिली बैफलिंग एण्ड चेलैंजिंग इन्जैन्युटी और स्किल; रिडिल—इण्डीकेट्स ए क्युश्चन और प्रौबलेम इन्वोल्विंग पैराडौक्स और कन्ट्राडिक्शन्स, प्रौपोज्ड फौर सौल्यूशन एज़ एन इण्डीकेशन ऑफ विट और इन्टलैक्ट्स।'—वही, (वौल्यूम II), पृ० १४६७

३. 'पज़िल-टु मेक इट डिफीकल्ट फौर ए परसन, टु प्रौसीड एलोग इन एमेण्टली लैबोरियस मैनर, टु एक्सरसाइज़ वस माइण्ड, ए क्युश्चन, प्रौबलेम और कण्ट्रीवास डिज़ाइण्ड फौर टैस्टिंग इन्जैन्युटी।' —वही, (वौल्यूम II), पृ० १८५१

४. 'रिडिल-टु फाइण्ड दि सौल्यूशन ऑफ एक्सप्लेन, इण्टरप्रेट, टु क्रिएट और सेट ए रिडिल फौर, टु स्पीक इन और प्रोपाउण्डड रिडिल्स; ए मिस्ट्रीफाइंग, मिसलीडिंग और पज़लिंग क्युश्चन पोज्ड एज़ ए प्रौब्लेम टु बी सौल्व्ड और [illegible] —वही, (वौल्यूम II),

उपसंहृति

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥'[1]

अर्थात् स्वयम्भू ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। इससे जीव बाह्य को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए इन्द्रियों को रोक लिया है, ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है।

साधक के अन्तर्मुखत्व की अवस्था को प्राप्त होने पर, विचारात्मक अनुभूति, की अभिव्यक्ति की समस्या का प्रश्न, अपनी सूक्ष्मता के कारण सदा से ही कठिन बना रहा है; क्योंकि अनुभूति की अनिर्वचनीयता को व्यक्त करने मे वाणी सर्वथा समर्थ नहीं हो पाती। उस पर साधनात्मक अनुभूति और भी विचित्र होती है।[2] विचारात्मक अनुभूति को संतुष्ट करने केलिए कविर्मनीषी सन्त प्राचीन काल से ही प्रतीक संकेत, बिम्ब, अप्रस्तुत-विधानआदि की योजना तथा अतिशयोक्ति, असम्बद्धोक्ति, विरोधाश्रित कथनों आदि का प्रयोग करते रहे है। भारतीय वाङ्मय का वैदिक-साहित्य इसका साक्षी है। मनीषी कवियों ने जीव-ब्रह्म की विशेष अवस्था, जगत् की स्थिति, वाणी की अन्तर्मुखी सूक्ष्म अवस्था, सूर्य-यज्ञादि के व्यापक प्रभाव का वर्णन अनेक स्थलों पर, विभिन्न रूपकों, प्रतीकों तथा लोक मे असम्बद्ध, विरुद्ध एवं असंगत लगने वाली उक्तियो द्वारा किया है। इस प्रकार वैचारिक अथवा साधनात्मक अनुभूति को व्यक्त करने की समस्या का, उलटबांसी शैली के रूप में, मूलरूप हमें प्रहेलिका मंत्र (रिडिल हिम्स), समाधि-भाषा अथवा रहस्यात्मक 'प्रवल्हिका' शैली में लिखित मंत्रों मे देखने को मिलता है।

मध्यकालीन धार्मिक संस्कृत-साहित्य मे प्रवल्हिकामय शैली का विकास कूट या दृष्टकूट शैली के रूप में देखने को मिलता है। उलटबांसी प्रधान वैदिक प्रवल्हिका शैली के विकास का अवरोध इसलिए भी हुआ कि धार्मिक संस्कृत-साहित्य के समय तक आते-आते

१.—कठोपनिषद्, २।१।१

२. 'जहाँ न जप तप नेम ज्ञान ना ध्यान है।
पानी पवन अकार नाहि ससि भान है ॥
जोग जुक्ति ना सुरति नाहि दिन रात है।
अरे हाँ पलटू, मन बुधि चित ना जाय तहाँ की बात है ॥'
—पलटू साहिब की बानी (भाग दूसरा), पृ० ७८

अवतार की धारणा पुष्ट हो चुकी थी। फलतः उलटवांसी शैली की मूल भावना 'रहस्य' का पोषण आवश्यक न हो सकने के कारण, उलटवांसी-प्रयोग की मूल प्रवृत्ति कूट या दृष्टकूट, प्रहेलिका आदि शैलियो के कलात्मक रूपो मे परिवर्तित हो गई। इतना होने पर भी, इस काल के साहित्य मे साधनात्मक सूक्ष्मता अथवा वैचारिक अनुभूति की अभिव्यक्ति केलिए यत्र-तत्र उलटवांसी शैली का उपयोग किया गया है। कूट-वर्ग की होते हुए भी उलटवांसी-शैली, काव्यशास्त्रीय अथवा व्याकरण शास्त्रीय कौशल मात्र पर आधारित न होने के कारण, दृष्टकूट शैली से भिन्न है।

पालि-साहित्य प्रमुखतः उपदेशात्मक प्रवृत्ति से भरपूर है। अतः, उसमे विरोधाश्रित अथवा रहस्य प्रधान कथन-शैली को प्रतिष्ठा न मिल सकी। फिर भी, विचार-प्रधान बुद्ध-वाणी मे उलटवांसी शैली का एकान्त अभाव नही है। 'धम्मपद' के कुछ पद्यो मे अभिधात्मक असम्बद्धता, विचित्रता के साथ ही प्रतीको के माध्यम से वैचारिक सूक्ष्मता को अभिव्यक्ति मिली है। परवर्ती बौद्ध-साहित्य विभिन्न शाखा-प्रशाखाओ के रूप मे विकसित हुआ है, जिसमे रहस्यात्मक प्रवृत्ति के बढने के साथ-साथ कथन मे अभि-सन्धि, गुह्य की मात्रा तथा चमत्कार-योजना की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। कथन की रहस्यात्मकता के कारण ही सहजयानी सिद्धो की वाणी सध्या-भाषा-शैली के रूप मे प्रचलित और प्रसिद्ध हुई है। प्रयोग-साम्य की दृष्टि से, सध्या-भाषा-शैली मे लिखित सिद्धो की पक्तियाँ, कुछ अशो मे सन्तो की उलटवांसी मूलक पक्तियो मे अथवा कबीर की वानी मे शब्द रूपान्तर से ज्यो की त्यो मिल जाती है।

उलटवांसी शैली के प्रयोक्ता के रूप मे गोरखनाथ का व्यक्तित्व सिद्धो की परम्परा से ही विकसित हुआ है। अनेक उलटवांसी-पद अपने विकसित रूप मे आपकी बानियो मे मिलते है। 'निगुरी' पृथ्वी को प्रलय से बचाने केलिए, उल्टी स्थापना करते हुए[1] गोरख ने वाणी को पलट कर[2] 'उलटी चर्चा'[3] विषयक पद गाए हैं। विषय और शैली दोनो दृष्टियो से गोरखनाथ के उलटवांसी-पद परवर्ती सन्तो की उलटवांसियो केलिए सुदृढ पृष्ठ-भूमि है। उसी पृष्ठ-भूमि को आधार बनाकर उलटवांसीशैली के प्रयोग मे कबीर का प्रतिभा-शाली व्यक्तित्व ऐसी विकास-रेखा खीच सका है, जिसका अतिक्रमण परवर्ती सन्त नही कर सके है। कबीर के उलटवांसी मूलक प्रयोग अनुभूति को यथावत् सतुष्ट करने मे तो सफल हुए ही है, बहुत समय तक लोक-जीवन की धार्मिक जिज्ञासा का समाधान और लोक-मनोवृत्ति को भी तृप्त करते रहे है। आपके उलटवांसी-पदो मे लोक-जीवन की सम्यक् झाँकी देखने को मिलती है।

कबीर के उलटवांसी-प्रयोगो ने, प्रेरणा-स्रोत के रूप मे, परवर्ती सन्तो केलिए ऐसा सुखद प्रासाद निर्मित किया है, जिसमे पैठ कर परवर्ती प्रयोक्ता अपनी बहुविधि कल्पना को इस शैली के माध्यम से व्यक्त करते रहे है। बाद के सन्तो की उलटवांसियो मे प्रतीक-

---

१. गोरख-बानी, पृ० ५२, २. गोरख-बानी, पृ० ३२; ३. गोरख-बानी

चयन तथा छन्द-प्रयोग की दृष्टि से, अपनी पूर्व परम्परा का परिष्कृत रूप दिखाई देता है। प्रतीक-चयन की दृष्टि से सन्त सुन्दरदास के प्रतीको का क्षेत्र व्यापक है और छन्द-चयन की दृष्टि से सुन्दरदास के अतिरिक्त सन्त पलटू साहब, सन्त तुलसी साहब (हाथरस वाले) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रायः सभी सन्तो की उलटवाँसियो मे हठयौगिक साधना, माया का व्यापक प्रभाव, मन की बहिर्मुखता-चचलता, पारिवारिक सम्बन्धो के आधार पर जीवात्मा-परमात्मा के सम्बन्धो का वर्णन तथा विभिन्न प्रकार के साधर्म्य मूलक प्रतीको-सकेतों की योजना, पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग और रूपक तत्त्व को आधार बनाया गया है। उलटवाँसी-पदो मे रूपक तत्त्व की योजना केलिए धनी धरमदास, यारी साहब, जगजीवन साहब, दरिया साहब (मारवाड़ वाले), गुलाल साहब, भीखा साहब, तुलसी साहब (हाथरस वाले) आदि सन्तो के नाम उदाहरणीय हैं। इस प्रकार प्रायः सभी सन्त-कवियो ने विभिन्न प्रकार के प्रभावो और संस्कारो के फलस्वरूप, विभिन्न क्षेत्रो से प्रतीको को चुनकर उलटवाँसी-शैली के माध्यम से अपने साधनात्मक अनुभवो को साकार रूप प्रदान किया है। उलटवाँसी-शैली का मुख्य विषय 'साधना' ही है; फिर भी, प्रयोक्ताओ के व्यक्तित्व भेद से उलटवाँसी-शैली के विकास में अन्य विशेषताएँ भी उभरी हैं। मात्रा और मौलिकता की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कबीर की नैसर्गिक प्रतिभा से, उलटवाँसी-शैली के सभी परवर्ती प्रयोक्ता अभिभूत हुए हैं।

उलटवाँसियाँ सन्तो की वाणी का एक अग हैं। अत भाषा-विषयक कोई उपलब्धि इस शोध प्रबन्ध का उद्देश्य नही रही है। इस सम्बन्ध मे इतना ही कहा जा सकता है कि उलटवाँसी-पदों मे अनेक लोक प्रचलित कहावतो और मुहावरो का प्रयोग हुआ है और अनेक उलटवाँसी मूलक कथन लोकोक्ति बनने मे समर्थ भी है।[1] भाषा, व्याकरण सम्मत न होते हुए भी, प्रभाव की दृष्टि से लोक को अभिभूति करने मे समर्थ रही है। विरोध

---

१. 'गूगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई।' —कबीर ग्रथावली,

'गगा उलटी फेरि करि जमुना माहैं आणि।'

—दादूदयाल की बानी (भाग १), पृ० ६०

'सुई के नाके सुमेर चलावै, सो यह रूप बखानै।'

—मलूकदास जी की बानी, पृ० १

'हिरदे में पावक जरै री हेरी तगि नैना भये लाल॥'

—चरनदास जी की बानी (दूसरा भाग), पृ० २३

'नैन बिन दरियाव देखै अनन्द रूप घना।'

—दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी, पृ० ८६

'सो पावैगा लाल जाइके गोता मारै।
मरजीवा ह्वै जाय लाल को तुरत निकारै॥'

—पलटू साहब की बानी (भाग १), पृ० ५३

'लहँगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै।' वही, (भाग १), पृ० ८१

'लड़िका बून्द मे मुला ढूँढत फिरै पहार।' वही, (भाग १), पृ० ८५

की योजना केलिए ढूढ-ढूंढकर असम्भव प्रमाणो का प्रयोग उलटवांसी-पदो में मिलता है। इसके अतिरिक्त भाषा के व्यवहारिक प्रयोगो ने उलटवांसी-पदो मे प्रभावोत्पादकता और चमत्कार सृष्टि मे अभिवृद्धि की है। इस प्रकार लोक-प्रचलित भाषा के माध्यम से, शैली के इस रूप ने लोक को विचार करने का अवसर दिया है। साथ ही यह रूप लोक-वृत्ति को विस्मय-विमुग्ध करके मनोरजन का भी साधन हुआ है। उलटवांसी-पदो का माध्यम साम्प्रदायिक गद्दियो के प्रभाव को स्थायी बनाने मे सहायक हुआ है। आज भी इस शैली का प्रयोग सर्वथा अवरुद्ध नही है, वैज्ञानिक विश्लेषण-वृत्ति के कारण मन्द अवश्य पड़ गया है।

उलटवांसियो का अध्ययन अपने मूल रूप मे प्रयुक्त प्रतीको का ही विवेचन है। प्रकृति, धर्म और विधि-विरोधक प्रतीको की वैचित्र्यमूलक अटपटी योजना के कारण उलटवांसी शैली का अध्ययन उपेक्षित बना रहा है। उलटवांसी-शैली के प्रयोक्ता सन्तो के मानसिक धरातल के अनुसार अनेक ऐसी वस्तुओ और जीवो को प्रतीकत्व मिला है, जिनसे प्रयोक्ता के मानसिक बिम्ब का अनुमान लगाना कठिन प्रतीत होता है तथा अतिक्रान्त उक्तियो के रूप मे ब्राह्मण शास्त्रो मे प्रयुक्त असम्भव प्रमाणो की योजना से साकेतिक व्यजना तक पहुँचना, और वह भी किसी शास्त्रीय परम्परा के अभाव मे, दुर्बोधता का कारण रही है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे बहुविधि प्रयुक्त प्रतीक सकेतात्मक शब्दावली को दो वर्गो मे व्यवस्थित किया है—(१) साकेतिक प्रतीक; (२) पारिभाषिक शब्दावली। साकेतिक प्रतीको की योजना मे प्रयोक्ता सन्तो का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हुआ है। उलटवांसियो मे प्रायः ऐसे साकेतिक प्रतीको का प्रयोग हुआ है, जिनसे धर्म, प्रकृति, क्रिया, परिस्थिति आदि का साम्य मुखर होता है। ऐसे प्रतीको से प्रयोक्ता की प्रतिभा और मौलिकता का परिचय मिलता है। ऐसे प्रतीक प्रत्यक्ष ज्ञान की भाँति कोई सुनिश्चित अर्थ नही देते। इनसे तो पदार्थ, क्रिया, भावना, विश्वास आदि के सम्बन्ध मे आनुमानिक निश्चय ही प्राप्त हो पाता है। इसलिए उलटवांसियो मे प्रयुक्त इन साकेतिक प्रतीको के नाना प्रकार के साम्यो की ओर सन्तो की दृष्टि रही है। फिर भी, यह नही कहा जा सकता कि सभी सम्भव पक्ष प्रस्तुत हो सके है। उदाहरण केलिए ससार को 'सागर' कहा गया है। इस 'सागर' प्रतीक के प्रयोग मे विषयी जीवो की वासना, तृष्णा, माया के प्रभाव आदि मे डूबने की व्यजना है। इसीप्रकार मन केलिए अनेक प्रतीको का प्रयोग हुआ है। अनेक प्रयोगो मे 'मन' को मेढक कहा है। इस प्रयोग मे मन की अमावस्था और सकीर्णता की ध्वनि निकलती है। साथ ही जिस प्रकार मेढक मे जल और स्थल दोनो स्थानो पर समान रूप से रहने की क्षमता है, वैसे ही मन विषयेन्द्रियो के जल मे रहकर बहिर्मुखी और (अन्तर्मुखी होकर नि सगता अथवा अनासक्ति की अवस्था मे) अन्तर्मुखी बने रहने की सामर्थ्य रखता है। प्रबन्ध की सीमा के कारण प्रतीको की योजना के इस विशद् पक्ष का विवेचन-विश्लेषण प्रौढ अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

पारिभाषिक शब्दो के अध्ययन मे, अर्थ-ग्रहण करने केलिए, शास्त्र तथा सम्प्र-विशेष की परम्परा तथा प्रयोग-रूढ़ि का अवलम्बन नितान्त आवश्यक समझा

हिंडोला, होली, हंस, दिव्य-विवाह, वसंत, सावन, पिउ-प्यारी जीवात्मा आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जो अपने प्रयोग मे रूढ़ हो गये हैं। वैसे भी उलटवाँसी शैली एक विशेप परम्परा की देन है। अतः उलटवाँसी-पदो की साकेतिक व्याख्या मे परम्परा प्रचलित अर्थ का सहारा लेना स्वाभाविक ही है।

उलटवाँसी-पदो में पद-विन्यास का चातुर्य और कला के रूप में काव्यशास्त्रीय सूक्ष्मता के न रहते हुए भी[1], अनुभूति की प्रखरता (सच्चाई) के कारण कला का और सांकेतिक शैली में वक्र-कथन होने के कारण काव्यशास्त्रीय सीमा का सर्वथा एवं आत्यान्तिक अभाव नही कहा जा सकता, क्योंकि भाव की भूमिका मे पहुँचते ही वाणी का काव्यमय होना स्वाभाविक है। उलटवाँसी-पदो का शब्द-व्यापार अपना विशेप महत्व रखता है; क्योंकि शब्द की अभिधा से मुख्यार्थ की प्रतीति नही हो पाती और मुख्यार्थ के बाध के पश्चात् 'शब्द' अपना दूसरा तत्सम्बन्धी शब्दकोपीय अर्थ प्रदान नही कर पाता; प्रत्युत् साधर्म्य अथवा सारूप्य के आधार पर मुख्य अर्थ व्यजित करता है। अतः काव्य-शास्त्रीय 'लक्षणा' का क्षेत्र उलटवाँसी-पदों में बाधित रहता है और अभिधा से ही प्रयोक्ता के मन्तव्य के रूप मे व्यजित अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार उलटवाँसी शैली का कलेवर साकेतिक रहस्य-प्रधान होनेके कारण काव्यशास्त्रीय ध्वनिवाद के निकट है, जिसकी काथनिक वक्रता सहज ही वक्रोक्ति शैली का तट-स्पर्श कर लेती है। इसके अतिरिक्त, विरोध-गर्भित असम्बद्धता एव रूपक तत्त्व की योजना उलटवाँसी शैली की प्रमुख विशेपता है। परिणाम स्वरूप उलटवाँसी-पदो मे कुछ विरोधमूलक तथा साम्य मूलक अलकारों का प्रयोग सहज ही हो गया है।

उलटवाँसी शैली के प्रयोक्ता सन्तो की मूलभावना निःस्पृहता से प्रेरित रही है; परन्तु यह निःस्पृहता अपने मूल रूप मे 'निर्वेद'[2] जन्य न होकर आत्मा (अन्तःकरण) के विश्राम (वहिर्मुखता को छोड़कर अन्तर्मुखी होने) का परिणाम है। अतः 'शम' जन्य भावना ही सन्तों की निःस्पृहता की जननी है* और इसी 'शम' जन्य भावना ने सन्तों को

---

१. 'कबीर की कविता मे कला का अभाव है। उनकी रचना मे पद-विन्यास का चातुर्य नहीं है। 'उलटवाँसियो' मे क्लिष्ट कल्पना है और भाषा बहुत भद्दी है।' (डॉ० रामकुमार वर्मा)—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २६८
'रहस्यवाद की ऐसी रचनाओं के रचयिता होकर भी कहीं-कहीं कबीर साहब ने ऐसी बातें कहीं है जो बिल्कुल ऊटपटांग और निरर्थक मालूम होती हैं।'
(श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध')
—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृ० १३७

२. 'निर्वेद चित्त की अभावात्मक वृत्ति है जो ससार के भौतिक आनन्दो एव सुखों की ओर से मोड़कर परमार्थ अथवा ईश्वर की ओर उन्मुख करती है।'
— हिन्दी साहित्यकोश (पहला भाग), पृ० ४१८

* टिप्पणी सन्तों की वाणी आत्म विश्रान्ति जन्य आनन्द का परिणाम है। 'निर्वेद' प्रतिक्रियात्मक होने से ऋणात्मक है और 'शम' सयम, साधनाभ्यास का परिणाम होने से धनात्मक है।

शान्तरस की पावन गगा में अवगाहन कराया है ।[1] 'निर्वेद' तो उनके लिए 'सचारी' मात्र है । अतः सन्तो की 'शम' जन्य वाणी का एक अग उलटवाँसियो का शान्तरसोन्मुखी होना स्वाभाविक है । उलटवाँसी शैली का रूप विभिन्न प्रकार के प्रतीको की विचित्र योजना एवं असम्बद्ध कथनों से साकार हुआ है, अतः अद्भुत और हास्य रसों और 'भावो' की सहज झलक उलटवाँसी-पदो की अभिधा मे देखने को मिल जाती है । रूपक तत्त्व के आधार पर जीवात्मा का विशेष दशा के कथनों में (कही-कही माधुर्योपासना के प्रभाव के कारण) सयोग और वियोग शृंगार की भावना भी झलकती है । पर कही भी शैली की मूल-भावना, अनुभूति की अभिव्यक्ति की कठिनाई, का तिरोभाव नही दिखाई देता ।

अन्त मे कह सकते हैं कि, हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे इस विशिष्ट और स्वतन्त्र उलटवाँसी शैली की स्थापना 'शब्द' (सन्तों का छन्द विशेष) के चमत्कार की स्थापना है । 'शब्द' आकाश का धर्म है । आकाश 'शून्य' है और शून्य ब्रह्म । साधक की धरती रूप जड काया उलटकर आकाश को, शून्य को प्राप्त होती है ('धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसा की वाणी ।'—कबीर) यही सन्त पुरुषों की वाणी है । अतः यह 'शब्द' का ही अध्ययन है, आद्यात 'शब्द' का ।



१. 'शमो निरीहावस्थाया स्वात्मविश्रामज सुखम् ।' —साहित्यदर्पण, ३।१८
'शमो निरीहावस्थायामानन्द. । स्वात्मविश्रामादिति ।' —काव्यप्रदीप
(—कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृ० ३१ से उद्धृत)

परिशिष्ट--१

उलटवाँसी शैली और नवलेखन

इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ मे लिखा है 'अव्यक्त को व्यक्त करना, अरूप को रूप देना ही कला का उद्देश्य है। इस दृष्टि से वाङ्मय मात्र कला ही है, जिसमें मन के अव्यक्त भाव-विचारो, आवेशो को अभिव्यक्ति मिलती है। परन्तु जो कुछ अनुभव गम्य है, वह यथावत् अभिव्यक्ति नही किया जा सकता, क्योकि मन का क्षेत्र अपरिमित है, वाणी का सीमित—'वाग्वैमनसो ह्सीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः। परिमिततरेव हि वाक्।' (—शतपथब्राह्मण, १।४।४।६)' समर्थ अभिव्यक्ति की चिरन्तन समस्या चिरप्राचीन काल से वर्तमानकाल तक मनीषियो, विचारको तथा विश्लेषको द्वारा विचारणीय रही है। एक ओर आचार्य शङ्कर परम तत्त्व की अभिव्यक्ति 'मौन-व्याख्यान' द्वारा ('मौनव्याख्याप्रकटित परब्रह्मतत्त्वंयुवानम्।' 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तुच्छिन्नसशयाः।' (—दक्षिणामूर्ति स्तोत्र,) सम्भव बताते है। तो वाणी के अपव्यय की आशंका ने ही, नवलेखक द्वारा वाणी की अपेक्षा मौन को श्रेयस्कर कहलाया है—

'एक मौन ही है जो अब भी नयी कहानी कह सकता है।
इसी एक घट मे नवयुग की गंगा का जल रह सकता है॥'

(अज्ञेय)—हरी घास पर क्षण भर,

कवि जिस जागतिक सत्य के प्रति उल्लसित रहा करता है, उस भाव, विचार, आवेशमय मनः स्थिति की अभिव्यक्ति वाणी अपनी सम्पूर्ण शक्तियो से भी यथावत् नही कर पाती, तब वह अप्रस्तुत विधान, प्रतीक-सकेत, विरोधात्मक प्रस्तुति के माध्यम से अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने में तत्पर होता है। परन्तु उसकी अभिव्यक्ति मे, उस अनुभूति का सम्यक् निरूपण नही हो पाता। भावना-क्षेत्र की उस वैचारिक स्थिति को साधक मौन-व्याख्यान द्वारा ही सम्प्रेषित करने का प्रयत्न करते हैं। विचारक सर्जक भी ऐसी स्थिति में भाषा की अभिधा-शक्ति से सन्तुष्ट नहीं हो पाता। मनीषी कवियों, साधक-सन्तो ने समय-समय पर वाणी को जो शैलियां प्रदान की हैं उनमे प्रवल्हिका या प्रवल्हिता, दृष्ट-कूट, सन्ध्या भाषा, इशारियत, उलटवांसी आदि हैं। इनमें अभिव्यक्ति का ऋजु-मार्ग न अपना कर बुद्धि-साध्य अतिक्रान्त उक्ति, विरोधमूलक वक्रता, समासोक्ति, अन्योक्ति, व्यंग्य आदि का सहारा लिया जाता है। अभिव्यक्ति की उक्त निरन्तन समस्या का समाधान साधक-सन्तों ने उलटवांसी-शैली के माध्यम से प्रस्तुत किया है। वर्तमान समय के [illegible] की ओर [illegible]

सम्यक् दृष्टिपात किया जाता है, तो उक्त शैलीगत विशेषताएँ आज के लेखन मे भी देखने को मिलती है।

आज की रचनाप्रक्रिया परम्परा-विरहित है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु ऐसा कहने से पहले विचार करना होगा कि परम्परा से क्या तात्पर्य है, तभी ऐसा निर्णय देना समीचीन होगा। परम्परा वास्तव मे विगत की जीवन्त कडी हुआ करती है, उसकी कोई सीमा नहीं। वह अपने क्रमिक विकास मे विकसनशील तत्त्वो को अपनाती हुई और जड, अनुपयोगी तत्त्वो को छोड़ती हुई क्रमिक किन्तु एक रूप नही, विरल रेखा खीचती जाती है। पुरानी परम्परा को तोड़ने की जहाँ बात कही जाती है, वहाँ परम्परा के रूढ अश के विरोध से ही तात्पर्य रहता है। क्योकि किसी नवीन परम्परा की स्थापना का उद्देश्य भी अपने आप मे प्राचीन परम्परा का पर्याय ही है। कोई क्या ज नता है कि भविष्य मे वह भी उतनी ही रूढिग्रस्त हो जाय। इसलिए नव-लेखन की मूल भित्ति रूढि का प्रतिरोव करना ही कहा जाना चाहिए, परम्परा का अवरोध नही। आज के लेखन का यदि कोई भारतीय अथवा पूर्ववर्ती हिन्दी-साहित्य मे प्रेरणा स्रोत है अथवा हो सकता है तो सन्तो की उलटवाँसी शैली अथवा कबीर की कथन-पद्धति। कबीर का यह कथन नव लेखक की दृष्टि के सर्वथा अनुकूल है—

'अवधू ऐसा ग्यान विचारं।
भेरै चढे सु अधधर डूबे, निराधार भये पारं।
ऊघट चले सु नगरि पहूंते, बाट चले ते लूटे।
मन्दिर पैसि चहूँ दिसि भीगे, बाहरि रहे ते सूका।
सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूखा।
बिन नैनन के सब जग देखै, लोचन अछते अंधा।
कहै कबीर कछु समझि परी है, यहु जग देख्या धंधा।'

—कबीर ग्रंथावली, पद १७५

आज का लेखक उस 'पार' की बात नही सोचता, इस पार के क्षणो की शलाखो मे अस्तित्ववान् जीवन को ही स्वीकारता है। परन्तु इस पार के जीवन को भी वह 'भेरे' पर चढ कर या एक घिसी-पिटी लकीर का सहारा लेकर सन्तरित नही करना चाहता। 'ऊघट' चल कर निराधारत्व का सहारा लेते हुए, जो जीवन वह जीता है, उसी को अपने परिवेश से उपादान ग्रहण करके अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। किन्तु आनुभूतिक सघनता भाषा के उपादानो मे यथावत् नही बँधपाती। इसलिए विरोधात्मक कथनो, जीवन के सहज प्रतीको और लाक्षणिक प्रयोगो के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। जो जैसा है उसको उसी रूप मे स्वीकारना, मृदुता, स्निग्धता अथवा अव्यवहारिकता के आवरण से न ढक कर 'प्रस्तुत' यथावत् को प्रस्तुत करने का प्रयत्न आज के लेखक का उद्देश्य है। आज के लेखक की अभिव्यक्ति की यह जीवन्तता कबीर की अभिव्यक्ति के बहुत निकट की है। यह लिखने का तात्पर्य यह नहीं कि आज का लेखक साधक, ध्यानी अथवा हठयोगी परम्परा को काथनिक कुशलता प्रदान कर रहा है

तो उसके कथन पक्ष पर ही विचार करना है, कथ्य पर नहीं।

छायावादी कविता को 'पलायन' का परिणाम माना गया है। वास्तव मे 'पलायन' शब्द निर्बीजत्व वाला नही है कि जिसमे सृष्टि का एकान्त अभाव हो। पलायन के फलस्वरूप भी साहित्य में नयी-नयी भाव-भूमियाँ रूपायित हुई हैं। उलटवाँसी-शैली को मैं रूप-विधान या शैली पक्षीय पलायन ही मानता हूँ। जिसमें पद या छन्द को तो परम्परा से अपना लिया किन्तु उपमान, प्रतीक, कार्यनिक असम्बद्धता, विरोध, व्यंग्योक्ति, लाक्षणिक प्रयोग, अभिधामूलक व्यंजना आदि की योजना परम्परा से हट कर स्वीकार हुई हैं। नवलेखक जीवनानुभूति को सहजता प्रदान करने केलिए छन्द की सीमा को भी सहन नहीं कर सका। इसलिए आज के लेखक की शैली नवीन और मौलिक कही जा सकती है। और इसी अर्थ मे उलटवाँसी शैली भी। किन्तु प्रत्येक प्रकार की मौलिकता के कुछ उपादान तत्त्व परम्परा से ही प्राप्त होते हैं। विचारक कवि की प्रतिभा इसे मौलिक सिद्ध कर देती है। प्रतिभा विचार की धारा से तो सम्बद्ध रहती ही है। साथ ही इस विचार को उपयुक्त शब्द, जिनका चयन, शोधन, परिमार्जन और व्यवस्था, प्रतिभा के स्पर्श से, मौलिकता प्रदान करते हैं। शब्द-प्रयोग की मौलिकता ही शैली की मौलिकता है। शब्द-शोधन, परिमार्जन और नियोजन एक ओर कथ्य को यथावत् बनाते हैं दूसरी ओर प्रभावी।

जिस प्रकार नवलेखन केलिए पाठकों की समस्या है, उसी प्रकार उलटवाँसी-शैली में लिखित साहित्य को पढ़ने की भी समस्या है। दोनों पर दुर्बोधता के आरोप लगाये गये हैं। नयी कविता के सम्बन्ध में डॉ० हरदेव बाहरी ने एक स्थान पर लिखा है—'नयी कविता के उत्थान से तीनों वर्गों के लोगो को बहुत चिढ़ है—एक वे जो संस्कार-बद्ध रूढ़िग्रस्त कविता के उपासक रहे हैं, दूसरे वे जो कविता की आड़ में राजनीति और साम्प्रदायिकता का प्रचार करते आये हैं और तीसरे वे जिन का बौद्धिक स्तर फिल्मी गीतों की रूचि से ही बना हुआ है।' (—हिन्दी की काव्य शैलियों का विकास, पृष्ठ २३८) प्रकारान्तर या काल-भेद से उलटवाँसी-शैली को समझने मे भी इसी प्रकार की चिढ़ बनी रही हैं। इनमें से प्रथम चिढ़ के कारण ही उलटवाँसी-शैली का न तो सम्यक् अध्ययन हो सका और न समुचित व्यवस्था ही मिल सकी है। उलटवाँसी-शैली की कथानिक दुरूहता से ही आलोचक दूर भागते रहे और अनेक प्रकार के आरोप लगाते रहे हैं। कथन की असम्बद्धता और विरोध को देख कर वे कथ्य की अभिव्यक्ति सम्बन्धी समस्या की ओर विशेष ध्यान नहीं दे पाये हैं। उलटवाँसी-शैली विचार की सघनता को किस सामर्थ्य के साथ अभिव्यक्त कर सकती है, इसकी थाह नहीं ली गई। इसी प्रकार आधुनिक लेखन में साधारणीकरण का दोष लगाया जाता है। पाठक को यदि कविता समझ में नहीं आती तो वह कविता को हेय मान लेता है। अपनी बौद्धिक ग्रहण-शक्ति को तनिक भी तुच्छ नहीं कहता। ऐसे पाठकों केलिए महाभारत के कूटपद, सुबन्धु, माघ, श्री हर्ष और बाणभट्ट की रचनाएँ, उलटवाँसी-शैली, सूरदास के दृष्ट कूट, केशव की कविता, और आज का लेखन दुर्बोध लगता है। वास्तव में सम्प्रेषण की समस्या बहुत कुछ मानसिक ग्रहण-[illegible] एवं वैयक्तिक वातावरण और रुचि पर विशेष रूप से आधारित रहती है। नयी

कविता के साधारणीकरण की जो समस्या है वही लगभग (उसके साधना-पक्ष को छोड़ कर) उलटवाँसी-शैली की भी है। नयी कविता के सहज ग्राह्य होने मे दो कारण बाधक माने गए है। एक तो नये लेखक की प्रखर जीवनानुभूति अथवा भाव-विचार कुछ ही लोगो के जाने पहचाने है। दूसरे नयी कविता की भाषा अथवा कथन-शैली (उपमान-प्रतीक-चयन) परम्परागत भाषा या शैली से भिन्न है। शब्द-चयन-संयोजन, मुहावरे आदि सभी कुछ परम्परा से हट कर है। इस प्रकार नयी कविता कथ्य और कथन दोनो ही दृष्टियो से साधारण पाठक केलिए बोधगम्य नही है। यही बात उलटवाँसी-शैली केलिए भी चरितार्थ होती है। काथनिक वक्रता एवं कथ्य सम्बन्धी सूक्ष्मता ने उलटवाँसी-पदो को सामान्य नही रहने दिया। विशेष परिप्रेक्ष्य एव विशेष रुचि का विषय बना दिया है। आचार्य नगेन्द्र ने एक स्थान पर दुरुहता के पाँच कारण बताये हैं :—(१) भाव-तत्त्व और काव्यानुभूति के बीच *रागात्मकता के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध*। (२) *साधारणीकरण का त्याग*। (३) उपचेतन मन के अनुभव खण्डो के यथावत् चित्रण का आग्रह। (४) काव्य के उपकरणो एव भाषा का एकात वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग। (५) नूतनता का सर्वग्राही मोह। (—विचार और विवेचन,)

उक्त कारणो मे से तृतीय कारण 'उपचेतन मन के अनुभव खडो के यथावत् चित्रण का आग्रह, आग्रह नही प्रयत्न है। जिसके परिणाम स्वरुप अनुभूय परिस्थिति को अभिव्यक्त करने केलिए व्यवहार्य प्रतीक-उपमानो का चयन, विरोधात्मक उक्तियो का विधान उलटवाँसी-शैली और नयी कविता के कथन-पक्ष को समकक्ष बिठा देते हैं। इसलिए अभिधामूला व्यजना दोनों शैलियो मे समान रूप से देखने को मिलती है। वास्तव मे भाषा की अपनी विशेष सीमा हुआ करती है। वह मनीषी कवि-लेखक के माध्यम से असीम भाव-विचार के क्षेत्र को मापना चाहती है। किन्तु अप्रस्तुत रूप में उसका यह प्रयत्न अपर्याप्त ही है। विचारक कवि के अनुभव खण्ड सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर होते हैं। शब्द-सकेतो का सहारा लेते हुए, नाना विशेषणो, विरोधात्मक उक्तियो, वक्रोक्तियो असम्बद्ध प्रस्तुतियो के माध्यम से कवि अनुभूय किन्तु निराकार परिस्थितियो को यथावत् अभिव्यक्त करना चाहता है, किन्तु फिर भी समूचे को बाँध नही पाता। अनेक अनुभव प्रसग ऐसे होते हैं, जिनका हम अनुभव तो करते हैं, किन्तु अभिव्यक्ति नही दे पाते। ऐसी परिस्थिति की अभिव्यक्ति मे सकेत और ध्वनि का प्राचुर्य हो जाता है और उसमे रहस्यवादी प्रवृत्ति मुखर होने लगती है। वास्तव मे वह प्रखर अनुभूति, भाव-विरह अथवा ज्ञान-विरह की दशा ही है जो अप्रस्तुत उपादानो की असामर्थ्य के कारण अनकही रह जाती है। उस वैचारिक परिस्थित से अपरिचित पाठक केलिए, भाषा की असामर्थ्य के वे उपादान (प्रतीक-सकेत अथवा विरोधात्मक कथन) दुरुहता के कारण बन जाते हैं, सभीके लिए नही। उलटवाँसी-शैली में लिखित ज्ञान-विरह और भाव-विरह के क्षणो की अभिव्यक्ति तथा आज के प्रबुद्ध विचारक लेखक की अभिव्यक्ति भाषा की पराजय के कारण ही दुर्बोध कही जानी चाहिए। सर्वसामान्य या साधारणीकरण का गुण न सही विशेष अथवा विशेषीकरण का गुण दोनो में कम अधिक अवश्य। काल शासित भाषा के आधार पर काल से परे देश और देश से परे अ... पकड़ पाना ही कवि की सामर्थ्य का द्योतक है। ऐसा करने मे कवि को शब्दों

प्राप्त अर्थों मे थोड़ा व्यतिक्रम करना पड़ता और जीवन के अधिक निकट पहुँचना पडता है। वह अपनी मानसिक अनुभूय परिस्थिति की प्रेरणा से ही भाषा के ऐसे ताने-वाने बुनता है, जो 'सर्व' केलिए दुर्वोध कही जाने पर भी विशेष परिस्थिति की अभिव्यक्ति के कारण प्रयोक्ता को सर्वाधिक सन्तोष देती है। प्रयोगो का शाब्दिक अर्थ न होते हुए भी परोक्ष स्थिति व्यंजित होती है। प्रयोगवाद जो वाद में नयी कविता के रूप में परिमार्जित हुआ, अपनी प्रेरणा स्रोत अथवा उद्गम स्थान कवीर के उलटवाँसी प्रयोगों मे देख सकता है। वहाँ भी कथ्य को स्पष्ट करने केलिए भाषा-प्रयोग की नाना सम्भावनाओं का अनुसधान हुआ है। वास्तव में ये दोनो ही विचार सरणियाँ आज दुरुह मानी जाती है। सच तो है कि इनके परिवेश को समझने का प्रयत्न नही हो पाया है। क्या ससार मे कोई ऐसी भाषा है जो सब समझते हों? सब बोलते हों? इसीलिए सफल अभिव्यक्ति की समस्या चिरन्तन बनी रही है। जब एक विचारक या मनीषी अपने व्यक्ति विशेष से सीमित अनुभव को उस क्षेत्र से वाहर भी अनुभव करना चाहता है, तो उसके समक्ष कुशल अभिव्यक्ति की समस्या रहेगी ही। उलटवाँसी शैली की मूल प्रेरणा यही है। नयी कविता के परम्परा-विलग्न प्रयोगों का भी मूलाधार यही कहा जा सकता है।

आज की कविता को कैक्टसवाद नाम से भी अभिहित किया है। इस धारा की विशेषताएँ मानी गई हैं :—(१) अद्भुत किन्तु अदम्य जीवनाकाक्षा, (२) वाह्य कुरूपता एव अनगढ़ता, (३) आन्तरिक स्निग्धता या रसमयता। प्रकारान्तर से उलटवाँसी शैली की भी ये विशेषताएँ मानी जा सकती हैं। भाव या ज्ञान-विरही साधक सन्तों की इस ससार-सागर मे मानसिक परिस्थिति 'जल विच मीन प्यासी' जैसी बनी रहती है। ऐसी परिस्थिति मे उन्हें वाह्य से किसी प्रकार की तृप्ति का अनुभव नहीं हो पाता। ये मनीषी साधक अपनी आन्तरिक चेतना को शाश्वत् चेतना से जोड लेते हैं। इस विशेष 'रहनी' मे जीवनाकांक्षा तो है किन्तु अतर्मुखी और स्निग्ध। इस विशेष मनोदशा की अभिव्यक्ति प्रतीक सकेतो, असम्बद्ध कथनो तथा विरोध मूलक उक्तियों के द्वारा वे करते हैं, जिसमे कथन की अनगढता और कुरूपता प्रतीत होती रहती है। किन्तु विचार करने पर शैलीगत असम्बद्धता या विरोध तिरोहित हो जाती है। हाँ, उलटवाँसी-शैली के प्रयोक्ताओं की कथनी और करनी मे अन्तर नहीं था। आज का लेखक भी जैसा लिखता है वैसा ही जीता भी है, ऐसा कहा जाता है, किन्तु आंतरिक 'श्रम' के अभाव में वह क्षण के तट पर ही बिखर जाता है। उसका विचार पक्ष उसे जोड़ नहीं पाता, श्लिष्ट नहीं कर पाता। उसकी विशेषीकृत सत्यानुभूति विभिन्न क्षेत्रों और दिशाओं में विभाजित रहते हुए भी प्रखर है इसलिए अभिव्यक्ति मे असगति और असम्बद्धता का आभास होता है, जबकि उलटवाँसी शैली के प्रयोगो मे विरोध और असगति की प्रतीति चित्तवृत्ति के विरोध का परिणाम है।

उक्त मानसिक प्रखर प्रतीति का ही परिणाम है कि आज का लेखक विरोधाभास [illegible] आधारित अभिव्यक्ति में ताप का अनुभव करता है। [illegible] के अभाव में [illegible] [illegible] कोमलता या तो ह्रास होता है किन्तु साथ ही अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता और [illegible] [illegible]। उलटवाँसी शैली में निहित पद गेय होते हुए भी [illegible] के अभाव में

वंचित नही है। नवलेखन की जीवन्त एवं सशक्त अभिव्यक्ति का मूल कारण गद्यात्मक संस्करण ही है। आज की रचनाओ मे अनेक पंक्तियाँ, कविताओ के शीर्षक यहाँ तक कि कविता संग्रहों के शीर्षक विरोधाभास या असम्वद्धता पर आधारित नाम वाले ही हैं। कबीर सागर में 'प्यासी' मीन को देख कर हँस भर देते हैं—'जल विच मीन प्यासी। मोहि सुनि-सुनि आवै हाँसी।' तुलसी साहब (हाथरस वाले) इसी बात को थोड़ा गम्भीर होकर कहते हैं—

'पानी में मीन पियासी, काहे जानत संत विलासी।
ससि सम अगिन सूर सम शीतल, जहँ नहिं तत्त निवासी।'

—शब्दावली, भाग-२, पृ० १६३

दूलन साहब 'प्यास' की तृप्ति नेत्रो से पीते हुए बता कर यथावत् अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करके सन्तोष पाते हैं—

'सखि इक पैठी जल भीतर रटत पियास ही पियास हो।
मुख नहिं पियै चिरुआ नहिं पीयै, नैनन पियत हुलास हो।'

—दूलनदास जी की बानी, फुटकल शब्द-१

बाबा गोरखनाथ भाव मे ही अभाव की कल्पना को साधना का रंग देकर अभिव्यक्त करते है—

'लूंण कहै अलूंणा बाबू, घृत कहै मैं रूषा।
जल कहै मैं प्यासा मूवा, अन्न कहै मैं भूषा।।
पावक कहै मैं जाड़ण मूवा, कपड़ा कहै मैं नागा।
अनहद मृदंग बाजै, तहाँ पांगुल नाचन लागा।।'

—गोरख-बानी, पद २५

तो आज का विचारक कवि 'कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति' कहते हुए अपनी एकान्तिक परिस्थिति को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है—

'तुम महान् थे, महानता पर ही रीझ उठे,
पर, मै हूँ अल्प, अल्पता ही छूपाता हूँ,
क्षार, पंक, हिम सबसे अभिशापित,
जल निधि में प्यासा हूँ।'

इसी प्रकार विरोधाभास और काथनिक असम्वद्धता पर आधारित कविता-संग्रह जैसे—'जो बँध नही सका' (गिरिजा कुमार माथुर), इसकी 'कटा हुआ आसम' 'अर्वजन्म', 'अ नयावर्ष' कविता शीर्षक अपने आप में काथनिक विरोध सजोये हुए सम्भव है इस काथनिक विरोध के कारण ही उक्त नामो को शीर्षकत्व मिला

प्रकार 'शिलापंख चमकीले' (कविता-संग्रह); 'जग लगे सपने' (कविता-सग्रह); जिसकी 'नपुसक आक्रोश' और 'सूर्य का जन्म दिन' (कविताएँ); 'रेत की तरगे' (कविता-संग्रह); 'प्रारम्भ' (कविता-संग्रह) जिसमे 'एक असमाप्त अत' (कैलाशवाजपेयी—'मै भविष्य हीन अनवरत वर्तमान); 'वे आवाज शोर' (नरेन्द्र धीर) शीर्षक कविताएँ; 'नदी प्यासी थी' (नाटक, धर्मवीर भारती) तथा 'शहर मे डूबता हुआ समुन्दर' (कहानी-सग्रह, देवन्द्र सत्यार्थी); 'पानी विच मीन प्यासी' (उपन्यास, राघवेन्द्र मिश्र); 'प्यासा पानी' (उपन्यास, विमला रैना); 'एक कटी हुई जिन्दगी' (उपन्यास, लक्ष्मीकात वर्मा); 'एक प्यासा तालाब' (उपन्यास, राजकमल प्रकाशन); 'पवित्र पापी', 'पाषाण पख' (उपन्यास, नानक सिंह), 'सिन्दूर की हथकड़ियाँ' (उपन्यास) शीर्षक विरोधाभास और काथनिक वक्रता के कारण ही पाठक की बोधवृत्ति को कुछ समय केलिए अपने में लय कर लेते है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर सशक्त शब्दों मे इतना कहा जा सकता है कि मनन, चिन्तन, भाव वाचक, बिम्ब, विचार, विरह जन्य स्थिति, उद्विग्न मनोदशा के जिस कगार पर आज का नव-लेखन अभिव्यक्ति केलिए मचल रहा है, उसी प्रकार उलटवाँसी शैली की मूल प्रेरणा भी भाव, विरह और विचार या ज्ञान-विरह की सूक्ष्मता से अनुप्राणित रही है। यथा-वत् अनुभूति को सन्तुष्ट करने केलिए जीवन से चुने गये सकेत, प्रतीक, उपमान, बिम्ब आदि प्रायः दोनों मे मृदुता की चादर मे आवृत न होकर (उलटवाँसी मूलक पारिवारिक रूपको को छोड़कर) जीवन्तता की पारदर्शक गजी पहनकर ही प्रयुक्त हुए है। रूढ़ि का व्यतिक्रम दोनों में ही ग्राह्य है। साधारणीकरण न होने की समस्या दोनो का अग है। विशेपीकृत मनोदशा उलटवाँसी शैली मे 'शम' जन्य साधना के कारण, नव-लेखन मे युग के परिवेश से प्रभावित व्यक्ति का आवेश 'विशेष', जो विशेष विशेपो को प्रभावित करने की सामर्थ्य लिए हुए है, अभिव्यक्ति के उपादानो के कारण विरोध मूलक या असम्बद्ध-सा लगता है। सकेतित, कथ्य समझ लिए जाने पर सहज ग्राह्य हो जाता है। और सयोग की बात है कि आज की 'अ' उपसर्ग पूर्वक कविता, कहानी आदि शब्द 'उलटवाँसी' शब्द के कितने समकक्ष पहुँच गए हैं।

परिशिष्ट—२

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत—

१. 'अथर्ववेद संहिता' (भाषा भाष्य) भाष्यकार पं० जयदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल, लिमिटेड, अजमेर सं० १९८६
२. 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' कालीदास, चौखम्बा, संस्कृत सीरीज़, वाराणसी
३. 'अलंकार सर्वस्वम्', राजानक रुय्यक, सम्पादक श्री गौरीनाथ पाठक, काशी, सं० १९८३
४. 'ईशावास्योपनिषद्', गीताप्रेस गोरखपुर, दशम संस्करण, सं० २०१७
५. 'उत्तररामचरितम्' भवभूति, टीकाकार श्री पी० वी० कणे, मोतीलाल, बनारसीदास, दिल्ली, १९६२ ई०
६. 'ऋग्वेद संहिता' सायण भाष्य सहित, तिलक महाराष्ट्र यूनिवर्सिटी, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना
७. 'ऋग्वेद संहिता' (द्वितीय भाग) मोक्षमूलर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, तृतीय संस्करण
८. 'ऋग्वेद संहिता' भाष्यकार पं० जयदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर, पंचम आवृत्ति, सं० २०१३
९. 'ऋग्वेद संहिता' श्री दामोदर भट्ट सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, पारडी, तृतीय संस्करण, सन् १९५७ ई०
१०. 'ऐतरेयब्राह्मण' सपा० अनन्तकृष्ण शास्त्री (प्रथम भाग), त्रिवेन्द्रम, सन् १९४२ ई०
११. 'ऐतरेयोपनिषद्' गीताप्रेस गोरखपुर, सप्तम संस्करण, सं० २०१८
१२. 'कठोपनिषद्' वही, दशम संस्करण, सं० २०१७
१३. 'कर्पूरमंजरी' राजशेखर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३ ई०
१४. 'कामसूत्रम्' (दो भाग) आचार्य वात्स्यायन, गंगा विष्णु श्रीकृष्णदास, कल्याण, बम्बई, सं० १९९१
१५. 'काव्यप्रकाश' मम्मट, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६० ई०
१६. 'काव्यदर्शः' दण्डी, श्री कमलमणि ग्रन्थ-माला कार्यालय, काशी, सं० १९८८
१७. 'काव्य मीमांसा' राजशेखर, व्याख्याकार डॉ० गंगासागर राय, चौखम्बा वाराणसी, सं० २०२१

१८. 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्तिः' वामन, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड संस, १९५१ ई०

१९. 'कुमारसम्भव-महाकाव्यम्' कालिदास, चौखम्वा संस्कृत सीरीज़ आफिस, बनारसी, १९५४ ई०

२०. 'कुवलयानन्दः' अपप्य दीक्षित, व्याख्याकार—डॉ० भोलाशंकर व्यास, चौखम्वा विद्याभवन, सं० २०१३

२१. 'किरातार्जुनीयम्' भारवि, चौखम्वा संस्कृत सीरीज आफिस, स० २०१८

२२. 'केनोपनिषद्' गीताप्रेस, गोरखपुर, सप्तम संस्करण, सं० २०१५

२३. 'गोरक्षपद्धतिः' भाषानुवादक श्री महीधर शर्मा, खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, वम्बई, १९५४ ई०

२४. 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रहः' सपादक पं० गोपीनाथ कविराज, सन् १९२५

२५. 'घेरण्ड संहिता' प्रकाशक—गंगा विष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, वम्बई, सं० २०१३

२६. 'चित्रमीमांसा' अप्पय दीक्षित

२७. 'छान्दोग्योपनिषद्' गीताप्रेस, गोरखपुर, तृतीय सस्करण, स० २०१४

२८. 'तन्त्र समुच्चय' श्री नारायण प्रणीत, अनन्त शयन राजकीय मुद्रणालय, १९५३ ई०

२९. 'तैत्तरीयोपनिषद्' गीताप्रेस, गोरखपुर, सप्तम सस्करण, सं० २०१६

३०. 'दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्' आद्य शंकराचार्य

३१. 'ध्वन्यालोकः' आनन्दवर्द्धन, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, सं० २०१९

३२. 'निरुक्तम्' यास्क, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९६४ ई०

३३. 'नैषधमहाकाव्यम्' (दो खण्ड) श्रीहर्ष, चौखम्वा सस्कृत पुस्तकालय, बनारस, स० २०१०

३४. 'पातञ्जल योगदर्शन' श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्यक कृत (हिन्दी रूपान्तर) डॉ० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

३५. 'प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि' सपादक विनयतोष भट्टाचार्य, ओरियेन्टल इन्स्टीट्यूट, १९२९ ई०

३६. 'बृहदारण्यकोपनिषद्' गीताप्रेस, गोरखपुर, तृतीय सस्करण, सं० २०१४

३७. बृहत्स्तोत्र रत्नाकर' सम्पादक पं० रामतेज पाण्डेय, पण्डित पुस्तकालय, काशी, सं० २०१६

३८. 'मनुस्मृति' (मनुसहिता), अनु० रामस्वरूप शर्मा, मुरादाबाद, स० १९६७

३९. 'माध्यान्दिन शतपथ ब्राह्मण कण्डिकानाम्-अकाराद्यनुक्रमणिका, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय काशी, सं० १९९७

४०. 'माण्डूक्योपनिषद्' गीताप्रेस, गोरखपुर, अष्टम सस्करण, स० २०१६

...ण्डकोपनिषद्' वही, वही, सं० २०१६

...'वक्रोक्तिजीवितम्' आचार्य कुन्तक, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड ...५ ई०

४३. 'वाक्यपदीय' (ब्रह्म काण्ड) भर्तृहरि, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी
४४. 'विदग्ध मुखमण्डन, आचार्य धर्मसूरि
४५. 'वैदिक विनय' (तृतीय खण्ड) श्री देवशर्मा 'अभय', गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार, स० २००७
४६. 'वेदान्त दर्शन' (ब्रह्मसूत्र) गीताप्रेस, गोरखपुर, पञ्चम संस्करण, स० २०२०
४७. 'श्वेताश्वरोपनिषद्, वही, चतुर्थ संस्करण, स० २०१६
४८. 'शतपथ ब्राह्मण' (प्रथम भाग) अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, स० १९९४
४९ 'शाक्तप्रमोद.' (तन्त्र संग्रह) खेमराज श्रीकृष्णदास वेंक्टेश्वर प्रेस, बम्बई, स० २००८
५०. 'श्रीमन्महाभारतम्' (चार भाग) गीताप्रेस, गोरखपुर, स० २०१३
५१. 'श्रीमद्भगवतगीता' वही, द्वितीय संस्करण, सं० १९९४
५२. 'श्रीमद्भागवत महापुराणम्' (दो भाग) वही, चतुर्थ संस्करण, स० २०१८
५३. श्री भगवच्चन्द्रिका' (तन्त्र तथा उपनिषद् ग्रन्थ), द्वितीय संस्करण, २०१६
५४. 'श्री शिव-संहिता' (हठयोग विद्या सम्बन्धी ग्रन्थ)
५५. 'साधनमाला' संपादक श्री विनयतोष भट्टाचार्य, ओरियेन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९२८ ई०
५६. 'साहित्यदर्पणः' आचार्य विश्वनाथ, व्याख्याकार—शालग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१ ई०
५७. 'हठयोगप्रदीपिका' आत्माराम योगीन्द्र विरचित, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, वेंक्टेश्वर प्रेस मुम्बई, २०१९
५८. 'हर्षचरित' बाणभट्ट, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, स० २०२१
५९. 'षट्चक्र निरूपणम्' परमहंस पूर्णानन्द यति, आगमानुसन्धान समिति, संस्कृत बुक डिपो, कलकत्ता, स० १९९८

पालि-प्राकृत अपभ्रंश और मराठी आदि—

६०. 'चर्यागीतिकोषः' संपादक प्रबोधचन्द्र बागची, विश्वभारती शान्ति निकेतनम्, बुद्धाब्द २५००
६१. 'दोहाकोश' सिद्ध सरहपाद, संपादक राहुल सांस्कृत्यायन, पटना, सं० २०१४
६२ 'धम्मपद' भिक्षु धर्मरक्षित, द्वितीय संस्करण, १९५९ ई०
६३. 'पाहुड दोहा, मुनि रामसिंह, संपादक हीरालाल जैन, कारजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी कारजा, बरार, स० १९९०
६४. 'ढोला मारूरा दूहा' (राजस्थानी), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, तृतीय संस्करण स० २०१९
६५ 'श्री एकनाथ दर्शन' पहला खण्ड, (मराठी) सम्पादक पोहनेरकर, श्री एकनाथ संशोधन मंदिर; पूना संस्करण, १९५२ ई०
६६. 'दीवान-ए-गालिब' (संकलन) हिन्दुस्तानी बुक ट्रस्ट, बम्बई, संस्करण १९५८ ई०
६७ 'दीवान-ए-हाफिज' (संकलन) मुहम्मद पद्वीनी, किताबखाना-ए-जब्बार, १९४१ ई०
६८. 'मसनवी मौलाना रूमी' (फारसी), मजीदी प्रेस, कानपुर, १९१२

हिन्दी—

१. 'अखरावती' कबीरदास, बेलवेडियर प्रिंटिंग वर्क्स, पाँचवाँ संस्करण
२. 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' दीनदयालगिरि (दीनदयालगिरि ग्रन्थावली), संपादक श्यामसुन्दरदास
३. 'अपभ्रंश साहित्य' डॉ० हरिवंश कोछड़, भारती सहित्य मन्दिर, दिल्ली
'आदिकालीन हिन्दी-साहित्य शोध' डॉ० हरीश, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, संस्करण १९६६ ई०
४. 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' श्री परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, प्रयाग, सं० २००८
५. 'आधुनिक हिन्दी काव्य मे प्रतीकवाद', डॉ० चन्द्रकला (शोधप्रबन्ध), मगल प्रकाशन, जयपुर, संस्करण १९६६ ई०
६. 'कबीर' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्वितीय संस्करण सन् १९४७
७. 'कबीर' (निबन्ध-संग्रह) संपादक डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, १९६५ ई०
८. 'कबीर-एक विवेचन' डॉ० सरनामसिंह शर्मा, हिन्दी साहित्य ससार, दिल्ली,
९. 'कबीर का रहस्यवाद' डॉ० रामकुमार वर्मा, नवाँ संस्करण, १९६१ ई०
१०. 'कबीर की विचार-धारा' डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, द्वितीय सस्करण
११. 'कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक विवेचन' डॉ० त्रिगुणायत. द्वितीय संस्करण
१२. 'कबीर ग्रथावली' संपादक श्री श्यामसुन्दर दास, पाँचवाँ सस्करण
१३. 'कबीर-पदावली', संपादक डॉ० रामकुमार वर्मा
१४. 'कबीर-बीजक' टीकाकार श्री विचारदास शास्त्री, रामनारायणलाल, प्रयाग, १९५४ ई०
१५. 'कबीर वचनामृत' संपादक मुन्शीराम शर्मा, आचार्य शुक्ल साधना-सदन, कानपुर, सं० २०१२
१६. 'कबीर साहित्य की परख' श्री परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, प्रयाग, सं० २०११
१७. 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६२ ई०
१८. 'कूटकाव्य-एक अध्ययन' डॉ० रामधन शर्मा शास्त्री, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६३ ई०
१९. 'केशवदास जी की अमीघूँट' बेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद, चौथा संस्करण
२०. 'गरीबदास जी की बानी' वही, प्रथम संस्करण
[illegible] 'गुलाल साहेब की बानी' वही, द्वितीय सस्करण
[illegible] [illegible]नाथ और उनका युग' डॉ० रांगेय राघव, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली,
[illegible]

२३. 'गोरख-बानी' संपादक और टीकाकार डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, तृतीय संस्करण
२४. 'घट रामायण' (तुलसी साहेब हाथरस वाले की) (पहला भाग), बेलविडियर प्रेस, सप्तम संस्करण
२५. 'घट रामायण' (तुलसी साहेब हाथरस वाले की) (दूसरा भाग), वही प्रकाशन १९६१ ई०
२६. 'चरनदास जी की बानी' (पहला तथा दूसरा भाग), बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग १९५१ ई०
२७. 'जगजीवन साहेब की शब्दावली' (पहला तथा दूसरा भाग), वही, द्वितीय संस्करण
२८. 'जायसी ग्रन्थावली', संपादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, चतुर्थ संस्करण स० २०१७
२९. 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र अथवा भाषा-विज्ञान' श्री मंगलदेव शास्त्री, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, पंचम संस्करण
३०. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली और जीवन चरित्र' (पहला भाग) बेलवेडियर प्रेस, १९५३ ई०
३१. 'तुलसी साहब की शब्दावली' (दूसरा भाग) वही, चतुर्थ संस्करण
३२. 'दरिया ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड) संपादक डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९६२ ई०
३३. 'दरिया सागर' (बिहार वाले दरिया साहब का), बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९५३ ई०
३४. 'दरिया साहिब (मारवाड़ वाले) की बानी,' वही चतुर्थ संस्करण
३५. 'दयाबाई की बानी,' बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
३६. 'दादूदयाल की बानी' (पहला भाग), (साखी), बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
३७. 'दादूदयाल की बानी' (दूसरा भाग, पद्य), वही, तृतीय संस्करण
३८. 'धनी धरमदास जी की शब्दावली' वही, चतुर्थ संस्करण
३९. 'नाथ पंथ और निर्गुण संत-काव्य' (शोध प्रबन्ध) डॉ० कोमल सिंह सोलंकी, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, संस्करण १९६६ ई०
४०. 'नाथ सम्प्रदाय' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण
४१. 'नानक-वाणी' डॉ० जयराम मिश्र, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, सं० २०१८
४२. 'नाथ-सिद्धों की बानियाँ' सम्पादक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० २०१४
४३. 'निरंजनी सप्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी, डॉ० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, सन् १९६४ ई०
४४. 'पलटू साहिब की बानी' (पहला भाग), बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, षष्ठ संस्करण
४५. वही, (दूसरा भाग), वही, सन् १९६२ ई०
४६. वही, (तीसरा भाग), वही, पंचम संस्करण

४७. 'प्राकृत और उसका साहित्य' डॉ० हरदेव बाहरी, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण
४८. 'प्राचीन काव्यो की रूप परम्परा' श्री अगरचन्द नाहटा, भारतीय विद्यामन्दिर, शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर, सन् १९६२ ई०
४९. 'व्रजचन्द्र चकोरी मीरा' (संग्रह) श्रीराधिका पुस्तकालय तथा प्रकाशन ट्रस्ट, वृन्दावन, १९५१ ई०
५०. 'ब्रह्मज्ञान प्रकाश' श्री स्वामी शंकरदास जी, देहाती पुस्तक भण्डार, दिल्ली
५१. 'बिहारी बोधिनी' टीकाकार लाला भगवनदीन, अष्टम संस्करण, सं० २०१४
५२. 'बुल्ला साहेब का शब्द सार' बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, तृतीय संस्करण
५३. 'बौद्ध दर्शन' आचार्य नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, संस्करण १९५६ ई०
५४, 'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' (दो भाग) डॉ० भरतसिंह उपाध्याय. भारती भण्डार, सं० २०११
५५. 'भक्ति साहित्य मे मधुरोपासना' श्री परशुराम चतुर्वेदी, वही, प्रथम संस्करण
५६. भक्ति काव्य मे रहस्यवाद, डॉ० रामनारायण पाण्डेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण १९६६ ई०
५७. 'भक्तिमार्गी बौद्ध धर्म' लेखक नगेन्द्रनाथ वसु, अनुवादक—श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
५८. 'भारतीय दर्शन' पं० बलदेव उपाध्याय, पंचम संस्करण, १९५७ ई०
५९. 'भीखा साहब की बानी' बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९१९ ई०
६० 'मलूकदास जी की बानी' वही, तृतीय संस्करण
६१. 'मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य पर बौद्ध प्रभाव' डॉ० सरला त्रिगुणायन
६२ 'महायान' भदन्त शान्ति भिक्षु, विश्व भारती ग्रंथालय, कलकत्ता
६३. 'यारी साहेब की रत्नावली' बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, प्रथम संस्करण
६४. 'रत्नसागर' (तुलसी साहेब हाथरस वाले का), वही, पाँचवा संस्करण
६५. 'रामचरित मानस' गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करण सं २०१६
६६. 'रैदास जी की बानी' बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, षष्ठ संस्करण
६७. 'विद्यापति की पदावली' बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६१ ई०
६८. 'वेद-रहस्य' (द्वितीय खण्ड) श्री अरविन्द, अनुवादक तथा संपादक अभयदेव विद्यालंकार
प्रथम संस्करण, १९४९ ई०
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५० ई०
६९. 'वैदिक-साहित्य' पं० रामगोविन्द त्रिवेदी,
७०. 'सार वचन छंद बंद' (दूसरा भाग) राधा स्वामी ट्रस्ट, स्वामी बाग, आगरा
तेरहवाँ संस्करण, १९५८ ई०
इंडियन प्रेस लिमिटेड इलाहाबाद, चतुर्थ
७१. 'साहित्यालोचन' आचार्य श्यामसुन्दरदास,
संस्करण, सं २०१४
किताब महल प्रकाशन, १९५५ ई०
७२. 'सिद्ध-साहित्य' डॉ० धर्मवीर भारती,
[illegible] 'सूर ग्रन्थावली' (दो खण्ड) सम्पादक पुरोहित हरिनारायण शर्मा, राजस्थान
[illegible] सोसायटी कलकत्ता, सं० १९९३

७४. 'सुन्दर दर्शन' डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, किताब महल, इलाहाबाद, १९५३ ई०
७५. 'सूफी साधना और साहित्य' श्री रामपूजन तिवारी, ज्ञानमण्डल लिमिटड, बनारस, स २०१३
७६. 'सूर-सागर' सूरदास, काशीनागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० २०१५
७७. 'सन्त कवि दरिया-एक अनुशीलन' डॉ धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५४ ई०
७८. 'संत कबीर' डॉ रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन, चतुर्थ संस्करण, १९५७ ई०
७९. सन्त-काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, डॉ० बाबूराव जोशी, कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर, सस्करण १९६२ ई०
८०. 'सन्तवानी-संग्रह'(पहला भाग-साखी) बेलवेडियर प्रेस, द्वितीय सस्करण सन् १९१५ ई०
८१. ,, ,, (दूसरा भाग-शब्द) वही, द्वितीय सस्करण, १९२२ ई०
८२. 'सन्त वैष्णव साहित्य पर तान्त्रिक प्रभाव' डॉ० विश्वम्भर उपाध्याय, सस्करण १९६२ ई०
८३. 'सत-साहित्य' (भाषापरक अध्ययन) डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, ग्रन्थम रामबाग, कानपुर, १९६५ ई०
८४. 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' प० बलदेव उपाध्याय, पचम सस्करण
८५. 'सस्कृत साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव' डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
८६. 'संस्कृति के चार अध्याय' डॉ० रामधारी 'दिनकर', सस्करण १९६२ ई०
८७. हिन्दी काव्य मे अन्योक्ति' डॉ० ससारचन्द्र
८८. 'हिन्दी-काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय' डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, अनुवादक श्री परसुराम चतुर्वेदी, अवध पब्लिकेशन हाउस, लखनऊ
८९, 'हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त काव्य' डॉ० प्रभाकर माचवे, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, १९६२ ई०
९०. 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवित' सम्पादक डॉ०नगेन्द्र, आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली, सन् १९५५
९१. 'हिन्दी-व्याकरण' श्री कामताप्रसाद गुरू, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० २०१५
९२. 'हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि' डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, १९६१ ई०
९३. 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध' किताब महल, सन् १९५८ ई०
९४. 'हिन्दी-साहित्य' (द्वितीय खण्ड) सपादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, भारतीय हिन्दी-परिषद्, प्रयाग, १९५९ ई०
९५. 'हिन्दी-साहित्य का अतीत' (पहला भाग) श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी स० २०१५
९६, 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना, १९६१ ई०

९७. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, ग्यारहवाँ सरकरण स० २०१४
९८. 'हिन्दी सन्त-साहित्य' डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण
९९. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' डॉ० रामकुमार वर्मा, पचम सस्करण,
१००. 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, द्वितीय सस्करण
१०१. 'हिन्दी को मराठी सतो की देन' डॉ० विनयमोहन शर्मा, बिहार राष्ट्रभापा परिपद् १९५७ ई०
१०२. 'हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य' (द्वितीय सस्करण)' डॉ० ओम्प्रकाश, भारती साहित्य मदिर, दिल्ली, १९६५ ई०
१०३. 'हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' कामताप्रसाद जैन, प्रथम सस्करण
१०४. 'नयी कविता का स्वरूप-विकास' श्री श्याम सुन्दर घोप, हिन्दी साहित्य ससार, १९६५ ई०
१०५. 'नयी कविता-सीमा और सम्भावनाएँ' श्री गिरिजा कुमार माथुर, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, १९६६ ई०

अंग्रेजी—

१ 'ए लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ पर्सिया' (दूसरा-तीसरा भाग), प्रो० एडवर्ड जी० ब्राउने, ई० कैम्ब्रिज, १९५१ ई०
२. 'अस्य वामस्य हिम्' (रिडिल ऑफ दि यूनिवर्स, ऋग्वेद १-१६४), मद्रास, १९५६ ई०
३. 'ए सिक्सटीन सैन्चुरी इण्डियन मिस्टिक' प्रो० डब्ल्यू० जी० और ल्यूटर वर्थ प्रेस, लन्दन, १९४७ ई०
४. 'बुद्धिज्म' कर्नल युनिवर्सिटी लेक्चर्स
५. 'गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज' प्रो० डब्ल्यू ब्रिग्स
६. 'कबीर एण्ड दि कबीर पन्थ' -प्रो० जी० एच० वेस्टकोट (द्वितीय संस्करण), सन् १९५३ ई०
७. 'महायान बुद्धिज्म' प्रो० विट्राइस लेन सुजकी, लन्दन, १९५९ ई०
८. 'माइनर उपनिपद्स' अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, १९५६ ई०
९. 'मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र' प्रो० आर० डी० रानाडे
१०. 'ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स' डॉ० एम० दास गुप्त, कलकत्ता, १९६२ ई०
११ 'पाथ वे टु गॉड इन हिन्दी लिटरेचर' प्रो० आर० डी० रानाडे, भारतीय विद्या-भवन, बम्बई, १९५९ ई०
१२. 'सिम्बोलिज्म इट्स मीनिंग एण्ड इफैक्ट' ए० डब्ल्यू० ह्वाइट हैड, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, १९२८ ई०

१३. 'तन्त्राज-देग्रर फिलोसफी एण्ड ओकल्ट सीक्रेट्स' प्रो० डी० एन० वोस (तीसरा संस्करण), १९५६ ई०
१४. 'दि कन्सेप्शन ऑफ बुद्धिस्टिक निर्वान' -प्रो० चरवेट्की, १९२७ ई०
१५ 'दि रिलेशन ऑफ दि बुद्धा एण्ड इट्स रिलेशन टु उपनिषदिक थोट' श्री बहादुरमल, प्रथम सस्करण

कोश-ग्रन्थ तथा पत्रिकाएँ—

१. 'इगलिश सस्कृत डिक्शनरी' (तीन भाग) वी० एस० आप्टे, सन् १९५७-५९ ई०
२. 'उपनिषद् कोश' वी० ए० जाकोव, मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९६३ ई०
३. 'उपनिषद् वाक्यकोश' गजा नन शम्भु साधले, गुजरात प्रिंटिंग प्रेस, वम्बई सन् १९४१ ई०
४ 'ए प्रैक्टिकल सस्कृत डिक्शनरी' मैक्डोनल, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, सन् १९५४ ई०
५. 'ए सस्कृत इगलिश डिक्शनरी' सपादक मोनियर विलियम्स, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३ ई०
६. 'चैम्बर्स डिक्शनरी' सम्पादक विलियम गेड्डि, लन्दन, सन् १९५९ ई०
७. 'दि कनसाइज ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' सम्पादक एफ०जी० फॉउलर, लन्दन, सन् १९५९ ई०
८. 'दि यूनिवर्सल डिक्शनरी ऑफ इंगलिश' सम्पादक मोनियर विलियम्स, मोतीलाल वनारसीलाल, दिल्ली
९ 'वृहत् अग्रेजी कोश' डॉ० हरदेव बाहरी
१०. 'वृहत् हिन्दी कोश' ज्ञानमण्डल लिमिटेड, स० २००९
११ 'मराठी हिन्दी शब्दसग्रह' सम्पादक श्री गणेश रघुनाथ वैशम्पायन, पूना, सन् १९४९ ई०
१२ 'महाराष्ट्र कोश' (पांचवा भाग), महाराष्ट्र कोश मण्डल, पुणे, सन् १९३६ ई०
१३. 'मानक हिन्दी कोश' (पहला खण्ड), साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
१४ 'वाचस्पत्यम्' (छ भाग), चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सन् १९६२ ई०
१५. 'वैदिककोश' डॉ० सूर्यकान्त, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, सन् १९६३ ई०
१६. 'वैदिक इण्डैक्स' मूल लेखक ए० मैक्डोनल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६२ ई०
१७. 'वेबर्सटर्स न्यू इन्टरनेशनल डिक्सनरी ऑफ इगलिश लैंग्वेज' (वौ० I-II), १९५९ ई०
१८ 'शब्द कोश सत मत बानी' राधास्वामी ट्रस्ट, स्वामी बाग, आगरा,

१६ 'शब्द कल्पद्रुम्' चौम्बा सस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, सन् १९६१ ई०
२०. 'संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी' वी० एस० आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् १९६३ ई०
२१. 'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभः' प्रकाशक रामनारायणलाल, इलाहाबाद, सन् १९५७ ई०
२२. 'संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर' सम्पादक रामचन्द्र वर्मा, नागरीप्रचारणी सभा, काशी, सं० १०१४
२३. 'हलायुध कोश' सम्पादक जयशकर जोशी, सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश, शक स० १८७६
२४. 'हिन्दी शब्द-सागर (तीन खण्ड) सम्पादक आचार्य श्यामसुन्दर दास, सभा, काशी
२५. 'हिन्दी साहित्यकोश' (दो खण्ड) ज्ञानमण्डल लिमिटेड, स० २०२०
२६. 'कल्याण' (पत्रिका) (सन्तवाणी अंक), गीताप्रेस, गोरखपुर, वर्ष २६
२७. 'साहित्य सन्देश' (पत्रिका) साहित्य रत्न भण्डार, आगरा, सन् १९६४ (अप्रैल, मई अंक)



उलटवासी जीवन का वरदान

'अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् ।'

ऋग्वेद, मण्डल ७ । सूक्त ८९ । मंत्र ४

'अपा समुद्राणामुदकाना मध्ये तस्थिवास स्थितवन्तमपि जरितार तवस्तोतार मा तृष्णा पिपासा अविदत आप्तवती लवणोत्कटस्य सामुद्रजलस्यपानानर्हत्वात ।'

—मत्र का सायण-भाष्य

अर्थात् सागर मे रहकर भी मुझे प्यास बनी हुई है ।

'जल कहै मै पियासा मूवा, अन्न कहै मै भूखा ।' —गोरखनाथ

'जल बिच मीन प्यासी । मोहि सुनि सुनि आवै हांसी ।' —कबीरदास

'पानी मे मीन प्यासी, जाहि जानत सन्त उदासी ।' —तुलसी साहब

'सखि इक पैठी जल भीतर रटत पियास हीं पियास हो ।
मुख नहिं पियै चिरूआ नहिं पीयै नैनन पियत हुलास हो ।' —दूलनदास

रोटी नित भूखी तरसै, पानी अब प्यासा तड़पै ।' —शिवदयाल



उलटवाँसी-आचरण

'अवधू जागत नीद न कीजै ।
काल न पाइ कलप नहिं व्यापै, देही जुरा न छीजै ॥
× × ×
बैठि गुफा मैं सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै ।
उलटै धनकि पारधी मार्‌यौ, यहु अचरज कोइ बूझै ॥
अम्बर बरसै धरती भीजै, यहु जाणै सब कोई ।
धरती बरसै अम्बर भीजै, बूझै बिरला कोई ॥
गांवण हारा कदे न गावै, अणबोल्या नित गावै ।
नटवर पेषि पेषनां पेषै, अनहद बैन बजावै ॥
कहणी रहणी निज तत जांणैं, यहु सब अकथ कहाणी ।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसां की बाणी ॥'

—सन्त कबीरदास

'ससै मारिया सिंह कौन यह समझै बोली ।
मात-पिता दोउ जने पूत ने बैठि खटोली ॥
मछली चढ़ी अकाश धरनि करि डारी पोली ।
चाँद सूर पाताल से निकसे पट खोली ॥
चोरन पकड़ा साह, साह ने पहिरी चोली ।
अमृत पी-पी मरे ज़हर की गाँठी खोली ॥
राधास्वामी गाइया यह भेद अमोली ।
संत बिना को बूझि है यह मर्म अतोली ॥'

—सन्त शिवदयाल
(राधास्वामी मत के प्रवर्तक)